

प्राचीन पूर्वोत्तर भारत

प्रभा त्रिपाठी



“मेरी दृष्टि में श्रीमती त्रिपाठी के शोध का दो दृष्टियों से विशेष मूल्य है : पहला—बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास की कुछ शताब्दियों के उत्तरपूर्वी भारत के यथासंभव सर्वांगीण विकास का चित्र प्रस्तुत करना, और दूसरा—इसके लिए विशिष्ट और निश्चय ही सर्वाधिक समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण स्रोतसामग्री **मुत्त-पिटक** को मूलाधार बनाना ।”“यद्यपि लेखिका ने प्रामाणिक अनुवादों का भी सहारा लिया है, जो प्रायः इस प्रकार के शोध के लिए अपरिहार्य और आवश्यक होता है, उसका मूल स्रोतों से व्यापक और घनिष्ट परिचय भी स्पष्ट है । अत्यन्त परिश्रम और सूझ-बूझ से सामग्री का चयन किया गया है ।”“मुझे इस शोध ग्रंथ की जिस विशेषता ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है इसकी सरल, प्रवाहमयी भाषा तथा विषय को संक्षेप में सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने का ढंग ।”

(प्रोफेसर) जगदीशनारायण तिवारी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



“मेरी दृष्टि में श्रीमती त्रिपाठी के शोध का दो दृष्टियों से विशेष मूल्य है : पहला—बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास की कुछ शताब्दियों के उत्तरपूर्वी भारत के यथासंभव सर्वांगीण विकास का चित्र प्रस्तुत करना, और दूसरा—इसके लिए विशिष्ट और निश्चय ही सर्वाधिक समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण स्रोतसामग्री **मुत्त-पिटक** को मूलाधार बनाना।” “यद्यपि लेखिका ने प्रामाणिक अनुवादों का भी सहारा लिया है, जो प्रायः इस प्रकार के शोध के लिए अपरिहार्य और आवश्यक होता है, उसका मूल स्रोतों से व्यापक और घनिष्ट परिचय भी स्पष्ट है। अत्यन्त परिश्रम और सूक्ष्म-बुद्धि से सामग्री का चयन किया गया है।” “मुझे इस शोध ग्रंथ की जिस विशेषता ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है इसकी सरल, प्रवाहमयी भाषा तथा विषय को संक्षेप में सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने का ढंग।”

(प्रोफेसर) जगदीशनारायण तिवारी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



प्राचीन पूर्वोत्तर भारत

[सुत्तपिटक का एक अध्ययन]



डॉ० प्रभा त्रिपाठी, एम्० ए०, पीएच्० डी०



प्रकाशक

साहित्य संस्थान,

लेन नं० ५, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली, की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

प्राचीन पूर्वोत्तर भारत
(सुत्तपिटक का एक अध्ययन)

प्रथम संस्करण : १९८५

© सर्वाधिकार लेखिकाधीन

The publication of the thesis was financially supported by the Indian council of Historical Research and the responsibility for the facts stated, opinions expressed or conclusions reached is entirely that of the author and Indian Council of Historical Research accepts no responsibility for them.

मूल्य : 76 रुपये

वितरक : १. मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी-२२१००१
२. डॉ० प्रभा त्रिपाठी, ४७ ए, लेन नं० ५, रवीन्द्रपुरी,
वाराणसी-२२१००५

मुद्रक : महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

आमुख

प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में दो-चार शब्द आवश्यक हैं। यद्यपि भूमिका वाले अध्याय में इसकी सार्थकता, आवश्यकता अथवा प्रेरणा की विशद चर्चा की गयी है, कुछ शब्दों में यहाँ इतना मात्र कहना उपयुक्त है कि इसे उपस्थित करने के पीछे मेरी एक निश्चित दृष्टि रही है। यह अध्ययन पूर्ण रूप में **सुत्तपिटक** पर आश्रित है और उसके आधार पर मैंने भारतवर्ष के एक विशेष क्षेत्र “पूर्वोत्तर भारत” तक ही अपने को सीमित रखकर एक ऐसा प्रयास किया है, जो कई दृष्टियों से पूर्व के ऐसे प्रयासों से भिन्न है। बौद्ध साहित्य पर आवृत्त अनेक अग्रगण्य पुस्तकें हैं। पूर्वोत्तर भारत पर विशेष रूप से दृष्टि रखते हुए भी कुछ पुस्तकें लिखी गयी हैं। किन्तु, जैसा कि आगे “भूमिका” से स्पष्ट होगा, या तो उनके स्रोत एकांगी हैं, अथवा उनकी विषयवस्तु एकांगी है। इस कृति में इन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है और **सुत्तपिटक** से ज्ञात तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। अतः मुझे आशा है कि कई दृष्टियों से यह रचना पूर्व की अनेक प्रसिद्ध कृतियों से भिन्न होगी।

सुत्तपिटक गौतम बुद्ध के उपदेशों का एक ऐसा संग्रह है, जो अपनी वार्तालाप की शैली, अत्यन्त सामयिक उपमाओं के प्रयोग, सुत्तों की भूमिका में उन अवसरों अथवा स्थानों का निर्देश जहाँ और जब वे उपदिष्ट किये गये थे, तथा पग-पग पर तुलनात्मक और विवेचनात्मक दृष्टिकोण के कारण किसी भी शोधकर्ता के लिए इतना अधिक उपयोगी है कि उसकी तुलना का कोई भी दूसरा प्राचीन साहित्य प्राप्त नहीं होता। जीवन सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक पक्ष के ज्ञान के लिए **सुत्तपिटक** एक अत्यन्त सम्पन्न और बहुमूल्य स्रोत है। पुनः, **सुत्तपिटक** के अधिकांश सूत्र पूर्वोत्तर भारतवर्ष में ही उपदिष्ट हुए थे और यदि उन्हें उस क्षेत्र पर पूरी-पूरी तरह लागू मान लिया जाय तो भी कुछ अत्युक्ति अथवा त्रुटि नहीं प्रतीत होती। भूमिका वाले अध्याय में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जहाँ क्षेत्रगत दृष्टि से **सुत्तपिटक** को पूर्वोत्तर भारत का प्रतिनिधि साहित्य स्वीकार किया जा सकता है, वहीं कालगत दृष्टि से उससे प्राप्त चित्र को छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से प्रारम्भ कर तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक का स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार इस शोध ग्रन्थ में **सुत्तपिटक** को एक क्षेत्र और एक काल की सीमा में भी बाँधने का प्रयत्न किया गया है।

उपर्युक्त युग गौतम बुद्ध और अन्य श्रमण परिव्राजकों के सुधारवादी आन्दोलनों का ही नहीं, अपितु बौद्धिक, धार्मिक, राजनैतिक और औद्योगिक क्षेत्रों में एक महान् संक्रमण, विकास और समय-विभाजन का युग था। इस महत्त्वपूर्ण युग की जानकारी की दृष्टि से भी **मुत्तपिटक** का अध्ययन मुझे अत्यन्त समीचीन प्रतीत हुआ। संबद्ध युग की इन विशेषताओं का चित्रण भूमिका वाले अध्याय में उपस्थित है।

उपस्थित कृति को प्रस्तुत रूप दे पाने में लेखिका अपनी सम्पूर्ण अकिंचनता के साथ उन सदाशयी व्यक्तित्वों की ऋणी है, जिनसे उसे यत्किंचित् निर्देश, सहयोग और प्रेरणाएँ मिलती रही हैं।

जिन पूर्वसूरियों की कृतियों का मैंने उपयोग किया है, सबका निर्देश पुस्तक के मुख्य भाग अथवा पादटिप्पणियों में किया गया है। उन सबकी पुस्तकों द्वारा जो मार्गदर्शन हुआ है, उस हेतु मैं सबके प्रति अपने को ऋणी मानती हूँ। अपने गुरु प्रोफेसर जगदीश नारायण तिवारी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मैं सर्वाधिक ऋणी हूँ, जिन्होंने सहर्ष मुझे अपनी शोधछात्रा के रूप में स्वीकार किया और इस कृति को प्रस्तुत रूप देने में हर संभव सहायता की। गुरुवर प्रोफेसर कृष्णकांत सिनहा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और अपने पूज्य पिता प्रोफेसर वि० पाठक का भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हूँ, जिनकी प्रेरणा और उत्साहवर्धन से ही यह कृति पूरी हो सकी।

श्री सुरेशचन्द्र घिल्लियाल, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग की भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने अत्यन्त विश्वास के साथ कुछ अनुपलब्ध पुस्तकें, और पत्रिकाएँ ढूँढ-ढूँढ कर मुझे शोधार्थ प्रदान कीं। मैं अपनी पूज्या माता और छोटी बहिन शुभा को भी नहीं भुला सकती, जिन्होंने शोध करते समय घर-गृहस्थी के कार्यों से केवल मुझे पुरी मुक्ति ही नहीं दी, अपितु मेरे त्रिवर्षीय-चतुर्वर्षीय पुत्र अनुराग को भी पूरी तरह संभाले रखा और इस प्रकार मुझे अपने कार्य के लिये पुरी छूट और फुरसत दी। मेरे पितृशिष्य, डॉ० सुशीलकुमार शुक्ल, प्रवक्ता, आचार्य नरेन्द्रदेव महाविद्यालय, बभनान, गोण्डा, ने बौद्ध साहित्य के अनेक मूल ग्रन्थों को शोध के समय मुझे देकर बड़ा उपकृत किया। तदर्थ उन्हें भी मैं हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। अमेरिकन् इन्स्टीट्यूट लाइब्रेरी, रामनगर के सभी अधिकारियों को भी मैं धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने वहाँ अध्ययन की मुझे सभी सुविधाएँ प्रदान कीं।

प्रस्तुत कृति मूलतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पीएच्० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत की गयी थी। इसे प्रकाशित करने की विश्वविद्यालय ने अनुमति दी, इस

आमुख

५

हेतु मैं पूर्ण आभार प्रकट करती हूँ। श्री राजकुमार जैन, मुख्य प्रबन्धक, महावीर प्रेस, वाराणसी, को मैं विशेष रूप से धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त त्वरा के साथ, लगभग दो महीनों की अल्पावधि मात्र में, इस पुस्तक का मुद्रण सम्पन्न करके मुझे बड़ा उपकृत किया। अन्त में, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नयी दिल्ली, के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करती हूँ जिससे मुझे इस कृति के प्रकाशन हेतु दस हजार रुपये की धनराशि अनुदान रूप में प्राप्त हुई। मैं उस संस्था के सभी सम्बद्ध अधिकारियों की कृतज्ञ हूँ।

गंगादशहरा—वि० स० २०४२

प्रभा त्रिपाठी

४७ ए०, रवीन्द्रपुरी

वाराणसी-२२१००५

संकेत चिह्न

अ० नि०	: अंगुत्तरनिकाय
आसरि० अथवा आ० स० रि०	: आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया रिपोर्ट
इहिक्वा०	: इण्डियन् हिस्टॉरिकल् क्वार्टर्ली
ऐंशियेण्ट् ज्याग्रफी	: ऐंशियेण्ट् ज्याग्रफी ऑफ् इण्डिया, अलेक्जैण्डर कनिंघम्
कैम्ब्रिज हिस्ट्री	: कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जि० १, सं० इ० जे० रैप्सन्
गोरखपुर जनपद	: गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, राजबली पाण्डेय
ज्याग्रफिकल डिक्शनरी	: दि ज्याग्रफिकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐंशियेण्ट् ऐण्ड मेडिवल् इण्डिया, नन्दलाल डे
डिपापाने०	: डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर मैम्स्, जी० पी० मलालशेखर
दी० नि० अथवा दी० निकाय	: दीघनिकाय
दे०	: देखिए
पाटोसो०	: पालि टेक्स्ट् सोसायटी, लन्दन
पोहिऐइ०	: पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् ऐंशियेण्ट् इण्डिया, हेमचन्द्र रायचौधरी
म० नि०	: मज्झिमनिकाय
सं०	: संख्या अथवा संख्याएँ
सं० नि०	: संयुत्तनिकाय
सै० बु० बु०	: सैक्रेड बुक्स ऑफ् दि बुद्धिष्ट्स्
हिस्टॉरिकल् ज्याग्रफी	: हिस्टॉरिकल् ज्याग्रफी ऑफ् ऐंशियेण्ट् इण्डिया, वि० च० लाहा
वाटस्	: ऑन् युवान् च्वाङ्ग्'स् ट्रैव्हिल्स् इन् इण्डिया, टामस् वाटस्

विषय-सूची

पृष्ठ संख्याएँ

आमुख

संकेत चिह्न

प्रथम अध्याय : भूमिका

१-११

क्षेत्रीय सम्बद्धता; कालगत सम्बद्धता; विवेच्य युग का महत्त्व; पूर्वशोधों का मूल्यांकन और उपयोग; प्रस्तुत कृति की सार्थकता

द्वितीय अध्याय : भौगोलिक स्थिति (क)

२२-४७

जलवायु; निवासी; नदी-नद; जलाशय; वन एवं पर्वत

तृतीय अध्याय : भौगोलिक स्थिति (ख)

४८-९५

महाजनपद-जनपद; महानगर-नगर एवं ग्राम-निगम

चतुर्थ अध्याय : राजतंत्रात्मक राज्य और उनकी शासन प्रणाली

९६-१२८

कोसल; काशी; मगध; वत्स; राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली

पंचम अध्याय : गणतंत्रात्मक राज्य और उनकी शासन प्रणाली

१२९-१६१

शाक्य; शाक्य गणतंत्र की शासनप्रणाली; कुसिनारा और पावा के मल्ल; रामग्राम के कोलिय; पिप्पलिवन के मोरिय; बुलिय; कालाम और भर्य; विदेह और लिच्छवि; गणतंत्रों की केन्द्रीय सभाओं की कार्य-पद्धति

षष्ठ अध्याय : सामाजिक संगठन

१६२-१८५

परम्परागत सामाजिक विभाजन; ब्राह्मणवर्ण की सामाजिक स्थिति; क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति; ब्राह्मण-क्षत्रियों के आपसी सम्बन्ध; वैश्यों की सामाजिक स्थिति; शूद्रों की सामाजिक स्थिति; चण्डाल, पुक्कुस, निषाद और अन्य हीन जातियाँ; स्त्रियों की दशा

सप्तम अध्याय : सामाजिक संस्थाएँ

१८६-२१४

विवाह एवं पारिवारिक जीवन; दासता और दासों की स्थिति; गणिकाएँ; शव विसर्जन; शिक्षा व्यवस्था; नारी शिक्षा और बुद्ध के विचार

अष्टम अध्याय : खानपान, वस्त्राभूषण और सामान्य प्रयोग की वस्तुएँ २१४-२३९
 खानपान; भोजन संबंधी शिष्टाचार; वस्त्राभूषण; काशी के वस्त्र; अलंकार; प्रसाधन; आमोद-प्रमोद

नवम अध्याय : धार्मिक स्थिति २४०-२७०
 गौतम बुद्ध; गौतम बुद्ध के उपदेश; निगण्ठ वातपुत्त (महा-वीर); मक्खलिपुत्त गोसाल; पूरणकस्सप; पकुध कच्चायन; अजित केसकम्बली; संजय वेलट्ठिपुत्त; अन्तरसम्प्रदाय सम्बन्ध; ब्राह्मणधर्म; लोकधर्म

दशम अध्याय : आर्थिक जीवन २७१-३१४
 जीविका के साधन; कृषि; भूस्वामित्व; बागवानी; पशुपालन; आखेट; जीविका के अन्य (विविध) साधन; कुछ प्रमुख उद्योग-खान उद्योग; बहुमूल्य धातुएँ और अलंकार निर्माण उद्योग; मृद्भाण्ड उद्योग और अन्य (विविध) उद्योग; प्रमुख पथ और आवागमन के केन्द्रस्थान; व्यापार; व्यापारिक संगठन; व्यापारिक यातायात; विनियम के माध्यम

ग्रन्थ-सूची ३१४-३२५

नामानुक्रमणिका ३२६ और आगे

चित्र-सूची

१. तपस्यारत बुद्ध; सहसा नेरंजरा में बाढ़; बुद्ध को बचाने हेतु कश्यप बन्धुओं का नाव लेकर जाना; बुद्ध पानी पर चलते हुए (प्रतीक) : आवरण (सांची स्तूप सं० १ के पूर्वी तोरण से)
२. ६०० ई० पू० के पूर्वोत्तर भारत के महाजनपद-जनपद; नदियाँ, नगर-निगम ४९ के सामने
३. उत्तर भारतीय यात्रा व्यापार पथ (६०० ई० पू०-३०० ई०) ३०२ के सामने

प्रथम अध्याय

भूमिका

‘प्राचीन पूर्वोत्तर भारत’ शीर्षक से प्रस्तुत इस कृति में बौद्ध साहित्य के सुत्तपिटक का एक अध्ययन प्रस्तुत है।

इस सम्बन्ध में दो प्रश्न मौलिक महत्त्व के हैं। प्रथम तो यह कि पूर्वोत्तर भारत से क्या तात्पर्य है? दूसरे, सुत्तपिटक से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर प्रस्तुत विवरण भारतवर्ष के इतिहास के किस काल पर लागू माना जायगा? इस प्रकार काल और क्षेत्र की दृष्टि से यहाँ पर अनेक प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक होगा। साथ ही यह विवेचन भी आवश्यक है कि बौद्ध साहित्य, विशेषतः सुत्तपिटक, के आधार पर अब तक किस प्रकार के शोध कार्य किये गये हैं और उनकी तुलना में प्रस्तुत अध्ययन कहाँ तक भिन्न अथवा आवश्यक होगा। आगे इनसे संबद्ध सभी विषयों पर भूमिका के रूप में विचार किया जायगा।

सर्वप्रथम हमें अपने विषय ‘प्राचीन पूर्वोत्तर भारत’ पर क्षेत्र की दृष्टि से विचार करना है। सुत्तपिटक पालि त्रिपिटक का कई दृष्टियों से कदाचित् सर्वाधिक मुख्य भाग है। पालि भाषा में लिखे गये बुद्ध वचनों का यह ऐसा संग्रह है, जिसमें धर्मोपदेश के साथ प्रसंगवशात् बुद्ध के जीवन से संबद्ध घटनाओं, तत्कालीन राजतंत्रों और गणतंत्रों की चर्चाओं, धर्म और प्रत्येक प्रकार की नीति के सिद्धान्तों, समाज और राजनीति के विवरणों तथा धार्मिक और भौतिक जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलुओं के चित्र प्राप्त होते हैं। प्रश्न यह है कि ये चित्र भारतवर्ष के किस क्षेत्र पर लागू होते हैं। मोटे तौर पर यह क्षेत्र आधुनिक मध्य उत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश और सारे बिहार प्रांत पर फैला हुआ स्वीकार किया जाना चाहिए। गौतम बुद्ध ने पश्चिम में मथुरा के समीप के क्षेत्र से लेकर पूर्व में वैशाली, राजगृह एवं चम्पा के बीच घूमते हुए अपने उपदेशों का लाभ लोगों को दिया था। मूल बौद्ध धर्म के प्रचार का क्षेत्र प्रायः उपर्युक्त सीमा में ही सीमित था।^१ अशोक के समय तक बौद्ध धर्म के विस्तार का क्षेत्र

-
१. बौद्ध धर्म के उत्पत्ति-क्षेत्र और उसके प्रारम्भिक विकास की भौगोलिक सीमाओं के सम्बन्ध में विस्तार से देखिए—वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म; भरत सिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल; ई० जे० थॉमस, दि लाइफ् ऑफ बुद्ध, पृ० १३-१५। दि हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थॉट, पृ० ३-६ भी द्रष्टव्य है।

बहुत अधिक बढ़ गया था। किन्तु, जैसा कि हम आगे **सुत्तपिटक** के प्राचीनतम अंशों की रचना-तिथि के संबंध में देखेंगे, मूल बौद्ध उपदेशों का काल और क्षेत्र सीमित था और उसे कालगत दृष्टि से पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व से लेकर तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य ही सीमित मान सकते हैं। इसी प्रकार क्षेत्रगत दृष्टि से हम उसे मध्य उत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश और बिहार के क्षेत्रों से अधिक विस्तृत नहीं स्वीकार कर सकते। बुद्ध के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं से सम्बद्ध सभी स्थान—जन्म स्थान—कपिलवस्तु—लुम्बिनी; बोधि प्राप्ति स्थान—बोध गया; धर्मचक्रप्रवर्तन स्थान—इसिपत्तन (वर्तमान सारनाथ = वाराणसी) और परिनिर्वाण स्थान—कुसिनारा इसी सीमा के भीतर पड़ते हैं। **दीघ**, **मज्झिम** आदि निकायों के सूत्रों की भूमिकाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने अपने अधिकांश उपदेश काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, शाक्य और वत्स जैसे प्रमुख क्षेत्रों के विभिन्न स्थानों पर ही दिये थे।^१

बौद्ध परम्परा में उन सभी स्थानों के नाम सुरक्षित हैं जहाँ बुद्ध ने अपने उपदेशक जीवन की विभिन्न वर्षायें बितायीं थीं।^२ यद्यपि यह सूची कल्पनाओं से मुक्त नहीं है, जैसा कि सातवीं वर्षा के त्रायत्रिंश स्वर्ग में बिताने के उल्लेख से स्पष्ट है, फिर भी इसमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री है।^३ इस सूचना के अनुसार बुद्ध ने प्रायः कोसल की राजधानी श्रावस्ती, मगध की राजधानी राजगृह, लिच्छवि राजधानी वैशाली, शाक्य राजधानी कपिलवस्तु अथवा पावा और कुसिनारा जैसे स्थानों पर ही वर्षा ऋतुएँ बितायीं और उनका सर्वाधिक वर्षावास श्रावस्ती में ही हुआ। सामान्य रूप से यह सूची भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि मूल **सुत्तपिटक** के उपदेशों का क्षेत्र मज्झिम जनपद या मध्यदेश था। बुडवर्ड् महोदय^४ ने गणना की है कि प्रथम चार निकायों के सभी सुत्तों में कम से

१. देखिए, ई० जे० थॉमस, दि लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० १३; राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या।
२. बुद्धघोष, मनोरथपूरणी। इस सम्बन्ध में देखिए, आनन्द कौसल्यायन का लेख, पी० बी० बापट (सं०) ट्रेवेंटीफाइव हन्ड्रेड् इयस् ऑफ् बुद्धिज्म् (दिल्ली १९७०), पृ० १९०।
३. देखिए, थॉमस, दि हिस्ट्री ऑफ् बुद्धिस्ट थॉट, पृ० १४०-४२; गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ५५।
४. किण्डेड सेइंस्, जिल्द ५, पृ० अठारहवाँ, मूमिका, उद्धृत नरेन्द्र वागले, सोसाइटी ऐट दि टाइम ऑफ दि बुद्ध, पृ० १६९, अध्याय २ की पाद-टिप्पणी, १९८।

कम आठ सौ एकहत्तर सुत्तों का उपदेश भगवान् बुद्ध द्वारा श्रावस्ती में ही हुआ था। इनमें से आठ सौ चौवालिस तो केवल जेतवन विहार में उपदिष्ट हुए थे। श्रावस्ती में उपदेश किये जाने वाले छह दीधनिकाय के, पचहत्तर मज्झिम निकाय के, सात सौ छत्तीस संयुक्त निकाय के और चौवन सुत्त अंगुत्तर निकाय के बताये गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् बुद्ध और उनके उपदेशों के संग्रह त्रिपिटक का कोसलमहाजनपद के क्षेत्रों से ही अधिक परिचय था और उसकी अपेक्षा मगध, अंग, वज्जि अथवा मल्ल क्षेत्रों से उनका परिचय कम ही था। वत्सराज उदयन और अवन्तिराज प्रद्योत^१ का उल्लेख केवल दो बार ही हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर भगवान् बुद्ध के उपदेशों का क्षेत्र काफी सीमित प्रतीत होता है। इससे श्रीमती रीज्डेविड्स ने यह अनुमान लगाया है कि या तो बुद्ध अधिकांशतः श्रावस्ती में ही निवास करते थे अथवा उनके उपदेशों के संग्रह और उनकी रक्षा का अत्यन्त प्रामाणिक केन्द्र श्रावस्ती ही था।^२

विनयपिटक के महावग्ग^३ में मज्झिम जनपद या मध्यदेश की सीमा पूर्व दिशा में कजंगल, दक्षिण में सेत्तकणिक, पश्चिम में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम एवं उत्तर में उसीरध्वज तक बतायी गयी है। दुर्भाग्यवश इन सभी स्थानों की आजकल ठीक ठीक पहचान नहीं की जा सकती। परन्तु मोटे तौर पर बुद्ध के चारिका-क्षेत्र और उनके वर्षावास स्थानों से इसकी सामान्य संगति लगती है।^४

अंगुत्तर निकाय^५ में आने वाली सोलह महाजनपदों की सूची में वंग का भी

१. इस संबन्ध में देखिए, वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, अध्याय २ की पादटिप्पणी संख्यायें १९८-२०२, पृ० १६९।
२. देखिए, वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, अध्याय २ की पादटिप्पणी ११८. पृ० १५९।
३. महावग्ग, ५।१३।३९।
४. मज्झिम जनपद की सीमाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए विशेष रूप से देखिए, नरेन्द्र वागले, सोसाइटी ऐट दि टाइम् ऑफ दि बुद्ध, पृ० ३८ और उसकी पादटिप्पणी संख्या १८६; राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० १; पादटिप्पणी २-६, तथा पृ० ३७१ पादटिप्पणी ३-६ तथा विमला चरण लाहा, ज्याग्रफी ऑफ अली बुद्धिज्म, नवीन संस्करण, पृ० २ की पादटिप्पणी संख्यायें १, २, ३; भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ९८-११२।
५. अङ्गानं मगधानं कासीनं कोसलानं वज्जीनं मल्लानं चेतीनं वङ्गानं कुशनं पञ्चालानं मच्छानं सूरसेनानं अस्सकानं अवन्तीनं गान्धारानं कम्बोजानं। अंगुत्तरनिकाय, पालि प्रकाशन, नालंदा, १९६०, भाग ३, पृ० ३४९-३५०।

उल्लेख मिलता है। वंग निश्चय ही पूर्वी भारत में था। किन्तु **सुत्तपिटक** के किसी भी अन्य विवरण में इसका उल्लेख नहीं आता। इस दृष्टि से हमारे विषय का क्षेत्र पूर्वोत्तर भारत में बिहार, विशेषतः अंग, तक सीमित रह जाता है। पश्चिम और उत्तर के कुरु पञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, गांधार, कम्बोज और मद्र आदि क्षेत्र भी विचारणीय “पूर्वोत्तर भारत” की परिधि से बाहर पड़ते थे। इसी प्रकार दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में चेदि, अवन्ति और अश्मक भी इस सीमा के बाहर थे। वस्तुस्थिति यह है कि अंगुत्तर में उल्लिखित सोलह महाजनपद, जिन्हें आधुनिक इतिहासकार बुद्ध और महावीर के युग के ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं, न तो बुद्ध के सामान्य चारिका-क्षेत्र थे और न ही **सुत्तपिटक** के उपदेशों की सामान्य भौगोलिक पृष्ठभूमि।^१ इस पुस्तक में **सुत्तपिटक** से ज्ञात जीवन, संस्कृति और राजनीति की जो भी चर्चाएँ होंगी, वे उपर्युक्त सीमित क्षेत्र से ही सम्बद्ध मानी जायँगी।

कालगत संबद्धता

विषय का क्षेत्रगत आयत्त देख लेने के बाद इसकी कालगत सीमाओं का विवेचन भी अपेक्षित है। इस सम्बंध में **सुत्तपिटक** की रचना-तिथि का प्रश्न सामने उपस्थित होता है। बौद्ध साहित्य का अध्ययन जब से प्रारम्भ हुआ तब से आज तक यह प्रश्न विद्वानों को आंदोलित करता रहा है। मोटे रूप में पालि साहित्य के सम्पूर्ण विकास से इसका सम्बन्ध है। किन्तु यहाँ हमारे लिए इसका वृहत् विवेचन न तो उतना समीचीन है और न तो उतना आवश्यक ही, जितना ऐसे व्यक्ति अथवा शोधकर्ता के लिए जो **पालि त्रिपिटक** अथवा उसके किसी विशेष **पिटक** के विभिन्न सुत्तों की रचना तिथि मात्र को अपने अध्ययन का विषय बना ले। हम एक मोटे रूप मात्र में **सुत्तपिटक** के विकास अथवा उसके प्राचीनतम अंशों के काल-निर्णय तक अपने को सीमित रखेंगे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्धवचनों का संग्रह **त्रिपिटक** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। **सुत्तपिटक** उसी का एक भाग है। किन्तु **पिटक** शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में नहीं मिलता।^२ प्रारम्भ में इसे धम्म-

१. विनयपिटक की भौगोलिक पृष्ठभूमि भी उपर्युक्त की ही भाँति सीमित है। ये अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र हैं और कोसल, काशी, वत्स, मगध और अंग जैसे राजतंत्रों एवं मल्ल तथा वज्जि जैसे गणतन्त्रों तक ही सीमित हैं। देखिए, थॉमस्, दि लाइफ् आफ् बुद्ध, पृ० १३; और इन्हीं का हिस्ट्री ऑफ् बुद्धिष्ट थॉट, पृ० ५-६।

२. सुकुमार दत्त, दि बुद्ध ऐण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज़, पृ० ९२-९५; राहुल सांस्कृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० २७ पर उद्धृत महावग्ग। पादटिप्पणी १

विनय^१ कहा जाता था। मूलतः धम्मविनय का अर्थ धर्मोपदेश था। यौगिक रूप में इसके प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि धम्म से तात्पर्य था धार्मिक सिद्धान्तों का और विनय से आध्यात्मिक जीवन अथवा भिक्षु सम्बन्धी आचार-विचार, नियम आदि का, क्योंकि बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ महीनों पश्चात् ही आयोजित पहली संगीति में, जिसका पुनः नीचे उल्लेख किया जायगा, केवल धम्म और विनय के संग्रह का उल्लेख मिलता है। अतः अभिधम्मपिटक को प्रायः उत्तरकालीन रचना मानते हैं और उसकी विषयवस्तु के अध्ययन तथा त्रिपिटक के एकाधिक संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से भी इस धारणा की पुष्टि^२ होती है। इस दृष्टि से त्रिपिटक का प्रारम्भिक भाग बुद्ध के मूल उपदेशों से संबन्ध रखने वाले सुत्तपिटक तथा भिक्षुनियमों के संग्रह विनयपिटक तक ही सीमित था। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के भरहुत और सांची से प्राप्त होने वाले कुछ अभिलेखों में पेटकि और पचेनकायिक शब्द मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता^३ है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक पिटक और सुत्तपिटक के पाँच निकाय अपना स्वरूप धारण कर चुके थे। ये पाँच निकाय हैं—दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक।

बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके उपदेशों के संग्रह और उनकी शुद्धता की सुरक्षा के लिए तथा उस सम्बन्ध में उठे हुए विवादों को दूर करने के लिए समय-समय पर संगीतियों या धार्मिक सभाओं का आयोजन हुआ। इन्हीं संगीतियों में विनय अर्थात् बुद्ध के अनुशासनों के संगायन के साथ उनके धार्मिक उपदेशों अर्थात् सुत्तों का भी संग्रह किया गया।^४ बुद्ध के निर्वाण के तीन से पाँच महीनों के भीतर ही आचार्य कश्यप के सभापतित्व में राजगृह में प्रथम संगीति आयोजित हुई; द्वितीय संगीति कालाशोक के समय में लगभग एक सौ वर्ष बाद वैशाली में तथा तृतीय संगीति अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई। पहले अनेक आधुनिक विद्वानों को इन संगीतियों की ऐतिहासिकता पर ही

१. प्रथम संगीति के विवरण के लिए देखिए, विनयपिटक, चुल्लवग्ग १०; ई० जे० थॉमस, दि हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिष्ट थॉट, पृ० २७ और आगे; गोविन्द-चंद्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० १५५-१५९।

२. देखिए, गो० च०, पाण्डेय, स्टडीज़ इन् दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० २।

३. वही, पृ० १५।

४. विण्टरनिट्ज़, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् लिटरेचर, जिल्द २, पृ० १ और आगे; भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २ और ३।

संदेह था।^१ किन्तु अब प्रायः इन संगीतियों की ऐतिहासिकता सभी द्वारा स्वीकार की जाती है।

राजगृह की प्रथम संगीति में बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह हुआ था और विनयपिटक के चुल्लवग्ग के अन्त में इसका प्राचीन विवरण प्राप्त होता है। किन्तु अनुमान है कि यह सारा संगायन और संग्रह प्रायः बुद्धविनय के मुख्य नियमों और सुत्तपिटक के महत्त्वपूर्ण सूत्रों तक ही सीमित था। इस साहित्य का वास्तविक स्वरूप अथवा आकार क्या था, कहना कठिन है। परन्तु स्पष्ट ही इसी केन्द्रबिन्दु के आधार पर त्रिपिटक का विकास हुआ।^२

गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्षों बाद (श्वान्-च्वाग् के अनुसार ११० वर्षों बाद) वैशाली में बौद्धों की दूसरी संगीति हुई। यद्यपि इसका मुख्य कार्य कुछ विवादों को सुलझाना था, कुछ स्रोतों के अनुसार इस अवसर पर भी धर्म-संग्रह हुआ। इस संगीति का भी प्राचीन विवरण चुल्लवग्ग में प्रथम संगीति की चर्चा के बाद जुड़ा हुआ है। इन संगीतियों के बुलाये जाने का प्रमुख कारण यह था कि भिक्षुओं के विनय सम्बन्धी आचरण एक दूसरे से भिन्न होने लगे थे और उनके बीच साम्प्रदायिक भेद उत्पन्न हो रहे थे।^३ इन मतभेदों को दूर करने के लिए बुद्धवचनों के किसी प्रामाणिक संग्रह को ही आधार मानने की आवश्यकता समझी गयी। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि उसके पहले वह साहित्य लिखा ही जा चुका था। सम्भवतः उसका आधार बुद्ध द्वारा उपदिष्ट

१. ओल्डेन्बर्ग ने प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता पर संदेह किया था। मिनयेफ् इस सम्बन्ध में सभा की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए भी यह नहीं स्वीकार करते हैं कि बुद्धवचनों का संग्रह सभा की कार्यवाही का अंग था। देखिए, वि० च० लाहा (सम्पादित) बुद्धिष्टिक् स्टडीज़, पृ० ४३। विण्टर-निट्ज़ (हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिटरेचर, भाग २, पृ० ४ और गायगर, पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ९, पदसंकेत ३) भी इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं। विभिन्न मतों के लिए देखिए, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० ९ और आगे।

२. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९०।

३. संघ और सम्प्रदाय भेद के इतिहास के लिए देखिए, ई० जे० थॉमस्, दि हिस्ट्री ऑफ् दि बुद्धिष्ट थाट, पृ० २८८; २० च० मज्जुमदार (सं०), दि एज ऑफ् इम्पीरियल यूनिटी, पृ० १७८ और आगे; गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १७३ और आगे; ए० के० वार्डर, इण्डियन् बुद्धिज्म, पृ० २८८ और आगे।

भूमिका

७

और भिक्षुओं द्वारा स्मरण की गयी हुई बौद्धिक परम्परा ही थी। किन्तु इस स्मरण-परम्परा के कारण भिक्षुओं में प्रायः दो दल हो गये थे। एक दल के केन्द्र उत्तर भारत में संकाश्य, सोरेय्य, अवन्ति, कोशाम्बी और साकेत आदि के क्षेत्र थे और दूसरे दल का मुख्य केन्द्र वैशाली था, जिसमें पूर्वी भारत के अधिकांश बौद्ध केन्द्रों के भिक्षु सम्मिलित थे।^१ वैशाली की संगीति की ऐतिहासिकता विद्वानों को पहली संगीति की अपेक्षा किञ्चित् अधिक ही मान्य हुई है। प्रायः सभी बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। आचार्य बुद्धघोष का कथन है कि इसमें धम्म अर्थात् बुद्ध-वचनों का संग्रह किया गया। उनके अनुसार सुत्तपिटक के पाँचों निकायों का अनुसंगायन इसी सभा में हुआ था।^२

सम्पूर्ण बौद्ध परम्परा पहली और दूसरी संगीति के प्रयोजन के सम्बन्ध में एकमत है। परन्तु सम्राट् अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई तीसरी संगीति के विषय में यह स्थिति नहीं है। उल्लेखनीय है कि चुल्लवग्ग में भी केवल पहली दो संगीतियों के ही विवरण हैं। तीसरी का उल्लेख केवल त्रिपिटक की अट्ठकथाओं तथा सिंहली वंस साहित्य में प्राप्त होता है। फलतः अनेक विद्वान् इसकी भी ऐतिहासिकता पर सन्देह करते हैं।^३ उत्तरी बौद्ध परम्परा में इसका उल्लेख न होना सम्भवतः इस कारण था कि यह बौद्धों के एक वर्ग की ही, अर्थात् थेरवादियों की, सभा थी। यद्यपि अशोक अपने अभिलेखों में इसका उल्लेख नहीं करता, देवदत्तरामकृष्ण भण्डारकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसके अभिलेखों में अप्रत्यक्ष रूप से पाटलिपुत्र में इस सभा के होने का प्रमाण प्राप्त होता है।^४ अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि पाटलिपुत्र की इस संगीति में मोग्गलिपुत्तत्तिस्स के निर्देशन में बुद्ध-वचनों के स्वरूप का निश्चय तथा उनका संगायन और पारायण किया गया। इसी समय मोग्गलिपुत्तत्तिस्स ने मिथ्यावादी बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण

१. कृष्णकान्त त्रिवेदी का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का अध्ययन, पृ० ३-४।
२. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९५।
३. नलिनाक्षदत्त, अर्ली मोनाष्टिक् बुद्धिज्म, भाग २, पृ० २६५-६६; ए०बी० कीथ, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म के पृ० १५, पदसंकेत ५८ पर उद्धृत। इसके अतिरिक्त भी देखिए, मिनयेफ्, कीथ, बार्थ, फ्रैंक, लेवी और मैक्सवेलसर, उद्धृत, भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९५, पदसंकेत २।
४. अशोक, प्रथम संस्करण, पृ० १०२।

किया और कथावस्तु (कथावस्तु) की रचना की। कथावस्तु अभिधम्मपिटक का एक भाग है।

इस सभा के एक महत्वपूर्ण निश्चय के अनुसार उपदेशकों को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों और भारतवर्ष के बाहर भी कुछ देशों में भेजा गया।^१ बौद्ध उपदेशकों का बाहर भेजा जाना अशोक के दूसरे और तेरहवें शिलालेखों से भी ज्ञात होता है।

उपर्युक्त संगीतियों के कार्य और उनमें त्रिपिटक के संगायन और संग्रह का विवेचन करते हुए गोविन्दचन्द्र पाण्डेय^२ ने तीसरी संगीति के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है कि कथावस्तु के कम से कम कुछ भाग अशोक के समय तक अवश्य संगृहीत हो चुके थे। उनके अनुसार कथावस्तु में निकायों के स्पष्ट रूप से बार-बार आने वाले उल्लेखों और विभिन्न साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के विवेचन की दृष्टि से यह निश्चित प्रतीत होता है कि निकायों की रचना कथावस्तु से पहले हो चुकी थी। अतः उनका निर्णय है कि सुत्तपिटक के पाँचों निकायों के अधिकांश भाग अशोक के समय तक अर्थात् तीसरी शती ईसा पूर्व तक निश्चित रूप से अपना स्वरूप प्राप्त कर चुके थे। पीछे हम यह देख चुके हैं कि इस समय के भरहुत और साँची से प्राप्त होने वाले कुछ अभिलेखों में पिटक और पंचनिकायों के उल्लेख प्राप्त^३ होते हैं। अतः यह निश्चित है कि उसके पूर्व पाँचों निकाय पूर्णतया रचित हो चुके थे और उस समय भी उनका रूप प्रायः वैसा ही था जैसा आजकल हमें प्राप्त होता है। पालि साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास लेखक विण्टर-निट्ज^४ ने पालि वंश साहित्य के साक्ष्य पर यह सम्भावना स्वीकार की है कि पहली शती ईसा पूर्व में पालि त्रिपिटक सिंहल अर्थात् लंका में लिपिबद्ध हो चुका था। भरहुत और साँची के स्तूप मौर्य-शुंग युग की समाप्ति के बाद, कदाचित् शुंग युग में, निर्मित हुए थे। इन स्तूपों में बौद्ध जातकों के अनेक चित्र उत्खचित हुए हैं। इनमें एक चित्र जेतवन विहार का अनाथपिण्डिक द्वारा बुद्ध को दिये जाने वाले दान से सम्बद्ध^५ है। जेतवन विहार का दान सुत्तपिटक के मुख्य विव-

१. देखिए रा० कु० मुकर्जी, अशोक।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५-१८।

३. कृष्णकान्त त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २; थॉमस, दि हिस्ट्री ऑफ बुद्धिष्ट थॉट, पृष्ठ २६६, २६८-२६९; गो० च० पाण्डेय, ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ १५।

४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५-१८।

५. वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृष्ठ ३२ के सामने का चित्र।

रणों में से एक है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक जातक कथाओं के तत्कालीन प्रस्तरचित्र इस बात के पक्के प्रमाण हैं कि खुदकनिकाय के अधिकांश भागों की भी ईसा की तीसरी-दूसरी शताब्दी पूर्व तक रचना की जा चुकी थी। यद्यपि एक स्वतंत्र निकाय के रूप में खुदकनिकाय की रचना सुत्तपिटक के अन्य चार निकायों के बाद की मानी जाती है। उसमें बहुत सामग्री ऐसी है, जो पालि साहित्य के सबसे पुराने स्तर की है।^२

सुत्तपिटक के पाँचों निकायों की अपनी-अपनी रचना पद्धतियाँ हैं। जैसा कि दीघनिकाय के नाम से स्पष्ट होता है, बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को दिए गये लम्बे-लम्बे (दीघ = दीर्घ) उपदेशों का संग्रह इसमें सन्निहित है। इसमें कथाओं, उपमाओं, घटनाओं और विविध प्रकार के वर्णनों को, कभी-कभी प्रश्न और उत्तर के माध्यम से, एक विशेष शैली के रूप में ग्रहण किया गया है। मज्झिम निकाय में ऐसे सुत्तों का संग्रह है जो आकार में दीघनिकाय के सूत्रों से अपेक्षाकृत छोटे अर्थात् मझले आकार के हैं। इस निकाय के सूत्रों में बुद्ध के अपने विचारों के अतिरिक्त उनके द्वारा अन्य मतों की समीक्षाएँ भी सम्मिलित हैं। अंगुत्तर निकाय बौद्धधर्म के प्रतिपाद्य विषयों का संख्या-क्रम से नियोजित एक ऐसा संग्रह है, जिसमें एक से लेकर ग्यारह तक वर्ग हैं। संयुत्त निकाय में विषयों के अनुसार उपदेशों का वर्गीकरण है और पूरा निकाय ५४ संयुत्तों में विभाजित है। किन्तु अनेक ऐसे भी बुद्धवचन हो सकते थे, जो उपर्युक्त चार निकायों की अपनी-अपनी विशिष्ट संयोजनाओं और शैलियों में नहीं बंधते थे और जिनका निजी और स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। फलस्वरूप आगे चलकर ऐसे सुत्तों का एक संग्रह खुदक निकाय के रूप में विकसित हुआ। इस संग्रह का स्वरूप किसी विशिष्ट पद्धति पर निश्चित न होने के कारण अस्पष्ट और अनिश्चित था। फलतः बहुत दिनों तक इसका कलेवर और स्वरूप बढ़ता रहा, और इसी कारण इसके विकासक्रम तथा इसकी विषय-वस्तु की प्रामाणिकता के बारे में विवाद भी रहा।^१ खुदक शब्द से प्रतीत होता

२. उदाहरण के लिए एन्० ए० अर्यविक्रम सुत्तनिपात के सम्बन्ध में कहते हैं—
“जनों और जातियों, जनपदों और नगरों, ब्राह्मण और यज्ञों के सम्बन्ध में सुत्तनिपात और गद्यात्मक निकायों में प्रतिबिम्बित सामाजिक अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है।” देखिए, लन्दन विश्वविद्यालय का १९४७ का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध एनेलिसिस् ऑफ सुत्तनिपात, पृ० १०।

१. इस संबंध में देखिए, ई० जे० थॉमस्, दि हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिष्ट थॉट, पृ० २६९-२७३; गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७८; विण्टरनिट्ज, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७९ और आगे; भरतसिंह उपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९६ और आगे।

है कि इसके सुक्तों का आकार छोटा है और उनका विस्तार बहुत नहीं है। तथापि खुदक निकाय अपने आप में एक बहुत बड़ा संग्रह है, जिसमें १५ स्वतन्त्र ग्रंथ हैं। यहाँ हमें सभी १५ ग्रंथों की रचनातिथि अथवा उनके विकास क्रम के विवेचन की आवश्यकता नहीं है। गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने खुदक निकाय के विभिन्न स्थलों के स्तरीकरण के संदर्भ में सुत्तनिपात, उदान और इतिवृत्तक मात्र की ही विशेष चर्चा की है।^२ किन्तु सांस्कृतिक जीवन सम्बन्धी जानकारी अधिकांशतः जातकों से ही प्राप्त होती है। उनकी वर्तमान कथायें बुद्ध के जीवन के विभिन्न भागों से सम्बन्धित हैं और उन अवसरों की ओर निर्देश करती हैं जब बुद्ध ने जातकों की अतीत कथाओं का उपदेश किया था। उन अतीत कथाओं में गाथा वाले भाग अधिक प्राचीन माने जाते हैं। अतः इस कृति में उनका काफी उपयोग किया गया है। सुत्तनिपात में भी सांस्कृतिक जीवन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। किन्तु इतिवृत्तक, उदान और धम्मपद जैसे ग्रन्थ विशेषतः धार्मिक और दार्शनिक चर्चाओं से ही भरे पड़े हैं। थेरगाथा और थेरीगाथा अपेक्षाकृत बाद के हैं। परन्तु समर्थक प्रमाणों के रूप में उनका भी उपयोग हुआ है।

विवेच्य युग का महत्त्व

हम पीछे देख चुके हैं कि सुत्तपिटक के प्राचीनतम भागों की रचना ईसा पूर्व पाँचवीं से लेकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के बीच हो चुकी थी। उनसे ज्ञात पूर्वोत्तर भारत की संस्कृति का क्या महत्त्व है, यह एक विचारणीय विषय है। भारतीय इतिहास में यह ऐसा युग था, जो एक समयविभाजक के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इस समय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे और इनमें से अनेक परिवर्तन हमें आन्दोलन के रूप में दिखायी देते हैं। वैदिक धर्म के विकास के क्रम में जहाँ यह युग उपनिषदों की

१. देखिए पूर्वनिर्दिष्ट अध्याय ३।

२. जातकों के कालनिर्णय के बारे विभिन्न मत हैं। देखिए, विन्टरनिट्ज़, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११३ और आगे; गायगर, पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृ० २१-२२; वि० च० लाहा, हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ० २६९, २७३; भरत सिंह उपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७२ और आगे; रीज्डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, अध्याय ११; फॉसबॉल के जातकों के संस्करण तथा कॉवेल के उनके अनुवाद की भूमिकाएँ; रतिलाल मेहता, प्रो बुद्धिष्ट इण्डिया की भूमिका।

भूमिका

बुद्धिवादी^१ और वेदवादी परम्परा का युग था, वहीं इस युग में यज्ञवाद के विरुद्ध प्रबल प्रतिरोध भी प्रारम्भ हो चुका था^२ और ज्ञान पर विशेष बल दिया जाने लगा था। वैदिक धर्म के यज्ञवाद, देववाद और ब्राह्मणवाद के विरोध की परिणति जैन और बौद्ध धर्मों में दृष्टिगोचर होती है, जिनके नेता क्रमशः वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। बौद्ध साहित्य^३ में अनेक स्थानों पर बौद्ध धर्म के अतिरिक्त छह धार्मिक सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं, जो सभी किसी न किसी मात्रा में मूल वैदिक धारा से भिन्न थे। ये आन्दोलन तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत में एक बहुत बड़ी धार्मिक क्रान्ति और बौद्धिक उथल-पुथल का परिचय देते हैं। इन सबमें बुद्ध और बौद्ध धर्म सर्वप्रमुख थे। अतः तत्सम्बन्धी साहित्य का विवेचन और उसमें वर्णित परिस्थितियों की जानकारी प्राचीन भारतीय इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण युग पर प्रकाश डालने के लिये आवश्यक है।

राजनीतिक क्षेत्र में यह युग प्राचीन भारतवर्ष में गणतंत्रीय शासन प्रणाली की चरमोन्नति का युग था। गौतम बुद्ध और वर्धमान महावीर दोनों ही गणतान्त्रिक परम्परा की उपज थे और उनका सारा जीवन राजनीतिक स्वतन्त्रता, लोकतान्त्रिक पद्धति और स्वतंत्र विचारों का प्रतीक है। गणतान्त्रिक परम्परा के अतिरिक्त राजतान्त्रिक क्षेत्र में भी यह युग एक महान् परिवर्तन का परिचय देता है। उत्तर वैदिक कालीन जनों और जनपदों के सीमित दायरे से बाहर निकलकर बड़े-बड़े राजतन्त्रों की एक ऐसी परम्परा का इस समय सूत्रपात हुआ, जिसे भारतीय साम्राज्यवाद के बीजारोपण और प्ररोहण का काल कहा जा सकता है। बुद्ध और महावीर की सबसे प्रमुख कार्यभूमि कोसल और मगध इस प्रवृत्ति की बीजभूमि थे। इस साम्राज्यवाद की मूलभावना बहुत पहले ही कोसल में उत्पन्न हो चुकी थी।^४ किन्तु मगध की प्राकृतिक स्थिति और कुछ अन्य विशेषताओं ने आगे चलकर उसे साम्राज्यवाद की दौड़ में कोसल को मात देने में सफलता

१. उदाहरणस्वरूप—प्लवा ह्येयेते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥

—मुण्डकोपनिषद्, १.२.७ ।

२. उदाहरणस्वरूप—अविद्ययामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जघन्यमानाः परियान्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—वही, १.२.८ ।

३. सामञ्जस्यफलमुत्त, दीघनिकाय, महाबोधि सोसायटी, हिन्दी अनुवाद, पृ०

१९-२२ ।

४. देखिए वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, अध्याय ४-५ ।

दिलायी। बिम्बिसार और अजातशत्रु मगध के साम्राज्यवाद के अग्रदूत थे। प्रस्तुत कृति के काल का प्रारम्भ जहाँ इस राजनीतिक विकास के प्रारम्भ का युग था, वहीं इसका अन्त इस साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी लक्ष्यपूर्ति का युग सिद्ध हुआ। स्वयं में यह राजनीतिक धारा भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण क्रम थी, जिससे सम्बद्ध इतिहास और संस्कृति का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति ने जहाँ एक ओर छोटे-छोटे राजतंत्रों को आत्मसात् करने में कोई संकोच नहीं किया, वहीं उस समय के गणतंत्र भी उसके बढ़ते पगों के नीचे विलुप्त होते गये। राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में गणतन्त्रीय शासन-पद्धति और चिन्तन बौद्ध साहित्य में दिखायी देता है। किन्तु इस युग के बाद वह गणतांत्रिक चिन्तन कहीं भी बड़े पैमाने पर परिलक्षित नहीं होता। प्रत्युत, उसके पिवरीत राजतान्त्रिक विचारधाराओं का एक समुद्र जैसा परिपाक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिखायी देता है, जिनकी रचना-तिथि प्रस्तुत ग्रन्थ के सांस्कृतिक युग के प्रायः अन्त का काल मानी जा सकती है। सुत्तपिटक में राजनीतिक घटनायें तो प्रायः बुद्ध के समय तक के आसपास की ही वर्णित हैं, किन्तु विचारों अथवा सामाजिक स्थितियों का विवरण प्रायः उस ग्रन्थ के रचना क्रम के सम्पूर्ण युग अर्थात् दो-ढाई सौ वर्षों तक पर लागू माना जा सकता है।

बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों को सर्वत्र ब्राह्मणों से श्रेष्ठ और आगे दिखाने का प्रयत्न दिखायी देता है।^१ यह तथ्य ब्राह्मण-क्षत्रिय जातिसंघर्ष का परिचायक है अथवा नहीं, यह एक विवाद का विषय हो सकता है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि पौरोहित्य और कर्मकाण्ड का विरोध इस युग में केवल परिव्राजक सम्प्रदायों ने ही नहीं, अपितु प्रबुद्ध ब्राह्मणों ने भी किया था। बुद्धिवाद का सर्वाधिक प्रस्फुटन बौद्ध धर्म और उसकी समानान्तर विचारधाराओं में हुआ। इनका मूर्त रूप अन्धविश्वासों के विरोध, वैज्ञानिक विचार शैली की प्रमुखता और कार्यकारण के नियमों के विवेचन के रूप में दिखायी देता है।

विद्वानों के मत में इसी अवधि में भारतीय इतिहास में लौह युग का प्रारम्भ हुआ।^२ उसी के साथ अन्य धातुओं के ज्ञान की भी सूचनायें मिलती हैं। भाषा

१. देखिए, रिचर्डफिक्, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन् नार्थ ईष्ट इण्डिया इन् बुद्ध'ज् टाइम, पृ० ८४; दीघनिकाय, महाबोधि सोसाइटी का हिन्दी अनुवाद, अम्बष्ठसुत्त, पृ० ३९। यहाँ कथित है—“गोत्र लेकर चलने वाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।”

२. इस सम्बन्ध में देखिए—धर्मानन्द कोशाम्बी, दि विगिनिंगस् ऑफ् आयरन् एज इन् इण्डिया, उद्धृत जर्नल ऑफ् दि इकनॉमिक् ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ् दि ओरियण्ट, जिल्द ६, भाग ३, पृ० ३०९-३१८।

भूमिका

शास्त्र, गणित, चिकित्सा, ज्योतिष और व्याकरण आदि वैदिक परम्परा के जो शास्त्र थे, कदाचित् इसी युग में प्रारम्भ हुए। बौद्धों और जैनों की श्रमण संस्कृति ने वैज्ञानिक विवेचन की इस प्रवृत्ति को जोरदार ढंग से आगे बढ़ाया। अनेक विद्वानों^१ की दृष्टि में बुद्धिवाद का यह स्वरूप भारतीय इतिहास में लोकायत धर्मों का प्रारम्भ-युग स्वीकार किया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय ग्रामीण सभ्यता के समानान्तर इस युग में एक नागर सभ्यता का भी प्रारम्भ हुआ। श्रावस्ती, साकेत, अयोध्या, चम्पा, राजगृह, कोशाम्बी और वाराणसी जैसे अनेक नगरों की जो बार-बार चर्चायें **मुत्तपिटक** में आती हैं, वे उनके बढ़ते हुए भौतिक वैभव और समृद्ध नागर संस्कृति की परिचायक हैं। उत्तर-पूर्वी भारत के ये सभी नगर भारतवर्ष की विभिन्न सीमाओं में बसे हुए नगरों, जैसे उत्तर में तक्षशिला, दक्षिण में प्रतिष्ठान, पश्चिम में भृगुकच्छ, पूर्व में ताम्रलिप्ति, और बीच के कान्यकुब्ज, उज्जयिनी, मथुरा और संकाश्य जैसे अन्यान्य स्थानों से राजपथों द्वारा सम्बद्ध थे। नदी और समुद्री व्यापार की चर्चायें जातकों में मिलती हैं तथा छोटे और बड़े सारथ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते थे। इस सम्बन्ध में बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, उनके अपार धन, बौद्ध संघ को दिये जाने वाले उनके प्रभूत दान,^२ आर्थिक विनिमय की आवश्यकता के लिए सिक्कों^३ के प्रचलन के उल्लेख एक विकसित आर्थिक

१. उदाहरण के लिए देखिए—ए० के० वार्डर, ऑन दि रिलेशनशिप् बिटविन् अर्ली बुद्धिज्म ऐण्ड अदर कन्टेम्पोरेरी सिस्टम्स्, बुलेटिन् ऑफ् दि स्कूल ऑफ् ओरियण्टल् ऐण्ड अफ्रिकन् स्टडीज़, सं० १८, भाग १, पृ० ४३ और आगे उद्धृत। इस प्रसिद्ध विद्वान् ने इस युग को बुद्धिवाद के चरम विकास का युग माना है। अन्य मतों के लिए देखिए, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्व-निर्दिष्ट, पृ० ३१५, विशेषतः ४०९।
२. इस सम्बन्ध में दान के कुछ व्यावहारिक पक्षों के उल्लेख और सैद्धान्तिक चर्चा के लिए देखिए, सुशील कुमार शुक्ल, प्राचीन भारत में दान की संकल्पना और व्यवहार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, अध्याय ५, पृ० ९८-१६२।
३. बुद्ध के समय और उसके आगे-पीछे वाले युग में ठपेदार सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु अभी तक इन्हें चलाने वाले व्यक्तियों अथवा इनके चिह्न-लेखों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं हो सकी है। जेतवन विहार के दान के सम्बन्ध में अनाथपिण्डिक द्वारा जेतवन आराम को सोने की मुद्राओं से पाट देने का उल्लेख आता है। विशाखा के पिता ने उसके लिए नौ करोड़

संस्कृति के परिचायक हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि निवृत्तिमार्गी और गृहस्थ समाज से दूर रहने वाले बौद्ध और जैन जैसे परिव्राजक पंथ भी इन धनी वर्गों की सहायता की इच्छा से अपने को मुक्त नहीं कर सके थे। इसका कारण यह था कि संघों की भी अपने भरणपोषण की अनिवार्य आवश्यकताएँ थी। धीरे-धीरे ये दोनों ही वर्ग एक-दूसरे के निकट हो गये। अतः तत्कालीन धनी व्यापारी वर्ग की प्रभूत चर्चाएँ सुत्तपिटक में प्राप्त होती हैं।

सुत्तपिटक को समग्र रूप में देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विचारणीय युग की दृष्टि से उसका अध्ययन अभी पूर्ण रूप में नहीं किया गया है। उसका उपयोग अब तक प्रायः सांस्कृतिक जीवन के वैचारिक अथवा दार्शनिक पक्षों तक ही सीमित रहा है। यद्यपि तत्सम्बन्धी अध्ययन अत्यन्त उच्चस्तरीय हैं, किन्तु शुद्ध भौतिक संस्कृति के साधारण पक्षों अथवा साधारण जीवन से उनका सम्बन्ध बहुत अधिक नहीं रहा है। साथ ही, उनको समय और क्षेत्र की सीमा में बाँधने के भी प्रयत्न बहुत कम हुए हैं।

पालि साहित्य से सम्बद्ध अध्ययनों को समय और विषय की दृष्टि से कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में योरोप में भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन पर जो जोर दिया जाने लगा, वह बहुविध आयामों में प्रस्फुटित हुआ। ब्राह्मण धर्म, विशेषतः वैदिक धर्म, और साहित्य के अध्ययन की धारा के समानान्तर पालि साहित्य और संस्कृत बौद्ध साहित्य का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। मूल स्रोत साहित्य के प्रकाशन और अनुवाद की दृष्टि से पालि टेक्स्ट्सोसाइटी, लन्दन, द्वारा प्रकाशित रोमक अक्षरों में पालि त्रिपिटक; जातकों^१ सहित उस त्रिपिटक के अनेक भागों के इसी

का एक आभूषण बनवाया था। चम्पा का सोण कोटविंश नामक श्रेष्ठिन् २० करोड़ का धनी था और उसके पास अस्सी हजार अश्वियाँ थीं। देखिए, विनयपिटक, महाबोधि सोसाइटी, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९९-२०० तथा ४६१; जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ११९; जातक, हिन्दी अनुवाद जिल्द २, पृ० १७५।

१. इनमें मुख्य प्रकाशन सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईष्ट और सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि हिंदूज सीरीज् (अवलि) के हैं।
२. फॉसबॉल द्वारा सम्पादित जातक छह जिल्दों में (लन्दन १८७७-९६) कॉवेल की देखरेख में विभिन्न विद्वानों द्वारा पाँच जिल्दों में अनुदित हैं और छठी जिल्द में उन पाँचों जिल्दों की नामानुक्रमणिका है। जराएसो०, १८९७, में ताकाकुसु ने चीनी भाषा में प्राप्त विनयपिटक की टीका समन्तपासादिका का अंग्रेजी में अनुवाद किया था।

भूमिका

सोसाइटी द्वारा कराये गये अंग्रेजी अनुवाद; हार्वर्ड ओरियण्टल् सोरीज् (अमेरिका) द्वारा इन सभी पुस्तकों के पुनः प्रकाशन; सारनाथ महाबोधि सभा द्वारा त्रिपिटक के अनेक भागों के हिन्दी अनुवाद; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित जातकों के हिन्दी अनुवाद, नालन्दा पालि शोध संस्थान द्वारा पालि टेक्स्ट् सोसाइटी के प्रकाशनों के आधार पर ही देवनागरी में पालि त्रिपिटक और बौद्ध साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों के प्रकाशन तथा बम्बई विश्वविद्यालय के पालि ग्रन्थों के देवनागरी में प्रकाशन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अनेक फुटकल प्रकाशनों की चर्चा^१ यहाँ अनावश्यक है। ये सभी संस्करण किसी भी शोधकर्ता के लिए ऐसे ज्ञान के समुद्र हैं, जिनमें बिना समाये पालि साहित्य में पड़े हुए ज्ञान के मोती नहीं निकाले जा सकते। प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल तक पहुँचने के लिए इन सभी प्रकाशनों का भरपूर उपयोग किया गया है।

पालि साहित्य के समुचित अर्थज्ञान के लिए महत्वपूर्ण कोषग्रन्थ भी बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। इनमें सर्वोपरि है जी० पी० मलालशेखर का दो भागों में प्रकाशित डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स्^२। रीज्डेविड्स् महोदय ने पालि इंग्लिश डिक्शनरी^३ प्रकाशित करके पालि साहित्य का प्रयोग करने वालों का बड़ा भारी उपकार किया है। अभी हाल में ही चन्द्रिका सिंह उपासक ने डिक्शनरी ऑफ् अर्ली बुद्धिष्टिक् मोनष्टिक् टर्म्स्^४ प्रकाशित किया है, जो बौद्ध भिक्षु जीवन, उनके विनय सम्बन्धी आचार और बौद्ध विहारों के जीवन की जानकारी में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। इन सबका यथास्थान उपयोग किया गया है।

त्रिपिटक से सम्बद्ध अध्ययन का एक तीसरा वर्ग गौतम बुद्ध के जीवन, बौद्ध दर्शन और बौद्ध विचारधारा तथा बौद्ध संघ एवं भिक्षु जीवन पर लिखी हुई पुस्तकों का है। इस वर्ग में ई० जे० थॉमस् की दि हिस्ट्री ऑफ् दि बुद्धिष्ट थांट, लन्दन, १९५३ तथा दि लाइफ् ऑफ् बुद्ध ऐज् लीजेण्ड् ऐण्ड हिस्ट्री (लन्दन

१. उदाहरण के लिए देखिए, मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित सुत्तनिपात (मूल पालि तथा हिन्दी अनुवाद); धम्मपद; (मूल पाठ और हिन्दी अनुवाद); खुद्दक पाठ और महाबोधि सभा, कलकत्ता से प्रकाशित अंगुत्तर निकाय का हिन्दी अनुवाद (चार भागों में)।

२. दो जिल्दों में, इण्डियन् टेक्स्ट् सीरिज्, लन्दन, १९३७-३८।

३. पाटेसो०, लन्दन, १९२१।

४. भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७५।

१९३१); तिब्बती दुल्व के आधार पर लिखी गयी रॉकहिल् की कृति दि लाइफ् ऑफ् दि बुद्ध (१८८४, लन्दन); रीज्डेविड्स् के हिब्वर्ट लेक्चर्स; एच् कर्न का ए मेन्युअल् ऑफ् इण्डियन् बुद्धिज्म तथा हर्मन् ओल्डेन्वर्ग की कृति बुद्ध, हिज् लाइफ्, टीचिंग् एण्ड आर्डर; सुकुमार दत्त की अर्ली बुद्धिष्ट मोनाशीज्म तथा बुद्धिष्ट माँक्स् एण्ड मोनाष्टरीज् इन् इण्डिया, देयर हिस्ट्री एण्ड काण्ट्रीव्यूज्न् टू इण्डियन् कल्चर (लन्दन १९६२); गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की कृतियाँ स्टडीज् इन् दि ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म (इलाहाबाद १९५७) तथा बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास और ई० फाउवालनर की कृति दि आर्लियेष्ट विनय एण्ड दि बिगिनिंग्स् ऑफ् बुद्धिष्ट लिटरेचर (रोम १९५७) जैसी कुछ प्रतिनिधि कृतियाँ प्रमुख हैं। इनका उपयोग प्रस्तुत ग्रंथ में कुछ सीमित रूप में इस कारण किया गया है कि बौद्ध दर्शन, धर्म और संघ का विकास, भिक्षु और उपासकों के जीवन तथा बुद्ध की जीवनी यहाँ विवेचन के मुख्य विषय नहीं बनाये गये हैं।

ऊपर सुत्तपिटक के रचनाकाल और उसके विकास के क्रम में यह निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है कि क्षेत्र और काल की दृष्टि से इस युग को भारतीय इतिहास के किस युग और भारतवर्ष के किस क्षेत्र पर लागू माना जा सकता है। इस दृष्टि से पालि साहित्य के इतिहास और पालि साहित्य से ज्ञात भूगोल सम्बन्धी विवरण बड़े महत्वपूर्ण हो जाते हैं। साहित्यिक इतिहास सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण कार्य विण्टरनिट्ज् ने हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिटरेचर^१ के द्वितीय जिल्द के माध्यम से किया था, जो अपने विवेचन और निष्कर्षों की प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध है। इस क्रम में विल्हेल्म गायगर का पालि लिटरेचर एण्ड लॅंग्वेज;^२ विमलाचरण लाहा का हिस्ट्री ऑफ् पालि लिटरेचर,^३ और इंडोलॉ-जिकल् स्टडीज् तथा भरत सिंह उपाध्याय का पालि साहित्य का इतिहास^४ जैसी कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं। पालि साहित्य के स्तरीकरण तथा उसके प्राचीन और

१. मूल पुस्तक जर्मानी भाषा में थी। उसके तीन भागों वाले अंग्रेजी अनुवाद मूलतः कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९३३) ने करवाया और प्रकाशित किया। बाद में मुंशीराम मनोहरलाल ने दिल्ली से उन्हें १९७२ में पुनः मुद्रित करवाया।
२. मूल पुस्तक जर्मानी भाषा में थी। १९५६ ई० में कलकत्ता से इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ।
३. लन्दन, १९३३।
४. प्रयाग, वि० सम्बत् २००८।

अपेक्षाकृत कम प्राचीन अंशों के विवेचन के लिए गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की कृति **स्टडीज् इन् दि आरिजिन्स् ऑफ बुद्धिज्म्** (इलाहाबाद, १९५७) एक अनूठी रचना है, जिसका गम्भीर अध्ययन इस विषय के प्रत्येक शोधकर्ता के लिए आवश्यक है। इन सबका यथास्थान इस कृति में उपयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त विमलाचरण लाहा की कृति **ए मैन्युअल् ऑफ बुद्धिष्ट हिस्टॉरिकल् ट्रेडिंशन्स्** (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५१) बौद्ध संगीतियों और त्रिपिटक के संकलन का परिचय उपस्थित करती है और कई दृष्टियों से उपयोगी है। लाहा ने बौद्ध साहित्य का उपयोग कर **ज्यांगफो ऑफ अर्ली बुद्धिज्म्** (कलकत्ता १९३३); **ट्राइब्स् इन् ऐंशियेन्ट इण्डिया** (पूना, १९४३); **बुद्धिष्टिक स्टडीज्** (कलकत्ता, १९२१) और **हिस्टॉरिकल् ज्यांगफो ऑफ ऐंशियेन्ट इण्डिया** (पेरिस, १९५४) जैसी अन्य उपयोगी कृतियाँ भी दीं, जो सन्दर्भों को खोजने में हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इसी क्रम में भरत सिंह उपाध्याय की कृति **बुद्धकालीन भारतीय भूगोल** (इलाहाबाद, १९५१) भी एक महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसका उपयोग यथास्थान किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हमारे विषय की दृष्टि से कुछ और भी उपयोगी ग्रन्थ हैं, जिनमें **त्रिपिटक** के विभिन्न अंशों अथवा उनके समग्र रूप पर आधारित भारतीय जीवन, इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य पर प्रायः सर्वप्रथम टी० डब्ल्यू रीज् डेविडस् ने अपनी पुस्तक **बुद्धिष्ट इण्डिया**^१ प्रकाशित की। किन्तु इस पुस्तक का विषय-क्षेत्र जितना व्यापक है, उतना ही इसका आकार छोटा है। लेखक का **बुद्धिष्ट इण्डिया** से तात्पर्य बुद्ध के समय तक के भारत तक ही सीमित नहीं है, अपितु बौद्ध धर्म के उत्थान के युग से सम्बद्ध प्रायः समस्त भारतीय इतिहास से है। इसमें एक तरफ जहाँ बुद्ध के समकालीन प्रसेनजित, बिम्बिसार और अजातशत्रु जैसे राजाओं तथा मल्ल, शक्य और लिच्छवि जैसे गणतंत्रों का उल्लेख है, वहीं दूसरी छोर पर अशोक और कनिष्क जैसे बौद्ध धर्मावलम्बी राजाओं पर भी अध्याय हैं, और बीच में चन्द्रगुप्त पर भी एक अध्याय है। परन्तु इसमें इतने बड़े और समयसीमा की दृष्टि से व्यापक विषय के लिए स्रोत रूप में अधिकांशतः जातकों का ही उपयोग किया गया है। ऐसा नहीं कि **सुत्तपिटक** के अन्य भागों के सन्दर्भ उसमें नहीं हैं, किन्तु उनमें प्राप्त अधिकांश सन्दर्भों का उपयोग नहीं किया गया है। इस पुस्तक में बौद्ध साहित्य पर भी विचार किया गया है, जिसका मूल उद्देश्य भाषा और

१. यह पुस्तक लन्दन से १९०२ में प्रकाशित हुई थी। १९५० और १९७१ में मोतीलाल बनारसीदास ने इसे पुनर्मुद्रित किया।

साहित्य सम्बन्धी विवेचन है। अतः यह पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक और अपने सन्दर्भों में अचूक होते हुए भी हमारे लिए सीमित उपयोग के योग्य ही रह जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीय संस्कृति और समाज को देखने के जितने भी प्रारम्भिक प्रयत्न थे, वे अधिकांशतः जातकों पर ही आश्रित थे। इस सम्बन्ध में दो अन्य पुस्तकों के विशेष उल्लेख किये जा सकते हैं। प्रथमतः तो रिचर्डफिक् की कृति **दि सोशल आर्गनाइजेशन इन् नार्थ इष्ट इण्डिया ऐट बुद्ध'ज् टाइम्**^१, और द्वितीयतः, रतिलाल मेहता की कृति **प्रो-बुद्धिष्ट इण्डिया**। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, इन दोनों ही पुस्तकों के विवेचन के मुख्य स्रोत जातक ग्रन्थ ही हैं। जैसा कि इन दोनों पुस्तकों के अपने-अपने नामों से स्पष्ट है, फिक् महोदय जातककालीन संस्कृति को बुद्ध के समकालीन स्वीकार करते हैं परन्तु मेहता महोदय उसे बुद्ध के युग के पूर्व का मानते हैं। बड़ा स्पष्ट है कि जातकों के रचनाकाल और उनकी विषयवस्तुओं की काल-बद्धता^२ के सम्बन्ध में विवाद है।^३ इस विवाद के मूल में जातकों की पञ्चुपन्नवत्थु अर्थात् वर्तमान कथाओं और अतीतवत्थु अर्थात् प्राचीन कथाओं, विशेषतः अतीतवत्थु के गाथा वाले भागों, के कालनिर्णय की समस्या हो सकती है। सारा प्रश्न इस बात पर केन्द्रित है कि विभिन्न जातकों की रचनाएँ कब हुईं? विण्टरनिट्ज् उनकी रचना का युग अशोक के अथवा उसके बाद के कुछ काल तक मानते हैं। अतः हमारे लिए यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं रह जाता कि जातक की अतीत कथाओं का अतीत कहाँ तक पीछे ले जाया जा सकता है। उपर्युक्त पुस्तकों और उनके माध्यम से जातकों का उपयोग करते हुए इस कृति में जातक कालीन संस्कृति को बुद्ध के समय से प्रारम्भ कर अशोक के समय तक विस्तृत माना गया है। जातकों का उपयोग मोतीचन्द्र ने अपनी कृतियों—**सार्थवाह** (पटना, १९५३) और **काशी का इतिहास** में किया है। किन्तु उनके अनेक सन्दर्भों के

१. यह पुस्तक मूल रूप में जर्मानी भाषा में छपी थी। बाद में १९३१ में अ० कु० मित्रा ने इसे अंग्रेजी में अनूदित किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इसे १९३२ में प्रकाशित किया। बाद में इण्डोलॉजिकल् बुक हाउस, वाराणसी, ने १९७२ में इसे पुनः मुद्रित किया।
२. बम्बई, एक्जामिनर प्रेस द्वारा १९३९ में प्रकाशित।
३. स्वयं मेहता महोदय भी इस सम्बन्ध में सम्भावित विवाद के प्रति जागरूक थे। इस सम्बन्ध में देखिए, प्रो बुद्धिष्ट इण्डिया का भूमिका भाग।
४. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन् लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ११३ और आगे; भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २७२ और आगे।

प्रति विश्वसनीयता नहीं जाग पाती और उनका उपयोग किसी भी जागरूक शोधकर्ता को बड़ी सावधानी से करना अपेक्षित है। गोकुलदास दे की कृति सिग्निफिकेन्स एण्ड इम्पार्टेन्स ऑफ दि जातक'स् (कलकत्ता, १९५१) में भी इन प्रश्नों पर विचार किया गया है। त्रिपिटक, विशेषतः जातकों, के आधार पर बुद्धकालीन राजनीतिक स्थिति, शासन-पद्धति और गणतान्त्रिक परम्परा से भी सम्बद्ध अनेक शोधग्रन्थ आये हैं। इनमें सर्वप्रथम प्रयत्न थे, का० प्र० जायसवाल के हिन्दू पॉलिटी^१ में बौद्ध गणतन्त्रों सम्बन्धी विवेचन; देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के कार्माइकेल् लेक्चर्स (१९१८); बुद्धकालीन गणतन्त्रों के स्वरूप-विवेचन हेतु लिखी गयी रमेशचन्द्र मजूमदार की प्रसिद्ध कृति कॉरपोरेट लाइफ् इन् ऐशियेण्ड इण्डिया^२ (कलकत्ता, १९२२); बेनी प्रसाद की कृति दि स्टेट इन् ऐशियेण्ड इण्डिया तथा विनयचन्द्र सेन की पुस्तक स्टडीज् इन जातकज्। प्रस्तुत ग्रन्थ के राजनीतिक स्थिति वाले अंशों में इन सभी कृतियों का न्यूनाधिक उपयोग किया गया है।

बौद्ध साहित्य के आधार पर तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थिति तथा सामाजिक संगठन सम्बन्धी अध्ययन भी हुए हैं। रमेशचन्द्र मजूमदार ने १९२२ में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कॉरपोरेट लाइफ् इन् ऐशियेण्ड इण्डिया में वर्ण व्यवस्था के विकास के अध्ययन के सिलसिले में बौद्ध साहित्य का साक्ष्य प्रस्तुत किया था। साथ ही, जाति व्यवस्था और शिक्षण संस्थाओं एवं धार्मिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए भी बौद्ध साहित्य का उसमें उपयोग किया गया। एन्० के० दत्त ने १९३९ में ओरिजिन्स एण्ड ग्रोथ ऑफ् कास्ट इन् इण्डिया^३ के द्वारा जातिवाद, विभिन्न जातियों के आपसी सम्बन्धों का विचार और, विशेषतः, जातकों में वर्णित जातिगत श्रेणियों का विवेचन किया। अभी हाल में मदनमोहन सिंह ने बुद्धकालीन समाज और धर्म शीर्षक से बौद्ध त्रिपिटक का एक उपयोगी अध्ययन प्रकाशित किया है, जो प्राङ्मौर्य युग का सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक विवेचन है। यह पुस्तक डॉ० सिंह द्वारा लिखे गये उनके

१. रामचन्द्र वर्मा ने 'हिन्दू राज्यतंत्र' शीर्षक से दो जिल्दों में इसका हिन्दी अनुवाद नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से १९६१ में प्रकाशित किया।
२. इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद, 'प्राचीन भारत में संघटित जीवन' शीर्षक से प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने १९६६ में सागर विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया।
३. फर्मा के० एल्० मुखोपाध्याय ने कलकत्ता से १९६२ में इस पुस्तक को दुबारा प्रकाशित किया।

शोध प्रबन्ध लाइफ् इन् नार्थ-ईष्टर्न इण्डिया इन् प्रो सौर्थन् टाइम्स् का प्रायः हिन्दी रूपान्तर है। परन्तु, एक मत में, डॉ० सिंह पालि साक्ष्यों के प्रति पूर्णतया समर्पित नहीं हैं, और, सम्भवतः तुलनात्मक सामग्री प्रस्तुत करने की विशेष चेष्टा में, उन्होंने अनेक स्थानों पर महत्त्वपूर्ण साक्ष्यों की ओर ध्यान नहीं दिया है।^१ एक अत्यन्त रोचक पुस्तक नरेन्द्र वागले की है, सोसाइटी ऐट् दि टाइम् ऑफ् दि बुद्ध, जो अपने प्रतिपाद्य विषय का प्रामाणिक परिचय उपस्थित करती है। इससे बुद्धकालीन आवासीय व्यवस्था और व्यावसायिक वर्गों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु लेखक ने इस पुस्तक में खुद्दकनिकाय का उपयोग जानबूझकर नहीं किया है।^२ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन शीर्षक डॉ० कृष्णकान्त त्रिवेदी ने पीएच्० डी० का शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है, जो त्रिपिटक के आधार पर बुद्ध के काल और उसके कुछ बाद के समय की भौतिक संस्कृति का एक अच्छा अध्ययन प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत कृति में इन सभी पुस्तकों का यथास्थान उपयोग किया गया है।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात आर्थिक विषयों पर लिखने का सबसे पहला प्रयत्न श्रीमती रीज्देविड्स ने किया था। अपेक्षाकृत अपने एक छोटे से लेख^३ में उन्होंने केवल बौद्ध जातकों का ही अधिकांशतः उपयोग किया। उस आर्थिक स्थिति को एक समग्र रूप देने के लिए उसमें लेखिका ने हिन्दू स्मृतियों, मिलिन्दपञ्चो और विनयपिटक का भी यत्र-तत्र उपयोग किया है। किन्तु सुत्तपिटक का इसमें अपेक्षाकृत कम ही उपयोग हुआ है। अतः उनके लेख का शीर्षक इकनॉमिक् कन्डिशनस् एकाडिङ्ग टू अली बुद्धिष्ट लिटरेचर कुछ भ्रमोत्पादक ही है। आगे चलकर एन्० सी० बन्दोपाध्याय ने इकनॉमिक् लाइफ् ऐण्ड प्रोग्रेस् इन् ऐशियैट् इण्डिया^४ और अतीन्द्रनाथ बोस ने सोशल ऐण्ड रूरल् इकॉनॉमी ऑफ् नार्दर्न् इण्डिया^५ में पालि साहित्य का उपयोग करते समय प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला। किन्तु इन दोनों पुस्तकों के सन्दर्भ क्षेत्र बहुत व्यापक हैं और इन्हें केवल सुत्तपिटक अथवा त्रिपिटक पर आधारित नहीं माना जा सकता। तथापि आगे इन सबका यथास्थान उपयोग हुआ है।

१. देखिए, कृष्णकान्त त्रिवेदी का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन' पृ० १९ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)।
२. देखिए, सोसाइटी ऐट् दि टाइम् ऑफ् दि बुद्ध, पृ० २।
३. देखिए, कैम्ब्रिज् हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १९६ से २१९ तक।
४. भाग १, कलकत्ता, १९४५।
५. भाग १, कलकत्ता, १९६७।

यह विचारणीय प्रश्न है कि ऊपर वर्णित युग और क्षेत्र से सम्बद्ध जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष पर अनेकानेक पुस्तकों के होते हुए भी इस नयी कृति की सार्थकता क्या है ? संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि किसी भी विषय को चुनने और उसे उपस्थित करने की प्रेरणा, विधा अथवा सार्थकता सम्बन्धी दृष्टि प्रत्येक लेखक के मन में भिन्न-भिन्न हुआ करती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि कोई भी पुस्तक ऐसी नहीं है, जो केवल **सुत्तपिटक** को अपना शोधस्रोत बनाती हो। वास्तव में प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से बुद्ध और उनके पश्चात् की दो-तीन शताब्दियों में आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश और प्रायः सम्पूर्ण बिहार की स्थिति क्या थी, इसे पूर्ण रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी को हमने पूर्वोत्तर भारत की संज्ञा दी है। पीछे हम देख चुके हैं कि प्रायः सम्पूर्ण **सुत्तपिटक** इसी क्षेत्र की देन है और इसी काल की रचना है। पुनः वह रचना इतनी व्यापक, विस्तृत, और वार्तालाप की पद्धति के कारण विषयसम्पन्न है कि उसके मुकाबले का उस समय का कोई भी दूसरा स्रोत दिखायी नहीं देता। इस ग्रन्थ में अन्य साध्यों के उपयोग का सहारा विषयवाध्यता के भय से हमने नहीं लिया है। परिणामतः, यहाँ सम्बद्ध काल की जो राजनीतिक स्थिति दिखायी गयी है, उसे हम केवल छठी-पाँचवीं शती ईसा पूर्व के लगभग सौ वर्षों तक ही सीमित मान सकते हैं। किन्तु भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं से सम्बद्ध स्थिति न तो विशेष परिवर्तनशील थी और न बहुत गतिमान्। उसे लगभग चार सौ वर्षों की अवधि (छठीं शती ईसा पूर्व से तीसरी शती ईसा पूर्व तक) के बीच लागू माना गया है। धार्मिक क्षेत्र के सम्प्रदायवाद, विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्ध तथा बुद्ध के समय में उनके धार्मिक और सामाजिक विचारों के तूफानी प्रभाव भी उनके जीवनकाल तक ही सीमित प्रतीत होते हैं। उनकी मृत्यु के बाद प्रतिक्रियायें अवश्य प्रारम्भ हुई होंगी, किन्तु परम्परावादी बौद्ध साहित्य, विशेषतः **सुत्तपिटक**, के बाद वाले अंशों से उस प्रतिक्रिया का कोई विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट युग का और भारतीय भूखण्ड के एक विशेष क्षेत्र (पूर्वोत्तर भारत) का एक समग्र इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न है। पहले के सभी विद्वानों की कृतियों का उपयोग करते हुए **सुत्तपिटक** के मूल अंशों तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया है और उसके आधार पर इस क्षेत्र की एक भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक झाँकी उपस्थित करने का कदाचित् यह सर्वप्रथम प्रयत्न है। आशा है इससे उस समय के मानव जीवन के सभी पहलुओं पर चतुर्दिक् प्रकाश पड़ेगा।

द्वितीय अध्याय

भौगोलिक स्थिति (क) जलवायु, निवासी, नदी- नद, जलाशय, वन एवं पर्वत

बौद्ध साहित्य में वर्णित भारतवर्ष के पाँच भागों में पूर्वोत्तर भारत उसके प्रायः डेढ़ भागों के बराबर था। वह था मज्झिमदेश अथवा मध्यदेश का आधा पूर्वी भाग और प्राची का सम्पूर्ण भाग। मध्यदेश पूर्व में कजंगल नगर तथा दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी तक विस्तृत था। मध्यदेश के सभी जनपद अथवा उनकी नदियाँ, वन, पर्वत, गाँव एवं नगर आदि आगे चर्चित पूर्वोत्तर भारत के भौगोलिक विवरण में नहीं सम्मिलित किए जा सकते, क्योंकि वे इस ग्रन्थ-विषय 'पूर्वोत्तर भारत' की सीमा-परिधि के बाहर पड़ते थे। मोटे रूप में सुत्तपिटक के "पूर्वोत्तर भारत" में काशी, कोसल, वत्स, मगध, अंग और विदेह के क्षेत्र तथा आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में बसे हुए बुद्धकालीन गणतंत्रों के क्षेत्र समाहित थे, जैसे—कपिलवस्तु, रामग्राम, संसुमारगिरि, कुसिनारा और वैशाली। अतः सुत्तपिटक पूर्वोत्तर भारत का पश्चिम में वेरञ्जा एवं कोशाम्बी, दक्षिण में संसुमारगिरि, उत्तर में श्रावस्ती, कपिलवस्तु और वैशाली तथा पूर्व में चम्पा और कजंगल नामक स्थानों के बीच में ही पड़ता था। बाद में प्रसिद्ध होने वाले कलिंग, सुम्ह, अथवा वंग जैसे क्षेत्र सुत्तपिटक में चर्चित नहीं हैं। अतः यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जायेगी।

जनपदों नगरों, गाँवों, निगमों के अतिरिक्त, तत्कालीन भारत की क्या जल-वायु थी, कैसे और कौन निवासी वहाँ निवास करते थे तथा तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत की नदियों, पर्वतों वनों, उद्यानों आदि विषयों का वर्णन इस अध्याय में किया जायगा।

जलवायु

सुत्तपिटक कालीन पूर्वोत्तर भारत की जलवायु के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्य से हमें बहुत ज्यादा जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु यह निश्चित है कि लगभग दो-ढाई हजार वर्षों के बाद भी उस समय की अपेक्षा आजकल की इस क्षेत्र की जलवायु बहुत बदली नहीं है। किसी भी जगह की जलवायु पर उसकी भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक बनावट का बहुत ज्यादा असर पड़ता है। सुत्तपिटक में वर्णित पूर्वोत्तर भारत की स्थिति ८० से ९० पूर्व अक्षांश और २४ से

२८ पूर्व देशान्तर के बीच में थी। जहाँ तक भूमि की बनावट का प्रश्न है, इसकी सूचना अंगुत्तरनिकाय में एक जगह मिलती है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओं! जैसे इस जम्बूद्वीप में रमणीय उद्यान, रमणीय भूमि, रमणीय वन, और रमणीय पोखरिणियाँ थोड़ी ही हैं, अधिकता तो ऊँची-नीची, नदी से कटी झाड़-झंखाड़ वाली भूमि तथा विषम पर्वत प्रदेशों की है।^१ वस्तुतः देखा जाय तो तत्कालीन समस्त पूर्वोत्तर भारत की भी स्थिति कुछ इसी प्रकार की थी। वह पर्वतों, गुफाओं, नदियों आदि से घिरा हुआ भू-भाग था।

तत्कालीन जलवायु भी वर्तमान काल की तरह मुख्यतः तीन ऋतुओं—वर्षा, जाड़ा और गर्मी में विभक्त थी। भारतवर्ष में परम्परागत रूप में इन तीन ऋतुओं को और दो-दो भागों में बाँटा गया है, जिससे कुल मिलाकर साल के बारह महीनों में कुल छह ऋतुएँ हो जाती हैं। वे हैं—वर्षा (श्रावण और भाद्रपद), शरद (व्दार और कार्तिक), हेमन्त (अगहन और पूस), शिशिर (माघ और फाल्गुन), वसंत (चैत्र और वैशाख) तथा ग्रीष्म (ज्येष्ठ और आषाढ़)। इन सभी ऋतुओं के उल्लेख हमें सुत्तपिटक^२ के सभी निकायों में मिलते हैं। जातकों में हमें शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष जैसे पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के मास के दो भागों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। मास्त जातक (सं० १८) में कृष्णपक्ष को काल (काला) पक्ष और शुक्ल पक्ष को श्वेत या जुह पक्ष कहा गया है। महामुदस्सन जातक (सं० ९५) में सारिपुत्र के कार्तिक मास की पूर्णिमा और महामौद्गल्यायन के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। इसी तरह वैशाख की शुक्ल पूर्णिमा बौद्ध साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिष के अनुसार चांद्रमास की पद्धति को अपनाकर जो गणनाएँ भारतवर्ष में की जाती थीं, उन्हें बौद्ध साहित्य^३ पूरी तरह स्वीकार करता था और उसकी गिनती में भी वर्ष, मास, तिथि, ऋतु और नक्षत्र वैसे ही आते थे, जैसे वैदिक अथवा अन्य अबौद्ध साहित्य में आते हैं।

विभिन्न ऋतुओं में जलवायु के कारण होने वाली कठिनाइयों के उल्लेख भी हमें सुत्तपिटक के विभिन्न अंशों से प्राप्त होते हैं। अंगुत्तरनिकाय^४ में हेमन्तऋतु

१. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग १, पहला निपात, पृ० ३६; भाग ४ पृ० ५३१। बुद्ध का यह उपदेश श्रावस्ती में दिया हुआ कहा गया है। अतः उस क्षेत्र के आसपास के लिए उसे विशेष रूप से मानना चाहिए।
२. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग १, पृ० १३९, १४५, १४८, २१०; भाग ३, पृ० २३३, २४२; धम्मपद, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३३, २०२; जातक सं० ९५, ५३१ आदि।
३. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३, पृ० २४२, ३२७।
४. वहीं, भाग १, पृ० १३९।

में पड़ने वाली ठंडक का उल्लेख मिलता है। वहाँ वर्णित है कि इस ऋतु में तेज ठंडी हवायें चला करती थीं, भयंकर हिमपात होते थे, जिससे मौसम अत्यधिक ठंडा रहता था। वर्षा ऋतु में भयंकर वर्षा होने के कारण नदियों में बाढ़ें भी आती थीं, जिनसे जनजीवन अस्त-व्यस्त सा हो जाता था। धम्मपद^१ में अचिरावती नदी में अचानक आयी हुई एक बाढ़ का उल्लेख है, जिसमें विडूढभ अपनी सारी सेना सहित बह गया था। थेरगाथा अट्ठकथा^२ में सरभू (सरयू) नदी में एक ऐसी भयंकर बाढ़ आने का उल्लेख मिलता है, जिससे नदी के किनारे पर सोये हुए भिक्षुओं में खलबली मच गयी। अंगुत्तरनिकाय^३ से कुछ ऐसी बाढ़ों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनमें गाँव, नगर, निवासी, पशु-पक्षी आदि सभी बह जाते थे और पूरा जनजीवन ही अस्तव्यस्त हो जाता था। ज्यादा वर्षा होने के संकेत दीघनिकाय^४ से भी मिलते हैं, जिससे गाँवों, नगरों, निगमों आदि में सर्वत्र पानी भर जाता था और कीचड़ हो जाता था। भयंकर वर्षा और उससे आने वाली बाढ़ तथा उस बाढ़ से होने वाली हानि के उदाहरण हमें आज भी मिलते हैं, क्योंकि पूर्वोत्तर भारत अब भी ज्यादा वर्षा वाला ही क्षेत्र है।

सुत्तपिटक में वर्षा के अभाव के कारण सूखों और अकालों की भी चर्चाएँ आती हैं। कभी-कभी तो बारह वर्षों वाले अकालों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। यहाँ कुछ अतिरंजन स्वीकार करते हुए भी अकालों की वास्तविकता को मानना होगा। अंगुत्तरनिकाय^५ में ग्रीष्मकाल में अचिरावती नदी के सूख जाने का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि नदी में पानी कम हो जाने से उसके पास के क्षेत्रों में सूखे की स्थिति हो जाती होगी, क्योंकि इस नदी के जल से सिंचाई भी होती थी। इसके प्रमाण हमें सुत्तपिटक^६ के अन्य स्थलों से भी प्राप्त होते हैं। संयुक्त-

१. हिन्दी अनुवाद, पृ० २८; धम्मपद अट्ठकथा में भी अचिरावती में आयी एक ऐसी बाढ़ का उल्लेख है, जिससे श्रावस्ती के सेठ अनाथपिण्डिक की अठारह करोड़ की धनरशि बह गयी थी। देखिए, टीका, पाटेशो०, जिल्द ३, पृ० ११०: दीघनिकाय, पाटेशो, जिल्द १, पृष्ठ २४४-४५; जातक, फॉसवॉल, जिल्द ४, पृ० १६७।
२. पाटेशो०, जिल्द १, पृ० १०३।
३. महाबोधि प्रकाशन, भाग ४. पृ० १७८।
४. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २०७।
५. पाटेशो०, जिल्द ४, पृ० १०१।
६. अचिरावती नदी तीरे यवं कपिस्सामीति खेत्ते कसति। सुत्तनिपातटीका, पृ० ५११।

निकाय^१ के कुलसुत में नालन्दा में आये एक भीषण अकाल का उल्लेख मिलता है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि “उस समय लोगों के प्राण निकल रहे थे। मरे हुए मनुष्यों की उजली-उजली हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। लोग सूखकर सलाई बन गये थे।” इसी तरह से धम्मपद^२ भी वैशाली में एक ऐसे समय दुर्भिक्ष पड़ने की सूचना देता है, जब ताउन का रोग फैला था। वीरकजातक^३ (सं० २०४) में काशी में आये एक अकाल का उल्लेख है। इसी तरह कुणालजातक (सं० ५३६) श्रीष्म ऋतु में पड़े सूखे की चर्चा करता है, जब शाक्यों और केलियों के ईख के खेत सूखने लगे और रोहिणी नदी के जल के प्रयोग को लेकर दोनों पक्षों में बड़ा भारी झगड़ा हुआ, जिसे अन्त में भगवान् बुद्ध ने सुलझाया। उस समय सूखे के कारण तालाब और कुएँ तो सूख ही गये थे, रोहिणी नदी में भी पानी इतना कम हो गया था कि शाक्य और कोलिय दोनों पक्षों में से कोई एक ही पक्ष अपने ईख के खेत सींचकर उन्हें बचा सकता था।

किसी भी जगह की जलवायु का वहाँ पर पायी जाने वाली वनस्पतियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सुत्तपिटक से, विशेषतः उसके जातक वाले अंशों से, हमें बुद्धकालीन पूर्वोत्तर भारत में पायी जाने वाली विभिन्न वनस्पतियों और फसलों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन वनस्पतियों में विभिन्न प्रकार के वृक्ष, फूल-फल आदि होते थे, जिनमें से कुछ तो जंगलों में पैदा होते थे और कुछ उगाये भी जाते थे। महावेसन्तर जातक (सं० ५४७) और महाउमगग जातक (सं० ९४६) में मधूक (महुआ) पनस (कटहल), ताल (ताड़), अश्वत्थ (पीपल), बेर, विभीतक (एक प्रकार की औषधि), हरीतक (हर्रे-औषधि), आम, गूलर, जामुन, उदुम्बर, आमलकी, अंगूर, न्यग्रोध, पलाश, शाल, शीशम, कैथ, खैर, तिम्ब, अंकोल, वण्ण-सायक, बेंत आदि के उल्लेख हैं। पुष्पवृक्षों में शिरीष, श्वेत पारिस, समुद्रकप्पासी, बकुल, कसुम्भर, सल्लकी, श्वेतगेह, कुलावर, कुरजी, पुन्नाग, नीप, कोसम्ब, लबुज, कमल कर्णिकार, कर्पूर, सिन्दुवारित, मालुज तथा फन्दन आदि के उल्लेख^४ हैं।

१. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ५८५।

२. हिन्दी अनुवाद, पृ० १९७; तुलनीय, विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ० २४५।

३. दिव्यावदान भी काशी में आये एक भीषण अकाल की सूचना देता है, जो बारह वर्षों तक चला था। पृ० १३२।

४. महाउमगग जातक, सं० ५४६; महावेसन्तर जातक, सं० ५४७; अंगुत्तर-निकाय, महाबोधि प्रकाशन, भाग १ पृ० २०९।

बुद्धकालीन पूर्वोत्तर भारत में उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की फसलों की चर्चा से पूरा **सुत्तपिटक**^१ भरा हुआ है। आजकल की ही तरह उस समय भी कृषि अपनी समुन्नत दशा में थी। विभिन्न फसलों एवं अन्नों का उत्पादन होता था। उस समय के प्रमुख अनाजों में शालि (धान), व्रीही (वीही), तंडुल (तंडुल), यव (जौ), ईख, कपास, बिनौला, तिम्वरु, कंजू (बाजरा), कलाय (मटर), मुग्गमास (मूंग और उड़द), सिद्ध-टठक (तिल, सरसों), एरण्ड (अरंडी) तथा विभिन्न मसाले थे। मसालों में मिरच (मिरचा), जीरक (जीरा), ताम्बूल (पान), पूग (सुपारी) आदि थे, जिनको खेती बड़े पैमानों पर की जाती थी। अनाज नदियों की घाटियों में होते थे, जहाँ इनके होने लायक मिट्टी की बहुलता और जलवायु संबंधी वातावरण था। वस्तुतः उपर्युक्त वनस्पतियों एवं विभिन्न प्रकार के अनाजों की सूची को देखकर हम यह कह सकते हैं कि **सुत्तपिटक** कालीन पूर्वोत्तर भारत की जलवायु कृषि की दृष्टि से बहुत अच्छी थी। करीब-करीब ये सभी वस्तुएँ आज भी इन क्षेत्रों में उत्पादित की जाती हैं।

प्राकृतिक बनावट, वनस्पतियों की विभिन्नता तथा हिमवन्त अथवा हिमालय पर्वत तथा अन्य पर्वतों की स्थिति के साथ-साथ **सुत्तपिटक** कालीन पूर्वोत्तर भारत में पाये जाने वाले वन्य पशुओं और पक्षियों के भी विवरण निकायों में यत्र-तत्र मिलते हैं। जंगली जानवरों में शेर, कोक (भेड़िया), खरगोश, गेंडा, बाघ, मृग, हाथी, तुलिय (बिल्ले), गीदड़, कुत्ते, भैंसे, बन्दर, भालू, सूअर, सुलोपी (मृग), वृषभ आदि के उल्लेख^२ मिलते हैं। कोलियों की राजधानी कोलनगर को व्याघ्रपञ्ज (व्याघ्रपंथ) इसलिए कहा जाता था कि जिस जंगल में यह नगर बसाया गया था, वह व्याघ्रों के आने-जाने का मार्ग था। पालतू पशुओं में घोड़ा, गाय, बैल, बकरी, शूकर, गधा (गर्दभ), महिष, कुक्कुर, भेड़, वृषभ आदि के उल्लेख मिलते हैं। पक्षियों में हंस, कौआ, तोता, क्राँच, सारस, बाज, नज्जुहा, हिन्दिया, कुज्जवादिक, कपिजर, तीतर, लटुकिका (गौरचा), कोयल, चातक, उल्लू, कुक्कु, चेलाबक, चेतकेटु, कुररी, कुररा, बत्तक, कबूतर, रविहंस, नदीचर, चद्रबाब, मुर्गा, कोठ, सातक, मँना, बलीयस आदि की चर्चाएँ मिलती हैं।^३

१. दीघनिकाय सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १९२; अंगुत्तर निकाय, महाबोधि प्रकाशन, भाग १, पृ० ३०४; भाग ३, पृ० ३१०; सुत्तनिपात, सुत्त सं० २।२, पृ० ६१; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ३४०; थेरगाथा, ३४०।

२. जातक, सं० ५४७, पृ० ५९१।

३. महावेसन्तर जातक, सं० ५४७; महाहंस जातक, सं० ५३४; विधुर जातक, सं० ५४५।

कुछ को छोड़कर उपर्युक्त लगभग सभी पक्षी आजकल भी दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ जलचर जीवों^१ के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रमुख थे—मगर-मच्छ, पानी वाले साँप, मकर, सोंस, विभिन्न प्रकार की मछलियाँ, गोधा (गोह), कर्कट (केंकड़ा), कच्छप आदि।

निकायों^२ से हमें विभिन्न धातुओं एवं रत्नों का परिचय प्राप्त होता है, जिनमें सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, जस्ता, शीशा, लोहा आदि परिगण्य हैं। मूल्यवान् रत्नों में मुक्ता, माणिक, हीरा तथा वैदूर्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है, यद्यपि इन धातुओं एवं रत्नों का प्राप्तिस्थल पूर्वोत्तर भारत नहीं था। वहाँ इनका प्रयोग उन स्थानों से मँगाकर किया जाता था, जहाँ ये पाये जाते थे। परन्तु ताँबा, लोहा, जस्ता, शीशा आदि धातुएँ तो पूर्वी भारत में बहुतायत से पायी जाती हैं। इस बात की कोई भी सूचना हमें नहीं प्राप्त होती कि ये सभी धातुएँ किस प्रकार खानों से निकाली जाती थीं। सिर्फ उनके उपयोग करने के उदाहरण प्राप्त होते हैं।
निवासी

सुत्तपिटक से ज्ञात पूर्वोत्तर भारत के लोगों का नृतात्त्विक दृष्टि से बँट-वारा बहुत आसानी से नहीं किया जा सकता। प्रथमतः, ये प्रश्न तो बड़े विवादास्पद हैं कि भारतवर्ष की मूल प्रजातियाँ कौन थीं, आर्य इस देश में बाहर से आये या यहीं के मूल निवासी थे, द्रविड़ भी यहाँ के मूल निवासी थे अथवा वे भी कहीं बाहर से आये तथा इन जातियों का आपसी सम्मिलन किन-किन क्षेत्रों में किस-किस मात्रा में हुआ अथवा इस सम्मिलन में विभिन्न भारतीय प्रदेशों की मूल जातियों अथवा निवासियों का अंश कितना था। इन प्रश्नों पर पिछले लगभग १५० वर्षों से विचार होता रहा है, किन्तु विवाद ज्यों के त्यों बने हुए है। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से इन विवादों में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। तथापि सुत्तपिटक तथा तुलनात्मक दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य के एतत्सम्बन्धी विवरणों को देखते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रारम्भिक वैदिक:

१. जातक, सं० ५४७।

२. जातक, फाँसवाँल, जिल्द २ पृ० २९६, गाथा १६; अयो, लोहं, तिपुं, सींग, रजतं जातरूपं मुत्ता वेलुरिया। दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ९८, १५६, १५७; मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, ३१३, ३१४, ५०१, ५१२, ५७६, ५७७; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २९१ भाग २; पृ० ६६२; अंगुत्तरनिकाय, भाग १, पृ० २१६, पृ० ४११; भाग ३, पृ० २८७, २८९, ३२९; भाग ४, पृ० २५०, ३२०।

साहित्य में पूर्वोत्तर भारत के कोसल, अंग, मगध और विदेह जैसे जनपदों की चर्चाएँ नहीं आयी हैं। ऋग्वेद^१ से आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश मात्र तक आर्य संस्कृति के फैलाव का अनुमान लगाया जा सकता है। अथर्ववेद^२ में मगध, विदेह और अंग का उल्लेख ऐसे जनपदों के रूप में किया गया है, जहाँ पर मलेरिया और विषमज्वर जैसी कष्टकारक बीमारियों का धर था और जो आर्यों के लिए प्रायः निषिद्ध क्षेत्र माने गये। इसकी संपुष्टि मज्जिमनिकाय^३ की अट्ठकथा के उस उल्लेख से होती है, जिसमें यह कथित है कि मगध के दक्षिण में भयंकर मक्खियाँ और मच्छर होते थे, जो निश्चय ही उपर्युक्त बीमारियों के कारण रहे होंगे। शतपथब्राह्मण में आने वाली माधवविदेह (माधवविदेह) की कथा से विदेह जैसे पूर्वी जनपदों की ओर आर्यसंस्कृति के फैलाव का प्रथम परिचय प्राप्त होता है। यहाँ सदानीरा नदी अर्थात् आजकल की बड़ी गंडक आर्यसंस्कृति की पूर्वी सीमा बतायी गयी है। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल का अन्त होते-होते वत्स, कोसल, अंग, मगध, काशी और विदेह जैसे जनपदों के सारे क्षेत्र वैदिक संस्कृति के क्षेत्रों के भीतर आ चुके थे। तथापि अभी काशी और कोसल के क्षेत्र ही विशेष रूप से उसके प्रभाव में थे।

इन क्षेत्रों की जनसंख्या का बड़ा भारी भाग ऐसा था, जो आर्य संस्कृति के बाहर था और जिसकी भाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। पहाड़ियों, घने जंगलों और अपेक्षाकृत अविकसित प्रदेशों में रहने वाले ये लोग संस्कृत साहित्य में मोटे तौर पर अनाथों की कोटि में रखे गये हैं तथा उन्हें शबर, मुण्डा, कोल, किरात और किन्नर जैसी संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। दक्षिण से सम्भवतः द्रविड तत्त्वों का भी इनमें समागम था। हिमालय की तलहटियों में रहने वाले लोग निश्चय ही अधिकांशतः मंगोल रक्त के थे।

इसी प्रकार मोटे तौर पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुत्तपिटक से ज्ञात पूर्वोत्तर भारत की तत्कालीन जनसंख्या में आर्य, आदिम, द्रविड और

१. दशम, ६४.९; इस सम्बन्ध में देखिए, जिमर, वेदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ४३४, पदसंकेत ५ में उद्धृत: म्यूर, संस्कृतटेक्स्ट्स, जिल्द २, १५ वाँ; मैक्सम्यूलर, सैफेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, पृ० ३२, ३२३।

२. तृतीयक वितृतीय सदन्दिमुत्त शारदम्। त्वमानं शीतं रुरं ग्रैस्मं नाशय वासिकम्। गंधारिभ्यो मूजवद्भ्योङ्गभ्यो मगधेभ्यः। पञ्चम, २२, १३-१४।

३. पपञ्चसूदनी, पाटेशो, जिल्द १, पृ० ३८८।

४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग १, पृ० १२२।

मंगोल सभी रक्तों का मिश्रण था। इनके आपसी विवाह होते थे तथा इनकी संस्कृतियों का आपस में अत्यन्त घना सम्मिलन हो रहा था। तथापि आर्य संस्कृति अन्य तीन तत्त्वों को अपने में समाहित कर लेने तथा सबको मिलाकर एक वैदिक रूप देने का प्रयत्न कर रही थी। बौद्ध संस्कृति इसी प्रयत्न की जबरदस्त प्रतिक्रिया थी।

वस, काशी और कोसल के क्षेत्र उत्तर वैदिक और पौराणिक परम्परा के अनुसार आर्यमूल के सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय क्षत्रियों के मूलक्षेत्र थे।^१ अतः यहाँ के शासकों और अधिकांश जनता पर हम मुख्यतः आर्य नृत्त्व का प्रभाव मान सकते हैं। वे लघु कापालिक और औदिच्य लोगों के वर्ग में थे, जिनका रंग साफ—गोरे से लेकर लाल तक, ऊँचाई लम्बी अथवा मध्यम, बाल चमकीले अथवा पीले, सिर लम्बे, उठी हुई ऊँची नाकें तथा दाढ़ी और मूछों पर भरपूर बाल हुआ करते थे। किन्तु इन क्षेत्रों के विंध्याचल जैसी पहाड़ियों में रहने वाले लोगों का एक बड़ा भारी वर्ग ऐसा भी था, जिसे आस्ट्रेलेशियायी अथवा आनेय वर्ग का माना गया^२ है। कोल, शबर, मुण्डा और किरात, नट, लघनर्तक, मायाकार, संपेरे (अहिगुण्डिक) नेवला पालने वाले, गंधर्व, भेरीवादन करने वाले, शंखवादक, सर्पदंश का विष दूर करने वाले (विसवेज्जा), कुम्हार, मालाकार, दन्तकार आदि जातिविशेष निवासियों का उल्लेख जातकों^३ में भी किया गया है। अनेक विद्वान् शाक्य, कोलिय, मल्ल और विदेह गणतन्त्रों के प्रतिनिधियों को भी मंगोल रक्त का मानते हैं, जबकि सुत्तपिटक के समस्त साहित्य में उन्हें सूर्यवंशी क्षत्रियों का वंशज माना गया है।^४ अतः यदि हम शाक्यों, मल्लों तथा लिच्छवियों को मंगोल रक्तपरम्परा से भिन्न मानें तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि तत्कालीन उत्तर-पूर्वी भारतीय संस्कृति पर मंगोलों का प्रभाव नगण्य ही था।

किन्तु थॉमस् और रिचार्ड फिक्^५ जैसे पाश्चात्य पालि साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् शाक्यों, कोलियों, मल्लों, लिच्छवियों को आर्य संस्कृति की परम्परा में

१. सूर्य और चन्द्रवंश के पौराणिक विवेचन के लिए देखिए, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, अध्याय ४-५।
२. हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० ४८-४९; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० ४५-४६।
३. बुद्धकालीन समाज और धर्म, मदनमोहन सिंह, पृ० २५।
४. इन सम्बन्धों में आगे देखिए, विभिन्न गणतन्त्रों सम्बन्धी विवेचन।
५. थॉमस्, लाइफ़ ऑफ़ बुद्ध, तृतीय संस्करण, १९५२, पृ० २३; रिचार्ड फिक्, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईष्ट इण्डिया ऐट बुद्ध'ज टाइम, १९७२ संस्करण पृ० ८०।

नहीं मानते हैं। उनके मत में, इसी कारण आधुनिक उत्तर-पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी, मध्य तथा उत्तरी बिहार के क्षेत्र ब्राह्मण संस्कृति की अपेक्षा बौद्ध संस्कृति से अधिक प्रभावित हुए। उत्तर-पश्चिमी भारत में जहाँ ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म सर्वोच्च माने जाते थे, पूर्वोत्तर भारत के कोसल, मगध, अंग, विदेह, लिच्छवि और अन्य गणतान्त्रिक क्षेत्रों में क्षत्रियों को प्राथमिकता दी गयी और वहाँ ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिक्रिया में जैन और बौद्ध संस्कृतियों का उदय और जोरदार विकास हुआ। जो भी हो, इस क्षेत्र के निवासी मध्यदेश की अपेक्षा एक मिश्रित संस्कृति तथा सामाजिक और धार्मिक क्रिया और प्रतिक्रिया के प्रतीक थे और उनमें प्रायः ऊपर वर्णित सभी नृतात्विक तत्वों के अंश सम्भवतः बराबर-बराबर मात्रा में स्थित थे।

नदी-नद और जलाशय

सुतपिटक से हमें बुद्धकालीन पूर्वोत्तर भारत में बहने वाली कई प्रमुख नदियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। नदियों के अलावा उस समय कई पुष्करिणियाँ और जलाशय भी थे, जो अपनी-अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थे। प्रमुख नदियों एवं जलाशयों का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अचिरावती

अचिरावती बुद्धकालीन पाँच महानदियों^१ में से एक थी। नेपाल के बुटवल नगर के पास की हिमालय की पहाड़ियों से निकलकर देवरिया जिले के बरहज बाजार नामक कस्बे के पास सरयू नदी में मिलने वाली आधुनिक राप्ती नदी से इसकी पहचान की गयी है। कहीं-कहीं इसे ऐरावती (ऐरावती) भी कहा गया है और यह माना गया है कि यह ऐरावत के मुख से निकली थी।^२ अवदानशतक में इसे अजिरवती कहा गया है। बौद्ध साहित्य^३ में इसकी प्रसिद्धि का कारण यह प्रतीत होता है कि इसी के किनारे कोसल की राजधानी श्रावस्ती बसी थी, जहाँ पर प्रसिद्ध बिहार जेतवत स्थित था। यह कहा गया है कि प्रसेनजित के महल के छत से यह नदी दिखायी देती थी।^४ ब्राह्मणों का मनसाकट नामक प्रसिद्ध गाँव इसी नदी के किनारे स्थित था।^५ इस नदी में मछलियाँ और कछुए बहुतायत से

१. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ८२३; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो, जि० ४, पृ० १०; भाग ५, पृ० २२।
२. हार्डी, ए मैन्युअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० १५-१७।
३. सालित जातक, सं० १०७; कुरुधम्म जातक, सं० २७६।
४. विनयपिटक, पाटोसो, भाग ४, पृ० १११-१२१।
५. दीघनिकाय, पाटोसो, तेविज्जसुत्त, पृ० ८६।

मिलते थे और उसके किनारे बसे हुए मछुआरों के पुंड्रपुर नामक गाँव का उल्लेख मिलता है।^१ सिचाई के लिए अचिरावती से मिलने वाले^२ पानी और उसकी बाढ़ से नष्ट होने वाली खेती, इन दोनों ही बातों के उल्लेख मिलते^३ हैं। अंगुत्तर-निकाय^४ से इस नदी के ग्रीष्मकाल में सूख जाने की सूचना मिलती है। धम्मपद^५ अट्ठकथा के अनुसार श्रावस्ती के प्रसिद्ध वणिक् अनाथपिण्डिक की अठारह करोड़ की धनराशि इस नदी की बाढ़ में बह गयी थी। इसी तरह से इसकी बाढ़ में विडूडभ भी अपनी सेना सहित डूब गया^६ था।

अनोमा

शाक्य गणतन्त्र की सीमा पर बहने वाली अनोमा नदी बौद्ध साहित्य में इसलिए प्रसिद्ध है कि कपिलवस्तु से अपने महाभिनियमण के बाद यहीं पर सिद्धार्थ गौतम ने अपने राजसी वस्त्रों को त्यागते हुए उन्हें तथा अपने घोड़े कन्थक को अपने सारथी छन्दक को देकर एक सन्यासी का रूप ग्रहण किया था।^७ कनिंघम् ने इस नदी की पहचान वर्तमान काल की आमी नदी से किया है। कार्लाइल् इसे बस्ती जिले की वर्तमान कुड़वा नदी से मिलाते हैं। भिक्षु घर्मरक्षित^८ इसे देवरिया जिले की आधुनिक मझान नदी मानते हैं। टीकाओं में इसे भ्रमवश मल्ल गणतंत्र के अनूपिया नगर के किनारे से बहती हुई बताया गया है, जो प्रत्यक्षतः गलत है।

१. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो, भाग ३, पृ० ४४९।
२. अचिरावती नदी तीरे यवं वाविस्सामीति खेतं कसति।
मुत्तनिपात टीका, पृ० ५११।
३. सब्बं सस्सं समुद्दे पवेसेसि—जातक, फॉसबॉल, भाग ४, पृ० १६७।
४. पाटेसो, भाग ४, पृ० १०१।
५. धम्मपदटीका, पाटेसो, भाग ३, पृ० ३६०।
६. धम्मपद, हिन्दी अनुवाद, पृ० २८; जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० १६७; दीघनिकाय, पाटेसो, भाग १, पृ० २४४-४५; धम्मपदटीका, पाटेसो, भाग ३, पृ० ३६०।
७. बुद्धचरित, सर्ग ५; धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो, भाग १, पृ० ८५।
८. ऐंशियेंट ज्याॅग्रफी ऑफ़ इण्डिया, पृ० ४८८-४९१।
९. आर्कैलॉजिकल् सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट, भाग २७, पृ० २२४।
१०. कुशीनगर का इतिहास, पृ० ५७; बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, पृ० १०।

बाहुका

इसे बाहुलिका अथवा बहुका भी कहते थे। यह नदी कोसल जनपद के उस क्षेत्र से होकर बहती थी जो सम्भवतः श्रावस्ती के आसपास का क्षेत्र था। यह बड़ी पवित्र मानी जाती थी। इस नदी की पूजा और उसके पास यज्ञ करने के उल्लेख सुत्तपिटक^१ में मिलते हैं। इसे आधुनिक घुमेल नदी से मिलाया गया है जो राप्ती की एक सहायक नदी है।^२ मज्झिमनिकाय^३ में इसे भी एक पवित्र नदी बताया गया है, जिसमें नहाने से सारे पाप धुल जाते थे।

बाहुमती या बागमती

बुद्धकालीन बाहुमती वर्तमान काल की बागमती नदी है, जो नेपाल देश से निकलकर बिहार राज्य में बहती है।^४ नेपाल की राजधानी काठमांडू नगर इसी नदी के किनारे स्थित है।

चम्पा

अंग और मगध राज्य से बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी का नाम चम्पा था।^५ यह अंग और मगध से बीच की विभाजक सीमा थी तथा अंग राज्य की राजधानी चम्पा इसी नदी के किनारे पर बसी थी। एक जातक कथा के अनुसार चम्पेय नामक नागों का इस नदी पर अधिकार था। चम्पा नदी की आधुनिक पहचान कभी कभी चाँदन नदी से की जाती है, जो वर्तमान समय में बिहार राज्य से होकर बहती है और गंगा नदी में मिलती है।

गंगा

सुत्तपिटक^६ में इसे जम्बूद्वीप की यमुना, सरयू, मही और अचिरावती की श्रेणी में पाँचवीं महानदी कहा गया है। टीकाओं^७ में इसे अनोतत्त्व झील से निकला

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २७; जातक, फाँसबॉल, जिल्द ५, पृ० ३८८।
२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १३४।
३. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २७।
४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १३४।
५. चम्पेय जातक, फाँसबॉल, भाग ४, पृ० ४५४।
६. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ८२३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो, जिल्द ४, पृ० १०१; भाग ५, पृ० २२।
७. विशेष विवरण के लिए देखिए, डिपापाने०, भाग १, पृ० ६३४-३४।

हुआ बताया गया है। वास्तव में यह हिमालय पर्वत की गंगोत्री चोटी से निकलती है और उत्तर भारत की अनेक छोटी-बड़ी महत्वपूर्ण नदियों को अपने में समाहित करती हुई गंगासागर नामक स्थान में समुद्र में मिल जाती^१ है। गंगा नदी के किनारे बसे हुए उत्तर भारत के कई प्रमुख नगर, यथा—प्रयाग, बनारस, किम्बला, संकाश्य आदि बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। पाटलिपुत्र भी गंगा के किनारे ही स्थित था। कहीं-कहीं अयोध्या^२ और कौशाम्बी^३ को भी इसके किनारे स्थित बताया गया है, जो पूर्णतया गलत है। साकेत और अयोध्या कोसल के दो प्रमुख नगर थे, जो सरयू नदी के किनारे पर स्थित थे, न कि गंगा नदी के तट पर। गंगा नदी वत्स, कोसल, काशी, मगध, वज्जि और अंग राज्यों से होकर बहती थी।^४ टीकाओं में इसे ५०० योजन लम्बी नदी बताया गया है। इसी तरह एक जगह उसे मगध और वज्जि राष्ट्र की विभाजक सीमा भी माना^५ गया है।

बुद्धकाल में गंगा नदी जलीय व्यापार और यातायात का एक प्रमुख मार्ग थी, जिसके फलस्वरूप ही उस समय के बड़े-बड़े और प्रतिष्ठित नगर, जैसे—प्रयाग, वाराणसी और पाटलिपुत्र इसके किनारे बस गये थे।

हिरण्यवती

इस नदी की पहचान आजकल की छोटी गंडक से की गयी है, जिसे अजितवती भी कहा जाता था। मल्लों का शाल उपवत्तन इसी नदी के किनारे स्थित था।^६ इसका उद्गम-स्थल नेपाल देश का बाधवन है तथा वहाँ से यह अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर बिहार राज्य के सीवान जिले में गुठनी घाट से थोड़ा आगे जाकर सरयू नदी में मिल जाती है। राजवली^७ पाण्डेय भी इसकी पहचान छोटी गंडक से ही करते हैं। परन्तु राहुल सांकृत्यायन इसे आधुनिक सोनिया नाला से मिलाते हैं^८, जिसे हिरवा की नारी भी कहते हैं। वि० च० लाहा^९, भी इसे छोटी गण्डक

१. संयुक्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ८२३, उदान, हिन्दी, अनुवाद, पृ० ६३।
२. संयुक्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, फेणसुत्त, पृ० ३८२।
३. वहीं, पठम दारुखन्धसुत्त, पृ० ५२५।
४. सारत्थपक्कासिनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ११९।
५. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६५२।
६. दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १३७।
७. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० १०।
८. बुद्धचर्या, पृ० ५७२; भिक्षुधर्मरक्षित, बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, पृ० १०।
९. हिस्टॉ० ज्याॅग्रफी ऑफ् ऐशियेंट् इण्डिया, पृ० ३२, ६५।

ही मानते हैं। अजितवती नाम से यह कुसिनारा के समीप से होकर बहती थी।

ककुत्था

इस नदी की सर्वप्रमुख चर्चा महापरिनिर्वाण सुत्त^१ में उस समय आती है, जब बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा पावा से शुरू कर कुसिनारा पहुँचने के लिए रास्ते में इसे पार करते हैं। इसे कहीं-कहीं ककुत्था भी कहा गया है। बुद्ध ने निर्वाण के पूर्व इस नदी में स्नान किया^२ था। यह उल्लेख प्राप्त होता है कि इसका जल अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद था। कनिंघम्^३ इसकी पहचान अंधी नाला से करते हैं—जो कसया से आठ मील की दूरी पर छोटी गंडक में गिरता है। कार्लाइल्^४ इसे घाघी नदी से समीकृत करते हैं, जो गोरखपुर जनपद में स्थित चेतियाँव से डेढ़ मील पश्चिम होकर बहती है। राहुल सांकृत्यायन^५ भी इसे घाघी से ही मिलाते हैं। परन्तु ये उसे पड़रौना और कसया के बीच से बहने वाली नदी बताते हैं।

कोसिकी

इसे आजकल की कोसी^६ नदी से समीकृत किया गया है, जो बिहार के पूर्णिया जिले में बहती हुई गंगा नदी में मिलती है। इसका भी उद्गम-स्थल हिमालय ही है। किमिछन्द जातक^७ में इसे गंगा की एक सहायक शाखा बताया गया है तथा इसके किनारे तीन योजनों में फैले एक आम्रवन की भी चर्चा की गयी है।

मही

बौद्ध साहित्य में मही नदी को जम्बूद्वीप की तत्कालीन पंचमहानदियों में एक कहा गया है।^८ सुत्तनिपात^९ के धनियसुत्त से हमें यह सूचना प्राप्त होती है कि बुद्ध ने इस नदी के किनारे निवास किया था। मही आज भी एक स्वतंत्र नदी

१. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३७।
२. वहीं, पृ० १३७।
३. ऐंशियेर्ट् ज्यॉग्रफी, पृ० ३६७।
४. आ० स० रि०, जिल्द १८ (१८७५-७६), पृ० १०७।
५. बुद्धचर्या।
६. ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३७।
७. फॉसबॉल, जिल्द ५, पृ० २।
८. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ८२३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १०१; जिल्द ५, पृ० २२।
९. हिन्दी अनुवाद, पृ० ६।

है, जो सोनपुर से एक मील ऊपर बड़ी गंडक में मिलती है। वि० च० लाहा^१ इसे गंडक की सहायक नदी बताते हैं। वर्तमान समय में यह बिहार में पहलेजाघाट और सीवान जिले के बीच उत्तर-पूर्वी रेलवे को काटती हुई बिहार के ही गोपालगंज और छपरा जिलों से होकर बहती है।

नेरंजरा

सम्बोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने इसके किनारे स्थित उरुवेला नामक वगीचे में निवास किया था। टीकाओं में यह कहा गया^२ है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए घोर तपस्या करते हुए जब सिद्धार्थ गौतम को यह ज्ञात हुआ कि शरीर को घोर कष्ट देना व्यर्थ है, तो वे पंचवर्गीय^३ भिक्षुओं को छोड़कर नेरंजरा के किनारे उरुवेला में चले गये। वहाँ उन्होंने छह वर्षों तक तपस्या की थी और वहीं पर देवता मानकर सुजाता ने उन्हें सम्बोधिपूर्व खीर खिलायी थी। नेरंजरा नदी के किनारे एक सालवन भी था, जहाँ पर भगवान् सम्बोधि-प्राप्ति के पूर्व ठहरे थे।^४ अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित^५ में इसे फल्गु नदी बताया है। कुछ आधुनिक विद्वान् भी इसे फल्गु ही मानते हैं। परन्तु यह त्रुटिपूर्ण है,^६ क्योंकि मुत्तपिटक में फल्गु का उल्लेख स्वतंत्र रूप से भी है। वस्तुतः, नेरंजरा की आधुनिक पहचान निलाजना नदी से की गयी है जो हजारीबाग जिले के सिमिरिया क्षेत्र से होकर बहती है।^७

रोहिणी

यह आजकल की रोहिन या रोहवैनी है, जो नेपाल की पहाड़ियों से निकलकर बस्ती जिले के मैदानी भागों में उतरती है और गोरखपुर के पास डोमिनगढ़ में राप्ती नदी में मिल जाती है। कपिलवस्तु के शाक्यों और रामग्राम के कोलियों के बीच की सीमा का यह निर्धारण करती थी। कुणाल जातक (सं० ५३६) से यह ज्ञात होता है कि इस नदी पर एक बाँध बनाकर दोनों राज्य इसके पानी से सिंचाई करते थे। किन्तु एक बार गर्मी के दिनों में सूखा पड़ जाने पर इसके

१. ज्याग्रफी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३८।
२. मुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृ० १०७।
३. देखिए, मज्झिमनिकाय का महासच्चकमुत्त और बोधिराजकुमार सुत्त।
४. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ६८ और आगे; धम्मपद टीका, पाटोसो, जिल्द १, पृ० १७१।
५. देखिए, ज्याग्रफी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३९।
६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १३५।
७. ज्याग्रफी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३९।

सीमित जल से सिंचाई के प्रश्न पर शाक्यों और कोलियों में भयंकर संघर्ष की नौबत आयी थी। यद्यपि यह एक छोटी सी नदी है, इसमें बघेला, भदुही, पियास, बलिया, बिलुआ और कुलना^१ नामक अनेक नाले मिलते हैं, जिनके पानी से भरपूर होकर यह अवश्य ही सिंचाई के लिए अत्यन्त उपयोगी रही होगी।

सरभू अथवा सरयू

पालि साहित्य में वर्णित सरभू नदी आजकल की सरयू नदी है। हिमालय पर्वत की कुमायूँ की ऊपरी पहाड़ियों से निकलकर एक बड़े भारी पहाड़ी रास्ते को पार करती हुई यह पूर्वी उत्तर प्रदेश के मैदानों में गिरती है तथा सरयू, घाघरा, देहवा अथवा देवा^२ जैसे अनेक नामों से पुकारी जाती है। यह जम्बूद्वीप की पंच-महानदियों में से एक नदी थी।^३ चौड़ी और भरपूर जल वाली होने के कारण यह बुद्ध के समय में व्यापार का बड़ा भारी मार्ग थी। बुद्धकाल की एक दूसरी महानदी अचिरावती या राप्ती इसकी सहायिका थी। सरयू अञ्जनवन से होकर बहती थी और साकेत और अयोध्या इसके किनारे स्थित थे। वर्तमान काल में यह गंगा नदी की एक प्रमुख सहायक नदी है।

सर्पिणी

यह नदी राजगृह के पास से उसके और अन्धकविन्द के बीच से होकर बहती थी। इसे सर्पिणी नदी भी कहते थे। संयुत्तनिकाय^४ के अनुसार यह राजगृह से ही होकर बहती थी। संभवतः यह गृद्धकूट पर्वत से निकलती थी। बुद्ध के समय इसके किनारे पर परिव्राजकाराम था, जिसमें प्रमुख बौद्ध परिव्राजक (भिक्षु) रहते थे।^५ इस नदी को आजकल की पञ्चान नदी से मिलाते हैं।^६

१. राजबली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ९।
२. नंदलाल डे, ज्याॅग्रफिकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐशियेट् एण्ड मेडिवल् इण्डिया, पृ० १८१-८२।
३. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १०१, १९१, २०२; जिल्द ५, पृ० २२; संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १३५; जिल्द ५, पृ० ४०१।
४. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० १२५।
५. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १८५; जिल्द २, पृ० २९।
६. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० १०३।

सुन्दरिका

यह कोसल जनपद से होकर बहने वाली एक नदी थी, जिसके किनारे पर सुन्दरिक भारद्वाज का आश्रम था ।^१ मज्झिमनिकाय^२ में इसे पापों को धोने वाली नदी बताया गया है । वाल्मीकिरामायण^३ में इसे स्यन्दिका कहा गया है । यह कोसल राज्य की दक्षिणी सीमा का निर्धारण करती थी । इसे आजकल की सई नदी से मिलते हैं, जो उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ और जौनपुर जिलों से होती हुई, जौनपुर और बनारस के बीच में गोमती नदी में मिल जाती है ।

सदानीरा

सदानीरा आजकल की बड़ी गंडक है, जिसे शतपथ ब्राह्मण में कोसल और विदेह की सीमा निर्धारण करने वाली नदी बताया गया है ।^४ हिमालय की बर्फीली पहाड़ियों से निकलकर नेपाल की तराइयों से होते हुए यह बिहार में सोनपुर के पास गंगा नदी में मिलती है । इसमें साल के सभी महीनों में अथाह जल होने के कारण ही कदाचित् इसका नाम सदानीरा पड़ा । इसे उत्तरी बिहार और नेपाल में नारायणी और शालिग्रामी नामों से भी पुकारा जाता है ।

फल्गु

बोधगया से थोड़ी दूर पर बहने वाली फल्गु नदी आज भी बिहार की कई प्रसिद्ध नदियों में एक है ।^५ किन्तु कुछ लोग यह भी मानते हैं कि जब नेरंजरा और मोहना नदियाँ आपस में मिलते हुए एक होकर बहने लगती हैं, तब वे फल्गु कहलाती हैं ।

वेत्रणी

महानिरय अथवा यमराज से मिलने वाले दण्ड की प्राप्ति से वेत्रणी अथवा वेत्रणी को जोड़ा गया^६ है । बुद्धघोष ने इसे खारोदिका अर्थात् क्षारीय जल वाली नदी कहा है ।^७ उसे पार करते हुए जो अनेक कष्ट होते हैं, उनका विवरण भी

१. सुत्तनिपात, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८९ और आगे; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० १३४ और आगे ।
२. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६ ।
३. द्वितीय, ४९, १२ ।
४. सैक्रेड बुक्स ऑफ् दि ईष्ट, जिल्द १२, पृ० १०४ ।
५. बरुआ, गया ऐण्ड बोधगया, पृ० १०१ ।
६. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २२; सुत्तनिपात, श्लोक ६७४ ।
७. सुत्तनिपात टीका, पाटेशो, जिल्द २, पृ० ४२८ ।

बुद्धघोष देते हैं। यह स्पष्टतः ही एक काल्पनिक नदी है और बौद्ध साहित्य में भी उसी रूप में उल्लिखित है जैसे ब्राह्मण साहित्य में।

यमुना

इसे जम्बूद्वीप की पाँच बड़ी महानदियों में एक बताया गया^१ है। इसी नदी के किनारे कौशाम्बी और मथुरा नामक नगर बसे थे। त्रिपिटक की टीकाओं में इस नदी को भी अनोतट झील से निकला हुआ कहा गया^२ है। वास्तव में यह यमुनोत्री नामक हिमालय की चोटी से निकलती है और इलाहाबाद में संगम बनाती हुई गंगा नदी में मिलती है। थेरोगाथा की टीका में कहा गया है कि स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए नवजात शिशुओं को इसमें नहलाया जाता था।^३ इस नदी को नागराजाओं के क्षेत्र से बहती हुई कहा गया है। सम्भवतः इस नदी के किनारे, विशेषतः मथुरा के आसपास के क्षेत्र में, नागदेवों की पूजा के अनेक केन्द्र थे, जिनके विषय में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक साक्ष्य हमें मिलते हैं।

जलाशय : गग्गरापोक्खरिणी

गग्गरा पोक्खरिणी नामक चम्पा नगर में स्थित कमल के फूल उत्पन्न करने वाली एक पुष्करिणी थी। बुद्ध ने इस पुष्करिणी के किनारे कई बार निवास किया था। मज्झिमनिकाय के कन्दरक सुत्त (२/१/१) का उपदेश वहीं पर दिया गया था। वहीं पर बुद्ध ने सारिपुत्र के कहने पर एक अन्य अवसर पर दान के महत्त्व पर उपदेश किया।^४ सोणदण्डसुत्त^५ भी वहीं पर उपदिष्ट हुआ था। इसका गग्गरा नाम वहाँ की रानी के नाम पर पड़ा था। इस पुष्करिणी के किनारे चंपक के सुन्दर बगीचे थे, जहाँ पर बुद्ध निवास किया करते थे। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि जेतवन का कमलसर और गग्गरा पोक्खरिणी समान प्रसिद्धि वाले तालाब थे, जो भिक्षुओं के ध्यान लगाने हेतु बड़े उत्तम स्थान थे।^६

देवदह पोक्खरिणी

कपिलवस्तु से लुम्बिनी वन जाते हुए देवदह नामक कोलियों का निगम था, जिसके किनारे एक तालाब था। उसे देवदहसर या देवदह पोक्खरिणी कहते थे।

१. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ४, पृ० १०१, १९१, २०२; जिल्द ५, पृ० २२; संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १३५, जि० ५; पृ० ४०१।
२. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ६८४।
३. वहीं।
४. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ४, पृ० ५९ और आगे।
५. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४४।
६. डिपापाने०, जिल्द १, पृ० ७३२।

इसका दूसरा नाम मंगलदह भी था। इसका यह नाम पड़ने का प्रथम कारण यह था कि पहले उसमें कोलिय राजा जलक्रीड़ाएँ किया करते थे तथा दूसरा यह कि इसके सम्बन्ध में यह मान्यता थी कि इसका निर्माण देवताओं ने किया था, मनुष्यों ने नहीं।^१ भगवान् बुद्ध को राहुल के परिनिर्वाण का समाचार यहीं पर मिला था।

सुमागधा

राजगृह के पास यह एक कमलदह था। इस तालाब^२ के किनारे मोरनीवास था। वहाँ से थोड़ी दूर पर परिव्राजकाराम था। उम्बरिका सौहनावसुत्त^३ का उपदेश भगवान् ने यहीं पर किया था।

छन्द

हिमालय की सात मुख्य झीलों में से छन्द एक थी, जिसकी लम्बाई को १०० योजन और चौड़ाई को ५० योजन कहा गया है। इस झील में कुमुद के फूल बहुतायत से खिलते थे और इसके किनारे पर सात पहाड़ियाँ थीं, जिनके नाम थे—चुल्लकाल, महाकाल, उदक, चन्दपस्स, सूर्यपस्स, मणिपस्स और सुवण्णपस्स। इस झील के पश्चिमी किनारे पर केचनगुश^४ थी। इस झील की चर्चा अंगुत्तरनिकाय में प्राप्त होती है। परन्तु इसकी ठीक-ठीक पहचान सम्भव नहीं हो सकी है।^५

वन और उद्यान

बुद्ध काल में सारा पूर्वोत्तर भारत छोटे अथवा बड़े वनों और उद्यानों से भरा था। पूर्वी उत्तर प्रदेश का देवरिया जिला वन्य प्रदेशों का एक प्रमुख क्षेत्र रहा है। बिहार का चम्पारन जिला प्राचीन चम्पारण्य था और सारन जिले का नाम भी वनवाचक ही जान पड़ता है। उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के उत्तर के तराई प्रदेश नैमिषारण्य के अवशेष हैं। वहाँ से लेकर पूर्व में उत्तर-पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार होते हुए हिमालय की तलहटियों के ये वन्य प्रदेश बंगाल की खाड़ी में समुद्र के किनारे तक विस्तृत थे। इस वन्य क्षेत्र के अनेक वनों के नाम पालि साहित्य के सुत्तपिटक में मिलते हैं। परन्तु वहाँ छोटे आकार वाले अथवा

१. देवा उच्चन्ति राजानां तेषाम् मंगलदहो; सयं जातो वा सो दहो, तत्मापि देवदहो। डिपापाने०, जिल्द १, पृ० १११२ पर उद्धृत।
२. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, भूमिका, पृ० १०।
३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २२६।
४. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १०१; जातक, फॉसबॉल, जिल्द, ५, पृ० ३७; मनोरथपूरणी, पाटेसो, जिल्द २, पृ० ७५९।
५. वि० च० लाहा, ज्यांग्रफी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३६।

बड़े आकार वाले सभी वनों अथवा जंगलों को वन कहा गया है और एक ही नाम के कई वन कई स्थानों पर स्थित बताये गये हैं, जैसे सिसपावन, आम्रवन और शालवन । ये वन आकार में छोटे अथवा बड़े दोनों प्रकार के थे जो या तो केवल उद्यान की तरह थे अथवा बड़े बगीचों की तरह या घने जंगलों की तरह अथवा विशाल क्षेत्र में फैले हुए एवं अनेक प्रकार के पेड़ों, पौधों, झुरमुटों, लताओं आदि से घिरे-भरे हुए महावनों की तरह थे । इन अपेक्षाकृत बड़े वनों को दृष्टि में रखकर ही महावन शब्द का व्यवहार होता था । अनेक बड़े-बड़े नगरों के समीप भी इस प्रकार के महावनों की चर्चयें मिलती हैं, यथा—कपिलवस्तु का महावन, कौशाम्बी का महावन आदि । परन्तु बुद्धघोष के अनुसार^१ केवल कपिलवस्तु से वैशाली तक फैले हुए वन मात्र को महावन कहते थे । बुद्ध ने इन अरण्यों के बीच से कई बार एक से दूसरे नगरों की यात्रायें की थीं, और कभी-कभी उनमें निवास भी किया था । कुछ ऐसे ही वनों में उनके रहने योग्य सुन्दर विहारों आदि के भी निर्माण हो गये थे, जहाँ पर उन्होंने कभी-कभी अपना पूरा वर्षावास ही बिताया था ।

वनों से होकर अनेक बड़े-बड़े राजमार्ग और व्यापारिक मार्ग देश के विभिन्न भागों में जाते थे, जो नगरों को आपस में जोड़ने का काम करते थे । वैशाली की प्रसिद्ध कूटागारशाला वहाँ के महावन में ही स्थित कही गयी है । सयुत्तनिकाय^२ के अनुसार भगवान् इस कूटागारशाला में कई बार ठहरे थे और अनेक सुत्तों का उपदेश किया था । यह भी ज्ञात होता है कि इस महावन में तथागत ने एक बार अपने पूरे भिक्षु संघ के साथ विहार किया था । आगे सुत्तपिटक में उल्लिखित केवल उन्हीं वनों का उल्लेख किया जायगा, जो पूर्वोत्तर भारत की परिधि के अन्तर्गत आते हैं ।

अञ्जनवन

अञ्जनवन को अंचनवन भी कहते थे । यह साकेत में स्थित एक बगीचा था । यहाँ एक मृगदाव था, जहाँ बुद्ध ठहरा करते थे । यहीं पर भगवान् ने साकेतसुत्त और साकेत जातक का उपदेश दिया था तथा कुडलिय नामक परिव्राजक से धार्मिक और सामाजिक विषयों पर वार्तालाप किया था ।

१. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १५२ ।

२. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ४९६, ५३८, ६०७, ७३८ आदि ।

अन्धवन

श्रावस्ती से एक गाउत की दूरी पर अन्धवन स्थित था। इसमें डाकुओं का भी निवास था, जो कभी-कभी उत्पात मचाते थे। एक बार वहाँ सोरट नामक भिक्षु का वधकर देने के कारण वे सभी अंधे हो गये और तब उस वन का नाम ही अन्धवन पड़ गया। इस वन में भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक ध्यानशाला बनी हुई थी। बुद्ध ने यहीं पर राहुल को उपदेश दिया था। यहीं पर चूलराहुलोवादसुत्तन का भी उपदेश हुआ था।

आम्रवन

सुत्तपिटक में कई स्थानों पर आम्रवनों की चर्चायें आती हैं। एक आम्रवन राजगृह में था, जिसे जीवक नामक प्रसिद्ध राजवैद्य ने बौद्ध भिक्षुओं को दान में दिया था। वहाँ उसने एक विहार भी बनवाया, जहाँ पर बुद्ध कई बार ठहरे थे। अजातशत्रु ने इसी आम्रवन में बुद्ध का दर्शन किया था और सामञ्जसलसुत्त^१ का उपदेश सुना था। जीवक और शुभा नामक भिक्षुणी के नाम पर इसे शुभाजीव-काम्बवनिका भी कहा गया^२ है।

एक अन्य आम्रवन मल्लों के अनुपिया नामक नगर में^३ था। अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद राजगृह जाते हुए बुद्ध भगवान् ने इस आम्रवन में सात दिन बिताये थे।^४

एक अन्य आम्रवन वैशाली में था, जिसकी स्वामिनी अम्बपाली नामक गणिका थी। उसे उसने भिक्षुसंघ को दान कर दिया था। इस आम्रवन में बुद्ध वैशाली से कुसिनारा तक की अपनी अन्तिम यात्रा के समय टिके^५ थे।

वाराणसी में भी एक आम्रवन था, जो खेयम्बिवन कहलाता था। नालन्दा में स्थित एक अन्य आम्रवन था, जिसे पावारिक ने लगवाया था और उसके नाम पर उसे पावारिकाम्बवन^६ भी कहते थे। बुद्ध अपनी एक यात्रा में यहाँ पर टिके थे और उपदेश किया था।

१. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० १।२, पृ० १६।

२. थेरगाथा, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० ३३, ७६।

३. मनोरथपूरणी, पाटेसो०, पृ० २७४।

४. विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १८०।

५. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १२७।

६. वहीं, पृ० १२२।

कण्टकीवन अथवा तिकण्टकीवन

यह साकेत के पास स्थित एक वन था, जहाँ पर सारिपुत्त और मोग्गलान्न के बीच एक बार बातचीत हुई थी। पदेससुत्त और कण्टकीसुत्त में इसकी चर्चायें मिलती हैं।^१

इच्छानंगल वनखण्ड

यह कोसल जनपद में इच्छानंगल नामक ग्राम में स्थित था। भगवान् बुद्ध ने यहाँ पर एक बार निवास किया था।^२

जेतवन

सुत्तपिटक में वर्णित सबसे प्रसिद्ध वन का नाम जेतवन था। प्रारम्भ में यह जेत नामक राजकुमार का एक सुन्दर बगीचा था, जो उसे अति प्रिय था। श्रावस्ती के सेठ अनाथपिण्डिक नामक गृहपति ने जब बुद्ध को श्रावस्ती आने का निमन्त्रण दिया तो उसने एक ऐसे स्थान की तलाश शुरू की जो न तो नगर से बहुत दूर हो न तो बहुत पास, न तो बहुत एकाकी हो और न बहुत जनाकीर्ण। उसकी दृष्टि जेतवन पर पड़ी और उसने, बौद्ध मान्यता के अनुसार, राजकुमार जेत से यह वन उतनी मुद्रायें देकर प्राप्त किया जितने से उसकी पूरी भूमि ढकी जा सकी।^३

जेतवन के नजदीक बुद्ध ने अपने पचीस वर्षावास व्यतीत किए और त्रिपिटक के अनेक सुत्तों का उपदेश किया। बुद्ध के अनेक शिष्यों के वहाँ रहने की चर्चायें प्राप्त होती हैं। जेतवन उस मार्ग पर स्थित था, जो श्रावस्ती होकर जाने वाला राजमार्ग था।^४ जेतवन की पहचान आधुनिक सहेट नामक गाँव से की जाती है जो गोण्डा और बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित है।

जातियवन

अंगुत्तरनिकाय अंग जनपद में स्थित भद्रियनगर^५ के समीप स्थित जातियवन की चर्चा करता है। समन्तपासादिका^६ में भी इसका उल्लेख मिलता है। इसका

१. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ६५२, ६९८।

२. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० ३० और ३४१, जिल्द ४, पृ० ३४०; सुत्तनिपात्त, हिन्दी अनुवाद, पृ० १५९, १६१।

३. बोध गया और भरहुत की कला में इसका अंकन प्राप्त होता है।

४. डिपापाने०, जिल्द १, पृ० ९६३-९६६।

५. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० ३६।

६. पाटोसो०, जिल्द १, पृ० २८०।

जातियवन नाम पड़ने का कारण यह था कि इस वन में जाति या जायफल के वृक्षों की अधिकता थी ।

लट्टिवन

यह गया जिले में तपोवन से दो मील उत्तर में स्थित था । मनोरथपुरणी के अनुसार इस लट्टिवन में ही मगध का राजा बिम्बिसार बुद्ध से मिलने गया था और वहाँ उनके उपदेश सुनकर बौद्ध मत को मानने वाला हो गया^१ ।

लुम्बिनीवन

यह वन सिद्धार्थ गौतम की जन्मभूमि के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और बौद्ध धर्म के चार प्रमुख तीर्थों में एक हो गया ।^२ यह कपिलवस्तु और देवदह के बीच में स्थित था । यहाँ एक बहुत बड़ा शालवन था । लुम्बिनीवन आजकल का रुम्मिनदेई है, जो नेपाल की तराई में भगवानपुर नामक प्रसिद्ध गाँव से थोड़ी दूर पर स्थित है । फ्राइयेन् लुम्बिनीवन की स्थिति कपिलवस्तु से ५० ली पूर्व बताता है ।^३

महावन

संयुत्तनिकाय^४ इसे कपिलवस्तु में स्थित बताता है । बुद्धघोष के अनुसार यह एक प्राकृतिक वन था, जो वैशाली नगर से प्रारंभकर हिमालय पर्वत के पास तक के एक विशाल भू-क्षेत्र में फैला हुआ था ।^५ अलग-अलग स्थलों पर कपिलवस्तु और वैशाली के समीप के महावनों की चर्चियाँ ऊपर की जा चुकी हैं ।

शीतवन या सीतवन

राजगृह में स्थित एक श्मशान का क्षेत्र सीतवन कहलाता था, जहाँ पर भगवान् बुद्ध ने कई बार निवास किया था । अनाथपिण्डिक ने यहीं पर सबसे पहले बुद्ध का दर्शन किया था ।^६

१. वि० च० लाहा, ज्याग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, १९३३ संस्करण, पृ० ४५ ।

२. दीधनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४१ ।

३. गाइल्स, ट्रेवेल्स् ऑफ फाह्यान, पृ० ३८ ।

४. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २६-२८ ।

५. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३०९; संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २९ ।

६. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४५९ ।

सिसपावन

कोसल जनपद में स्थित सेतव्या नगर के उत्तर में सिसपावन था।^१ इसमें शीशम के पेड़ों की अधिकता होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। कोशाम्बी और आलवी में भी इसी तरह के सिसपावन थे।^२

शालवन

यह मल्ल जनपद में स्थित था। बौद्ध साहित्य में इसका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे उपवत्तनशालवन भी कहते थे। यहीं पर बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था।^३

बड़े अथवा मध्यम वनों के अतिरिक्त शाल, शीशम, आम्र अथवा अन्य छोटे-बड़े पेड़ों से संकुल छोटे-बड़े उद्यान कई स्थानों पर थे, जिन्हें दाव, उपवत्तन अथवा वन जैसे कई नाम दिये जाते थे। हिरण्यवती के किनारे स्थित मल्लों का शाल उपवत्तन बहुत प्रसिद्ध था। राजगृह के दक्षिण-पश्चिम में स्थित यण्टिवन था। इसका यह नाम पड़ने का कारण सम्भवतः यह था कि छड़ी बनाने लायक लकड़ी अथवा बाँस इसमें खूब मिलते थे। इसकी पहचान आधुनिक जठियान से की गयी है।^४ एक नागवन की भी चर्चा मिलती है जो वज्जि जनपद के हत्थिगाम के निकट स्थित था।^५

कोशाम्बी के समीप पारिलेय्यक^६ वन और उसी नाम का एक नगर था। इस वन-खण्ड में भगवान् ने दसवाँ वर्षावास बिताया था और वहीं पारिलेय्यक सुत्त का उपदेश किया था।

सुत्तपिटक में कई उद्यानों की भी चर्चायें प्राप्त होती हैं, जिनमें से अनेक भगवान् बुद्ध के निवास स्थल बने थे। राजगृह में स्थित कलन्दकनिवाप नामक

१. दीघनिकाय, सारसाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९९।
२. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ८१४; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १३६।
३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४०-१४१।
४. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, भूमिका, पृ० ११।
५. देखिए, वि० च० लाहा०, ज्याग्रफी ऑफ अली बुद्धिज्म, १९७३ संस्करण, पृ० ४५।
६. भरत सिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४३१; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० ३६३।

उद्यान में कलन्दक अथवा गिलहरियों को अभयदान प्राप्त था।^१ साकेत के पास स्थित अंजनवन का मृगदाय मृगों के विचरण का क्षेत्र था। यह काले रंग के फूलों और वृक्षों से सुशोभित था।^२ राजगृह में स्थित एक सुरस्य स्थान मदकुच्छि-मृगदाय था। इस मृगक्षेत्र का विवरण विनयपिटक^३ में प्राप्त होता है। राजगृह में सुमागधा पुष्करिणी के किनारे स्थित मोरनिवाप था, जहाँ पर मोरों का बाहुल्य था। बुद्ध एक बार यहाँ पर आये थे।^४ संसुमारगिरि के पास भेसकलावन नामक एक अन्य प्रसिद्ध मृगदाय था। राजगृह का वेणुवन बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रमुख केन्द्र था। विनयपिटक के अनुसार^५ यह न तो गाँव से अधिक दूर था और न तो अधिक पास और एकांतवास के लिए अत्यन्त उत्तम था। इस दृष्टि से इसकी तुलना श्रावस्ती के जेतवन से की जा सकती है। इन छोटे-बड़े सभी उद्यानों में सर्वाधिक प्रसिद्ध था आधुनिक सारनाथ में स्थित प्राचीन इसिपत्तन मृगदाय। मृगों के विचरण का यह प्रसिद्ध उद्यान भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेश स्थान बन जाने के कारण एक प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ हो गया।^६ अपने पूर्व जन्म में बोधिसत्त्व के रूप में उत्पन्न होने वाले काशी के एक ब्रह्मदत्त नामक राजा ने यहाँ के मृगों को अभयदान दिया था और तभी से यह क्षेत्र प्रसिद्ध हो गया।^७

पर्वत और गुहा

छन्दकूट

राजगृह के पास स्थित यह एक पर्वत था, जिसका उल्लेख छन्दकसुत्त^८ में हुआ है। सारत्थपक्कासिनी^९ में कहा गया है कि इन्द्र नामक यक्ष के नाम पर इसका नाम पड़ा।

१. समन्तपासादिका, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ५७५; पपञ्चसूदनी, पाटेसो, जिल्द १, पृ० १३८।
२. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, भूमिका, पृ० ११।
३. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४० और ३९६।
४. देखिए, वि० च० लाहा, ज्याग्रफी ऑफ अली बुद्धिज्म, पृ० ४५।
५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ९७-९८।
६. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४१।
७. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६५; जातक सं० १२, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० २४३-२४७।
८. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० १६४।
९. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३००।

गयाशीर्ष

मगध में स्थित एक पर्वत गयाशीर्ष कहलाता था। कर्निधम्^१ ने इसकी पहचान आजकल के ब्रह्मयोनि पर्वत से की है। हाथी के सिर (गजशीश) से इसके आकार की अद्भुत समानता होने के कारण बुद्धघोष इसकी गयाशीर्ष नामोत्पत्ति बताते हैं।^२ महाभारत और पुराणों में इस पर्वत की चर्चा की गयी है। गौतम बुद्ध ने अपनी उत्खेला की यात्रा में यहाँ उपदेश किया था।

गृद्धकूट

राजगृह में स्थित गृद्धकूट (गिज्जकूट) पर्वत का नाम गृद्धों के सिर के समान होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ।^३ यहाँ पर बुद्ध ने बहुत दिनों तक रहकर उपदेश किया।

चोरपाट

यह राजगृह के पास स्थित एक पहाड़ था, जिसका उल्लेख महापरिनिब्बान-सुत्त^४ और विनयपिटक^५ में मिलता है। धम्मपद की अट्ठकथा के अनुसार इसका नाम पड़ने का कारण यह था कि दण्डस्वरूप चोर यहाँ से नीचे को गिरा दिये जाते थे।

हिमवा अथवा हिमवन्त

पूरे हिमालय पर्वत का नाम हिमवन्त था। अंगुत्तरनिकाय^६ में इसे पर्वतराज कहा गया है। कुणाल जातक में भी इसकी चर्चा आती है। मिलिन्दपञ्चो^७ इसे पाँच सौ नदियों का उद्गम स्थल बताता है और उसी के अनुसार यह तीस हजार योजन के क्षेत्र में फैला हुआ था।

अन्य पहाड़ियाँ

राजगृह के पास स्थित अनेक पहाड़ियों के नाम सुत्तपिटक में प्राप्त होते हैं। इसिगिल पहाड़ी का उल्लेख मज्झिमनिकाय^८ के इसिगिलसुत्तन्त में

१. ऐशियेंट् ज्यॉग्रफी, पृ० ५२१-५२४।
२. सारत्थपक्कासिनी, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ४।
३. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६३; समन्तपासादिका, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० २८५।
४. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १३४।
५. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३९६।
६. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १५२।
७. देखिए, वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४२।
८. हिन्दी अनुवाद, सारनाथ सुत्त सं० २/२/६, पृ० ४८५।

मिलता है। कनिंघम्^१ के अनुसार राजगृह से रत्नागिरि जाने वाले मार्ग में यह पहाड़ी स्थित थी और राजगृह में स्थित पाँच पहाड़ियों में से एक थी। इसी पहाड़ी के पास कालशिला^२ नामक एक स्थान था, जहाँ पर निर्ग्रन्थ (जैन) साधु बैठकर प्रतीक्षा करते थे। राजगृह के पास स्थित एक अन्य पर्वत वैपुल्ल कहलाता था, जिसे पाचीनवंश भी कहते थे।^३ यह गृद्धकूट पर्वत के उत्तर में पड़ता था। राजगृह में झुके हुए आकार वाले साँप के फन के समान सप्पसोणिकपवभार^४ नामक एक अन्य लम्बा पर्वत था। वेभार पर्वत भी राजगृह में ही स्थित था, जिसकी सप्तपर्णी गुहा बौद्ध धर्म की पहली संगीति का स्थल होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गयी^५। इसका उल्लेख महापरिनिब्बानसुत्त में भी प्राप्त होता है। इसे आजकल भी वैभारगिरि ही कहते हैं।

राजगृह के पास स्थित अम्बसण्ड नामक ब्राह्मण गाँव के वैदिक पर्वत में इन्दसाल गुहा थी। वहीं पर पिप्पलगुहा भी थी, जिसकी स्थिति श्वान्-च्चाङ्ग् विपुल्ल पर्वत के गरम सोते के आसपास बताता है। इन्दसाल गुहा की पहचान वर्तमान समय के गिर्यक् पहाड़ी से की जाती है, जो राजगिरि से छह मील की दूरी पर स्थित है।^६

१. ऐंशियेर्ट् ज्यॉग्रफी, पृ० ५३१।

२. वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४२।

३. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २७४।

४. देखिए, वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४३।

५. विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३९६; दीर्घनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३४।

६. देखिए, वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४२।

तृतीय अध्याय

भौगोलिक स्थिति (ख) : महाजनपद-जनपद, महानगर-नगर एवं ग्राम-निगम

महाजनपद एवं जनपद

बुद्ध का युग महाजनपदों का युग कहलाता है। जनपद शब्द का प्रयोग हमें वैदिक आर्य संस्कृति के समय से ही प्राप्त होता है। उसी समय जनों का जनपदों में विकास हुआ और कालान्तर में बुद्ध और महावीर के समय में सोलह महाजनपदों की स्थापना हुई। प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि ग्राम, नगर, और निगमों के सम्मिलित स्वरूप को ही जनपद कहते थे। पालि पिटकों में जनपद शब्द का प्रयोग बहुत आदर के साथ किया गया है। वहाँ वर्णित है कि बुद्ध अपने भिक्षु संघ के साथ विभिन्न जनपदों में यात्रा करते थे। बुद्ध काल में काशी, कोसल, अंग, मगध, वत्स, वज्जि और मल्ल जैसे प्रसिद्ध जनपदों की चर्चाएँ, प्रमुख रूप में अगुत्तरनिकाय^२ में, बार-बार आती हैं। इन सभी जनपदों एवं महाजनपदों का वर्णन आगे किया जायगा।

काशी

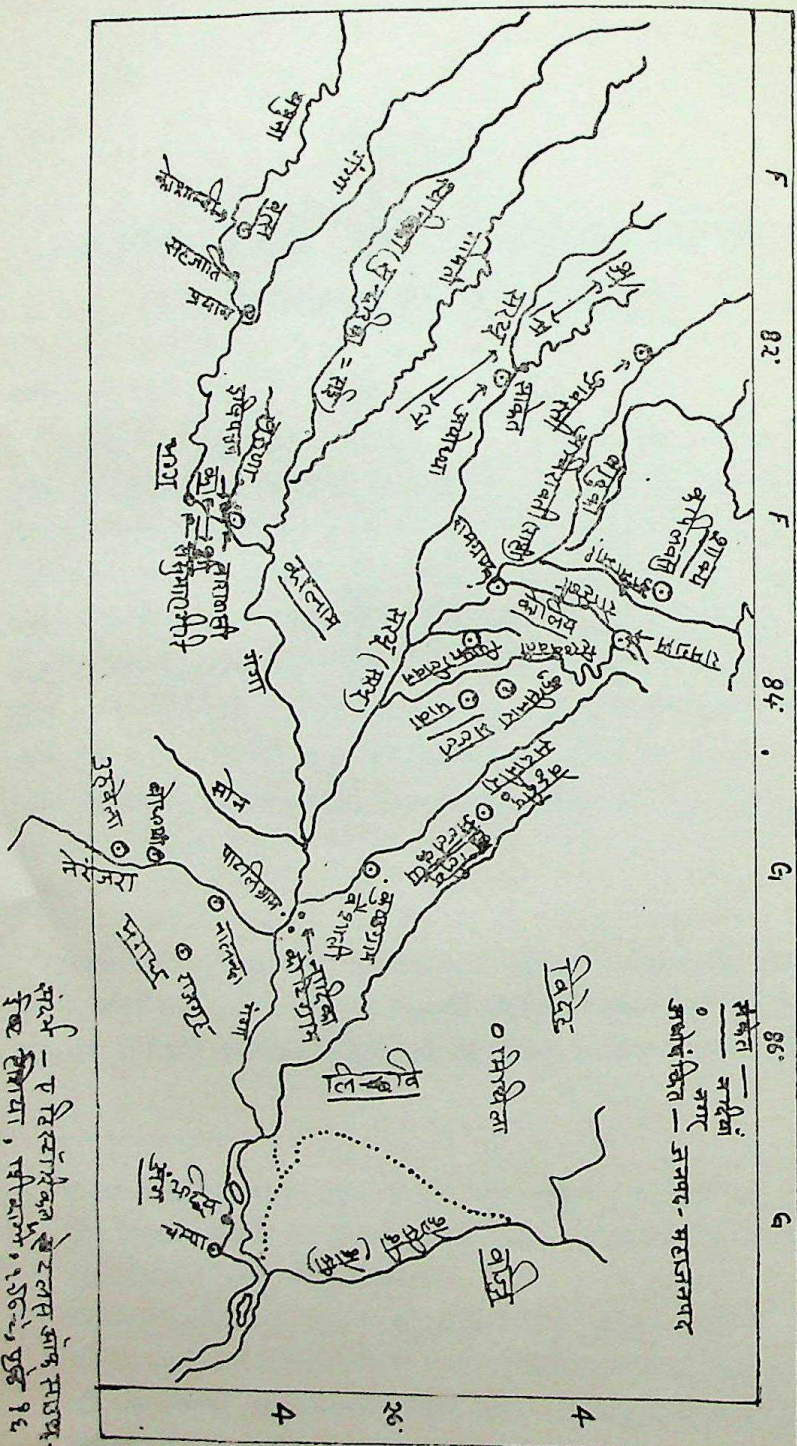
काशी महाजनपदों की श्रेणी में आता था। यह वत्स महाजनपद के उत्तर-पूर्व में, अधिकांशतः पूर्व में, स्थित था। इसकी राजधानी वाराणसी थी। वाराणसी नाम गंगा में मिलने वाली वरुणा और असी नामक नाले के बीच में स्थित होने के

१. देखिए, तैत्तिरीय ब्राह्मण, प्रथम, ४.६; शतपथ ब्राह्मण, चौदहवाँ ५.१.२०; और देखिए, इण्डिया ऐज् नोन टु पाणिनि, वा० श० अग्रवाल; जनपद स्टेट इन ऐशियेण्ट इण्डिया, सुदामा मिश्र।

२. कलकत्ता, हिन्दी अनु०, पृ० ३२६, ३३०, ३३३; पाटेलो० भाग १ पृ० २१३; भाग ४ पृ० २५२, २५६, २६०। दीघनिकाय के जनवसभसुत्त में भी दस जनपदों, काशी-कोसल, वज्जि मल्ल, चेति-वंस, कुरुपञ्चाल तथा मच्छ-सूरसेन का उल्लेख हुआ है।

बौद्ध धर्म की चर्चा भारत की
नादिया : नगर, जनपद - महानगर

संकेत - नदी
जनपद - महानगर
जनपद - महानगर



संकेत - नदी
जनपद - महानगर
जनपद - महानगर

कारण पड़ा।^१ कीथ और मैकडॉनेल् ने वाराणसी को वरणावती (नदी) से मिलाया^२ है। रीज्डेविड्स^३ का मत है कि गौतम बुद्ध के कुछ समय पूर्व अपनी चरमशक्ति के दिनों में काशी राज्य का विस्तार लगभग १२ योजन था। कहीं-कहीं जातकों^४ में इसका क्षेत्रफल दो सौ योजन बताया गया है, जो स्पष्टतः गलत है। काशी जनपद के उत्तर में कोसल, पूर्व में मगध और पश्चिम में वत्स जनपद था। पालि-निकायों^५ के अनुसार यहाँ सात रत्नों की अधिकता थी और उसी के कारण उसके पास के चारों ओर के सात राज्यों के राजा उसपर गृहदृष्टि लगाये रहते थे। काशी के साथ जिन स्थानों की प्रमुख रूप से चर्चा आती है, वे हैं—वासभगाम, कीटागिरि, मच्छिकासण्ड और धनपालगाम^६। किन्तु काशी का सबसे प्रमुख क्षेत्र था ऋषिपत्तन मृगदाव (मृगदाय), जो आजकल का सारनाथ है। वहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश देते हुए अपने धर्म का प्रवर्तन किया था।^७ तभी से ऋषिपत्तन बौद्धों के चार तीर्थों में से एक के रूप में प्रसिद्ध हो गया।^८ जातकों में काशी की बार-बार चर्चा आती है, जहाँ के राजाओं को ब्रह्मदत्त^९ कहा गया है। काशी व्यापार का एक बड़ा भारी केन्द्र था, जिसके कारण यहाँ की बस्ती बड़ी घनी थी और उसकी धन-सम्पत्ति का सब जगह नाम था। काशी से प्रायः भारत के सभी प्रसिद्ध नगरों को सड़कें जाती थीं। यह कोशाम्बी, प्रयाग, पाटलि-पुत्र, साकेत, अयोध्या और श्रावस्ती जैसे अनेक नजदीकी नगरों से राजमार्गों द्वारा जुड़ा हुआ था। यह दक्षिण में उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, पश्चिम में भृगुकच्छ तथा मथुरा और उत्तर में तक्षशिला तथा पूर्व में चम्पा, राजगृह, मिथिला और वैशाली

१. कर्त्तिघम्, ऐशियेण्ट् ज्याॅग्रफी ऑफ् इण्डिया, पृ० ५००।

२. वेदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १५४।

३. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ३४; जातक, फॉसबॉल संस्करण, भाग ६, पृ० १६०।

४. जातक, फॉसबॉल संस्करण, भाग ३, पृ० ३०४, ३९१; भाग ५, पृ० ४१।

५. अंगुत्तर निकाय, पाटेसो०, भाग १, पृ० २१३; भाग ४ पृ० २५२, २५६, २६०; भोजजानिय जातक, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २७९।

६. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, भाग ५, पृ० ५९; देखिए, विमलाचरण लाहा, इण्डिया ऐज् डिस्क्रीडिन्ग् इन् टेक्स्ट्स् ऑफ् बुद्धिज्म ऐण्ड् जैनिज्म, पृ० ४२।

७. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, भाग १ पृ० १७०; संयुत्तनिकाय०, पाटेसो, भाग ५, पृ० ४२०।

८. इध तथागतैन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तिंत'ति आनंद, सद्धस्स कुलपुत्तस्स, दस्सनीयं संवेजनीयं ठातं। दीघनिकाय, पालि, भाग १, पृ० १०९।

९. डिपापाने०, भाग १, पृ० ५९२।

जैसे नगरों से भी राजमार्गों से जुड़ा हुआ था।^१ काशी के व्यापार की वस्तुओं में रेशम, इत्र एवं गंध बड़े प्रसिद्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों में 'कासी-विलेपन' और 'कासी चन्दन' की बहुत अधिक चर्चाएँ आती हैं।^२

काशी राज्य का पुराना नाम कासीपुर (कासोनपुर) था, जो अखिल राष्ट्र का परिचायक माना जाता था। उसके अन्तर्गत अनेक ग्राम और निगम थे, जिनमें बुद्ध अपने भिक्षु समुदाय के साथ यदा-कदा भ्रमण करते रहते थे।^३

कोसल

कोसल जनपद अंगुत्तरनिकाय^४ के सोलह महाजनपदों में अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसकी भौगोलिक स्थिति भारत के उत्तर-पूर्वी भागों में थी और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार यह मध्यदेश का भाग था। दीघनिकाय की टीका सुमंगलविलासिनी^५ से ज्ञात होता है कि कोसल राजकुमारों के रहने के कारण इस प्रदेश का नाम कोसल पड़ा। बुद्धघोष^६ ने उसी स्थल पर कोसल शब्द को कुशल अर्थात् सब कुछ शुभ होने से निकला हुआ बताया है। पश्चिम में इसकी सीमाएँ पंचाल राज्य से मिलती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण^७ में कोसल और विदेह को पंचाल के पूर्व में स्थित बताया गया है। उत्तर में कोसल की सीमायें हिमालय की पहाड़ियों तक विस्तृत थीं। बौद्ध साहित्य^८ से यह भी स्पष्ट लगता है कि शाक्यों का गणतंत्र और उनकी

१. विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २१२; जिल्द २, पृ० ११०; महावंश, जिल्द ५, पृ० ११४।
२. अंगुत्तर निकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृष्ठ ३९१; जा०, फॉसबाल, जि० १, पृ० ३५५।
३. काशी राज्य के कीटागिरि निगम में बुद्ध ने विहार किया था (भगवा कीटा-गिरिस्मि विहरति कासीनं निगमे)। मज्झिमनिकाय, पालि, द्वितीय, २०/१/१।
४. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३, अट्टकनिपात, उपोसथ वर्ग, पृ० ३२६, ३३०, ३३३; पाटेसो०, भाग १, पृ० २१३; भाग ४ पृ० २५२, २५६, २६०। और देखिए, दीघनिकाय का जनवसम सुत्त।
५. कोसला नाम जनपदीनो राजकुमारो तेषां निवासो एकोऽपि रूह्मीसादेन कोसलाऽति उच्चति। पाटेसो०, भाग १, पृ० २३९।
६. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, भाग २ पृ० ३२६।
७. अष्टम, १४, ३।
८. दीघनिकाय, पाटेसो०, भाग ३, पृ० ८३; मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, भाग २, पृ० १२४; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १६७; जातक फॉसबॉल संस्करण, भाग ४; पृ० १४५, सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८२।

राजधानी कपिलवस्तु भी कोसल की सीमाओं में सम्मिलित मानी जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण^१ के अनुसार कोसल की पूर्वी सीमा सदानीरा अर्थात् बड़ी गंडक थी। उस दृष्टि से पावा और कुसिनारा के मल्ल क्षेत्र भी कोसल की सीमा-परिधि के भीतर आते थे।^२ इसके पूर्व में मगध महाजनपद पड़ता था। दक्षिण में कोसल की सीमा निश्चित रूप से नहीं बतायी जा सकती। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि टोंस, गोमती और सई (प्राचीन स्यन्दिका) इसकी सीमाओं से होकर ही बहती थीं।^३ चेदि राज्य और वत्स राज्य कोसल राज्य को छूते थे। कोसल के दक्षिण-पूर्व में काशी का जनपद स्थित था। इसकी राजधानी वाराणसी से पूर्व और उत्तर का वह क्षेत्र कोसल राज्य में सम्मिलित था, जिसमें आजकल उत्तर प्रदेश के गाजीपुर, बलिया, तथा बिहार के सोन और गोपालगंज जिलों के कुछ भाग पड़ते हैं।^४

कर्निघम्, वि० च० लाहा, और नन्दलाल डे जैसे कुछ विद्वानों^५ की मान्यता थी कि उत्तर भारतवर्ष में कोसल के दो भाग थे—उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। किन्तु कोसल के इतिहास पर सर्वप्रथम रूप से लिखने वाले विशुद्धानन्द पाठक^६ ने इस मान्यता को चुनौती देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि उत्तरी भारत में एक ही कोसल था, जिसे बहुत बाद में उड़ीसा और मध्यप्रदेश में पड़ने वाले दक्षिण कोसल अथवा महाकोसल का अन्तर करने के लिए उत्तर कोसल कहा जाने लगा।

कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी।^७ उसके अन्य प्रमुख नगरों में बुद्ध के समय के साकेत, अयोध्या आदि थे। बुद्ध के समय श्रावस्ती अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे स्थित थी। किन्तु वर्तमानकाल में राप्ती नदी इससे १२-१३ मील दूर

१. अष्टम, १४, ३।

२. आगे देखिए, मल्ल जनपद सम्बन्धी विवरण।

३. देखिए, वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृ० ४२।

४. देखिए, वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृ० ४३।

५. वि० च० लाहा, ऐनल्स ऑफ भंडारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग १५, पृ० १; क्लासिकल् एज, पृ० ४०; हिस्टोरिकल् ज्याॅग्रफी, पृ० ४७; नन्दलाल डे, ज्याॅग्रफिकल् डिक्शनरी, पृ० १०३; कर्निघम्, ऐशियेट् ज्याॅग्रफी, पृ० ४०७-८।

६. देखिए, वि० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४४।

७. दीघनिकाय, पाटोसो०, भाग १, पृ० २३५।

होकर बहती है। सुन्दरिका नदी भी कोसल से होकर बहती थी।^१ पालि विवरणों में कोसल राज्य का विस्तार ३०० योजन बताया गया है और कासी-कोसल को मिलाकर उसमें अस्सी हजार गाँवों की स्थिति बतायी गयी है। कोसल में स्थित प्रमुख ग्रामों में उक्ट्टा, एकसाला, इच्छानगल, चण्डालकप्प, तोरणवत्थु, नालकपान दण्डकप्प, नगरविन्द, नालन्दा, पनकधा, वेनागपुर, वेलुद्वार, साला, सालवतिका और सेतव्या के उल्लेख मिलते हैं।^२ जातकों में वर्णित है कि माल से भरी हुई ५०० गाड़ियों को लेकर मगध और लिच्छवि देश के व्यापारी कोसल होते हुए व्यापार हेतु देश की उत्तर-पश्चिम सीमाओं तक जाते थे। बुद्ध का समकालीन कोसल नरेश प्रसेनजित था, जो सुत्तपिटक में अत्यन्त ही चर्चित है।

अंग

अंग जनपद की स्थिति मगध के पूर्व में थी। इसके पूर्व में राजमहल की पहाड़ियाँ स्थित थीं। उत्तर में इसकी सीमा कोसी नदी तक फैली थी तथा दक्षिण में इसका विस्तार समुद्र तक था। पश्चिम में इसको चम्पा नदी मगध राज्य से अलग करती थी। उसी के किनारे गंगा के संगम के पास अंग की राजधानी चम्पा नगरी भी स्थित थी।^३ कनिष्क ने इस बात की ओर निर्देश किया है कि भागलपुर के पास चम्पानगर और चम्पापुर नाम के आज भी दो गाँव स्थित हैं, जो सम्भवतः प्राचीन चम्पा नगरी के द्योतक हैं। एक जातक कथा (सं० ५३१) में चम्पा को कालचम्पा भी कहा गया है और मिथिला से उसकी दूरी साठ योजन बतायी गयी है। दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^४ में चम्पा को राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, वाराणसी और कौशाम्बी के साथ तत्कालीन भारतवर्ष की छह महानगरियों में एक बताया गया है। कनिष्क^५ के अनुसार अंग जनपद में मुख्य रूप से

१. संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जि० १, पृ० १६७; सुत्तनिपात, पाटोसो०, पृ० १७। मज्झिम निकाय (पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ३४) में इसी नदी को बाहुका कहा गया है।
२. दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० १, पृ० ८७, २४४; जिल्द २, पृ० ३१६; मज्झिम-निकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० २८५, ४००, ४६२; जिल्द २, पृ० १६४, २०९; जिल्द ५, पृ० २९०; संयुत्त निकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १११; जिल्द ४, पृ० ३२२; जिल्द ५, पृ० २२६, ३५२; अंगुत्तर निकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १८०, १८८, २३६; जिल्द, ३, पृ० ३०, ३४१, ४०२; जि० ४, पृ० ३४०; जि० ५, पृ० १२२।
३. जातक संख्या ५०६; ऐशियेट् ज्यॉग्रफी, पृ० ४०२।
४. दीघनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, पृ० १४३।
५. ऐशियेट् ज्यॉग्रफी, पृ० ५४६-७।

बिहार के भागलपुर और मुंगेर जिले आते हैं। यही मत वि० च० लाहा,^१ नन्दलाल डे,^२ स्मिथ,^३ और राहुल सांकृत्यायन^४ का भी है। अंग राज्य के महानगरों में चम्पा, भद्रिय, आपण और अस्सपुर^५ के नाम मुख्यरूप में आते हैं। बुद्ध के समय अंग मगध साम्राज्य का एक भाग हो गया था और पालि साहित्य में अंग और मगध का उल्लेख प्रायः एक साथ आता है।^६ पालि त्रिपिटक में अंग देश को सदा एक समृद्ध देश बताया गया है।^७

मगध

बुद्धकालीन महाजनपदों में मगध सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध था। इसके उत्तर में लिच्छवि-विदेह गणतंत्र, दक्षिण-पूर्व में अंग राज्य और उसकी राजधानी चम्पा और पश्चिम में कोसल-काशी और दक्षिण में वंकाहार जनपद पड़ता था।^८ मगध के पूर्व में पुण्ड्र और वंग पड़ते थे। रीज् डेविड्स^९ ने इसकी सीमाओं का वर्णन करते हुए इसके उत्तर में गंगा नदी, पश्चिम में सोन नदी, पूर्व में अंग देश और दक्षिण में छोटा नागपुर का पठारी भाग माना है। इस प्रकार मगध उत्तर से दक्षिण की ओर एक लम्बाई में फैला हुआ ऐसा महाजनपद था, जिसमें वर्तमान बिहार राज्य का सम्पूर्ण पटना जिला और गया जिले के कुछ भाग सम्मिलित थे। इसे आजकल का मध्य बिहार माना जा सकता है। मगध जनपद की उत्तरी सीमा गंगा नदी थी। बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि गंगा नदी का प्रयोग मगध और लिच्छवि जनपद समान रूप से करते थे। एक बार जब बुद्ध वैशाली गये तो मगधराज बिम्बिसार ने उनके प्रयोग के लिए राजगृह से गंगा नदी तक पाँच योजन लम्बी एक सड़क बनवायी और दूसरी ओर गंगा के पार लिच्छवियों

१. ज्याग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ६।
२. ज्याग्रफिकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐशियैट् एण्ड मेडिक्ल् इण्डिया, पृ० ७।
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३२।
४. बुद्धचर्या, पृ० ५४२; दीघनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, पृ० ३१६।
५. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २७। अंगुत्तरनिकाय, जि० ३ पृ० ३६; धम्मपदअट्ठकथा, पाटेसो०, जि० १, पृ० ३८४। सं० नि०, हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ३२६।
६. दीघनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, पृ० ४४; डिपापाने०, जिल्द १, पृ० १७।
७. अंगुत्तर निकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २१३; जिल्द ४ पृ० २५६।
८. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ३०३।
९. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १८२।

ने भी अपनी सीमा में वैसी ही सड़क बनवायी ।^१ मगध की राजधानी राजगृह अथवा गिरिव्रज, और बाद में पाटलिपुत्र थी ।^२ मगध के शासक बिम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध के समकालीन थे और इन्हीं की चर्चाएँ सुत्तपिटक में मुख्य रूप से आती हैं । विनयपिटक^३ से ज्ञात होता है कि मगध की सीमा में अस्सी हजार गांव पड़ते थे । मगध की भाषा आर्य लोगों की भाषा मानी जाती थी, जिसको सभी लोग सीखते थे ।^४ मगध के अनेक स्थानों के नाम बौद्ध साहित्य में अत्यन्त चर्चित हैं, जैसे—एकनाला, नालकग्राम, नालन्दा, सेनानिग्राम, खाणुमत, अन्धक-विन्द, पकल, मातुला, अम्बलट्ठका, पाटलिगाम और सालिन्दि ।^५

वत्स

वत्स जनपद इस ग्रंथ की विचारणीय भौगोलिक सीमा के पश्चिमी छोर पर पड़ता था । अंगुत्तरनिकाय^६ में वर्णित षोडश महाजनपदों की सूची में इसको वंस कहा गया है । मनुस्मृति^७ में वत्स लोगों को मध्यदेश में स्थित बताया गया है । इसकी पश्चिमी सीमाओं पर चेदि, मत्स्य, कुरु, पंचाल और शूरसेन जैसे राज्य पड़ते थे तथा काशी-कोसल जैसे राज्य पूर्वी और उत्तरी सीमाओं पर पड़ते थे ।

वत्स की राजधानी कोशाम्बी थी । यह इलाहाबाद से ३० मील दूर पश्चिम दिशा में यमुना के किनारे स्थित थी^८ । इवान्-च्चाङ्ग^९ इसकी लम्बाई-चौड़ाई ३० ली और पूरे वत्स जनपद का क्षेत्र ६०० ली बताता है । वत्स जनपद के पूर्व में संसुमारगिरि के भर्ग्यों का क्षेत्र था । कोशाम्बी भारतवर्ष के अन्य कई नगरों से सड़क मार्ग द्वारा जुड़ा हुआ था । सड़कें यहाँ से विदिशा, उज्जयिनी, प्रयाग,

१. धम्मपद अट्ठकथा, पाटोसो, भाग ३, पृ० ४३९ और आगे ।
२. रायचौधरी, पोहिऐइ०, पृ० ९९ ।
३. पाटोसो, जिल्द १, पृ० १८९; भाग २, पृ० १ ।
४. समन्तपासादिका, पाटोसो, भाग १, पृ० २५५ ।
५. डिपापाने०, भाग २, पृ० ४०३ ।
६. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३, अट्ठकनिपात, उपोसथ वर्ग, पृ० ३२५, ३३०, ३३१; पाटोसो, भाग १, पृ० २१३; भाग ४ पृ० २५३, २५६, २६० । जनपद के रूप से वत्स का उल्लेख दीघनिकाय के जनवसभसुत्त में भी आता है ।
७. ट्राइब्स इन् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० १३५ ।
८. नंदलाल डे, ज्याॅग्रफिकल्, डिक्शनरी, पृ० १००; डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ७९९ ।
९. वाट्स, भाग १, पृ० ३६५-६६ ।

साकेत, वाराणसी और श्रावस्ती होते हुए पाटलिपुत्र तक जाती थीं। सुत्तनिपात^१ के अनुसार वत्स जनपद के व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण में प्रतिष्ठान तक थे। अंगुत्तर-निकाय^२ में वत्स को एक धनी और सम्पन्न देश माना गया है, जहाँ अनेक प्रकार के रत्न प्राप्त होते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र^३ में वत्स को अत्यन्त उन्नत किस्म के सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध बताया गया है। श्वान्-च्चाङ्ग^४ जब भारतवर्ष आया था, उस समय वत्स अपनी उर्वर भूमि, धान और ईख की खेती के लिए प्रसिद्ध था।

वज्जि संघ

अंगुत्तरनिकाय^५ में वर्णित सोलह महाजनपदों में वज्जि जनपद एक था। यह मगध की उत्तरी सीमा के आगे गंगा नदी के उत्तरी किनारे पर नेपाल की तराईयों तक फैला हुआ था। पश्चिम में सदानोरा अर्थात् बड़ी गडक इसकी सीमा थी, जो इससे कोसल और मल्ल राज्यों को अलग करती थी। पूर्व में इसकी सीमाएँ उन जंगली प्रदेशों तक विस्तृत थीं, जो कोसी और महार्गंगा (महानन्दा) नदियों के काठों में पड़ते थे।^६ इस तरह वज्जिसंघ के क्षेत्रफल में आधुनिक बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर, चम्पारन तथा दरभंगा नामक जिले पूर्ण रूप से और छपरा-गोपालगंज के कुछ भाग पड़ते थे।^७ इसके पूर्व में बागमती बहती थी। बुद्ध के समय वज्जि एक संयोगसंघ था, जिसमें आठ क्षत्रिय कुल शामिल थे। अतः इन्हें समवज्जि कहा जाता था। इस संयोगसंघ में विदेह, लिच्छवि और जात्रिक प्रमुख थे। अंगुत्तरनिकाय^८ उग्र नामक एक अन्य जाति को भी इसी का सदस्य मानता है। इस संघ के सभी सदस्य राज्यों की अपनी-अपनी अलग राजधानियाँ थीं, जैसे विदेह की मिथिला और लिच्छवियों की वैशाली। परन्तु बुद्धकालीन वज्जि संयोग-

१. सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद, पारायणवग्ग, ५।१, पृ० २६१।
२. पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० २५२, २५६, २६०।
३. श्याम शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ९४।
४. वाट्स, पृ० ३६६; बील, जिल्द १, पृ० २३५।
५. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३, अट्टकनिपात, उपोसथ-वर्ग, पृ० ३२६, ३३०, ३३३। पाटेसो०, भाग १ पृष्ठ सं० २१३; भाग ४, पृ० २५२, २५६, २६०। दीघनिकाय के जनवसभसुत्त में वर्णित जनपदों की सूची में वज्जि का भी उल्लेख है।
६. पोहिऐड०, १९७२, पृ० १०५।
७. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० ३३०, पदसंकेत ५।
८. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २६; जिल्द ३, पृ० ४९; जिल्द ४, पृ० २०८।

संघ की राजधानी वैशाली ही थी। बुद्ध के मृत्युपर्यन्त वज्जिसंघ एक सुखसम्पन्न, प्रसन्न और एकताबद्ध देश था। महापरिनिब्बानसुत्त^१ में इसका कारण यह बताया गया है कि यह संघ अपने ऐतिहासिक अस्तित्व और उन्नति के लिए सात परम्परागत नियमों का पालन करता था। बुद्ध कई बार वज्जि जनपद में गये थे। वज्जि जनपद से होकर बग्गमुदा नदी बहती थी।^२ वज्जि जनपद में वैशाली के अतिरिक्त उक्काचेला, कोटिगाम, नादिका, गिञ्जकावसथ, वेलुवग्राम, भण्डिग्राम, भोगग्राम और हत्थिग्राम जैसे अनेक अन्य नगर और ग्राम भी थे, जहाँ बुद्ध ने अपने उपदेश किये थे।^३

मल्ल

यह महाजनपद भी अंगुत्तरनिकाय^४ में वर्णित षोडश महाजनपदों की श्रेणी में आता था। मल्ल जनपद की दो शाखाएँ थी—एक पावा के मल्ल, दूसरे कुसिनारा के मल्ल, जो आजकल देवरिया जिले के क्रमशः पडरौना और कसया नामक स्थान हैं।^५ ऐसा प्रतीत होता है कि मल्लों का क्षेत्र महाजनपद कहे जाने के बावजूद भी प्रसेनजित के समय कोसल राज्य की सीमाओं के भीतर ही था।^६ मल्ल जनपद की सीमाएँ निश्चित रूप से नहीं बतायी जा सकतीं। मल्लों के उत्तर-पश्चिम और पश्चिम में कोलियों का जनपद पड़ता था और दक्षिण-पश्चिम में पिप्पलिवन के मोरिय स्थित थे। दक्षिणी सीमा पर सम्भवतः घाघरा नदी के दोनों किनारों पर अनेक प्रदेश फैले हुए थे। आधुनिक उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में घाघरा नदी के दाहिने किनारे का क्षेत्र आजकल मलान कहलाता है। यह सम्भवतः मल्ल नाम का ही आधुनिक रूप है।^७ विशुदानन्द पाठक का मत है कि मल्ल क्षेत्र दक्षिण-पश्चिम में कोसल राज्य, दक्षिण में काशी राज्य और दक्षिण-पूर्व में मगध के क्षेत्रों

१. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ११८-११९।

२. उदान, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० १।

३. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ५९।

४. महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३, अट्ठकनिपात, उपोसथ वर्ग, पृ० ३२६, ३३०, ३३३; पाटेसो०, जिल्द १ पृष्ठ २१३; जिल्द ४, पृ० २५०, २५६, २६०। दीघनिकाय के जनवसभसुत्त में अन्य दस जनपदों के साथ मल्ल का भी उल्लेख है।

५. कनिधम्, ऐंशियेंट ज्याॅग्रफी, पृ० ३६६; आसरि०, जिल्द २२, पृ० १६ और आगे।

६. हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० ४३।

७. वही, पृ० २८५।

को छूते थे। उनके पूर्व में वज्जियों का गणतंत्र पड़ता था और उन दोनों के बीच सदानीरा नदी सीमा-निर्धारण का काम करती थी। मोटे तौर पर आजकल के पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया, बलिया, आजमगढ़ जिलों के कुछ भाग और बिहार के गोपालगंज, सोवान और चम्पारन जिलों के कुछ भाग मल्ल गणराज्य में पड़ते थे।

मल्लों का सबसे प्रमुख उल्लेख महापरिनिब्बानसुत्त^१ से प्राप्त होता है, जहाँ पर वर्णित है कि भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के लिए मल्ल गणतंत्र की राजधानी कुसिनारा का चुनाव किया। किन्तु उस समय कुसिनारा बुद्धकालीन छह प्रमुख महानगरियों की भाँति बहुत प्रसिद्ध नहीं था। इस नगर की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए यह अवश्य कहा गया है कि कुशावती नाम से प्राचीन काल में यह एक प्रसिद्ध नगर रह चुका था, जहाँ का राजा महासुदर्शन था।^२ मल्लों की दूसरी शाखा की राजधानी पावा में एक बार बुद्ध उनके नवनिर्मित संस्थागार उन्मत्तक का उद्घाटन करने हेतु गये थे और वहाँ पर उन्होंने उपदेश किया।^३ दीघनिकाय^४ के अनुसार पावा में जैन तीर्थंकर महावीर के भक्त भी निवास करते थे, जो उनकी मृत्यु के बाद आपस में विभक्त हो गये थे। अनूपिया, भोगनगर और उरुवेलकम्प आदि मल्लों के अन्य प्रसिद्ध नगर थे।^५

शान्क्य

अगुत्तरनिकाय में वर्णित षोडश महाजनपदों की श्रेणी में शाक्यों का उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता, परन्तु उनका क्षेत्र बुद्ध के समय में एक प्रसिद्ध गणतंत्र था, जो उनकी वहाँ उत्पत्ति के कारण और भी प्रसिद्ध हो गया। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसकी पहचान बस्ती जिले में आधुनिक पिपरहवा नामक

-
१. अज्ज खो पत्तानन्द रत्तिया पाँचिमे यामे कुसिनारायं उपवत्तने मल्लानं सालवने अन्तरेण यमकसालानं तथागतस्स परिनिब्बानं भविस्सति। दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १०४।
 २. महापरिनिब्बानसुत्त, नालन्दा पालि प्रकाशन भाग २, पृ० ११३ और महासुदस्सनसुत्त, पृ० १३०।
 ३. सङ्कीति सुत्त, दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, भाग ३, पृ० १६६।
 ४. संगीति परियायसुत्त (३/१०), पृ० २८२।
 ५. दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त; संयुक्त निकाय, महाबोधि प्रकाशन, भाग २, पृ० ५८७-५८८।

स्थान से की गयी है।^१ शाक्य नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताओं में एक यह भी है कि यह नाम इसलिये पड़ा कि उस प्रदेश में शाक अथवा शाल के पेड़ों की अधिकता थी।^२ इसकी राजधानी कपिलवस्तु का नाम कपिल ऋषि के के नाम पर पड़ा। शाक्यों की पूर्वी सीमा रोहिणी नदी तक फैली हुई थी, जो उन्हें रामग्राम के कोलियों से अलग करती थी। परन्तु मोटे रूप में शाक्य क्षेत्र कोसल जनपद का ही एक भाग था, यह पीछे देखा जा चुका है। शाक्य गणतंत्र में दूसरा प्रमुख स्थान लुम्बिनी का था, जहाँ बुद्ध पैदा हुए थे और जो बौद्धों के चार प्रमुख तीर्थों में से एक है।^३ लुम्बिनी की पहचान वर्तमान काल में रुमिनदेई नामक स्थान से की जाती है, जहाँ से अशोक का एक स्तम्भ और अभिलेख प्राप्त हुआ है^४। वास्तव में, इस अभिलेख के आधार पर ही लुम्बिनी ग्राम की पहचान निश्चित हुई।

कोलिय

शाक्य जनपद की ही तरह कोलिय क्षेत्र भी बुद्ध के समय में एक गणतंत्र के रूप में प्रसिद्ध था। इसका उल्लेख हमें महापरिनिब्बानसुत्त^५ में बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के बँटवारे के सिलसिले में प्राप्त होता है। रामग्राम कोलिय जनपद अथवा गणतंत्र की राजधानी थी, जिसे कार्ताइल्^६ ने बस्ती जिले के रामपुर देवरिया^७ से समीकृत किया। किन्तु राजबली पाण्डेय^८ इस नगर की पहचान गोरखपुर के

१. विशेष रूप से देखिए, के० एन् श्रीवास्तव, कपिलवस्तु इन् बस्ती डिस्ट्रिक्ट ऑफ यू० पी०, पृ० १; ऐंशियेट् ज्याग्रफी, पृ० ७११-१२; फ्लोट जराएसो०, १९०३, पृ० १२०।
२. जातक, फॉसबॉल, भाग १, पृ० ३२७; भाग, ४, २०७। शाक्य नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी मान्यता के लिए देखिए, अम्बष्ठसुत्त, दीघनिकाय सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३३।
३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४१।
४. हुल्ट्श, इन्कृशन्स् ऑफ अशोक, पृ० १६; जराएसो०, १८९७, पृ० ४२९ और ६१५।
५. दीघनिकाय, भाग, २, नालन्दा, पालि प्रकाशन, 'अस्सोसुंखो रामगामका कोलिया', पृ० १२७।
६. आसरि०, जिल्द २२, १८७५; वि० च० लाहा, ज्याग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३२, हिस्टोरिकल् ज्याग्रफी, पृ० ११९।
७. ऐंशियेट् ज्याग्रफी, कनिघम्, पृ० ४२३।
८. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७०।

पास स्थित रामगढ़ ताल से करते हैं। वस्तुतः रामग्राम की आधुनिक स्थिति अभी तक अनिश्चित है।

कोलियों की उत्तरी सीमाएँ हिमालय तक फैली थीं। दक्षिणी सीमा अचिरावती नदी तक तथा दक्षिण-पूर्वी सीमा पिप्पलिवन के मोरियों के जनपद तक फैली हुई प्रतीत होती है।^१ इस तरह से यह जनपद शाक्य जनपद के पूर्व में उससे कुछ नीचे की ओर हटकर रोहिणी नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित था। रोहिणी नदी शाक्यों और कोलियों के बीच सीमा-निर्धारण का काम करती थी^२।

मोरिय

बुद्धकालीन गणतांत्रिक जनपदों में मोरिय भी एक था, किन्तु बहुत प्रसिद्ध नहीं था। इसका भी सर्वमुख्य उल्लेख महापरिनिब्बानसुत्त^३ में ही प्राप्त होता है। मोरियों का जनपद पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में कोलिय जनपद तथा पूर्व और उत्तर-पूर्व में कुसिनारा और पावा के मल्लों के क्षेत्रों के बीच में स्थित था। दक्षिण में इसके प्रदेश राप्ती नदी के किनारे तक फैले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मोरियों का क्षेत्र आधुनिक उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के रुद्रपुर नामक कस्बे तक फैला था, जहाँ सहनकोट नामक एक भग्नावशेष भी है।

मोरियों की राजधानी पिप्पलिवन थी। सुत्तपिटक में इसको चर्चा दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^४ को छोड़कर और कहीं नहीं प्राप्त होती। इसके विषय में हमें जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे त्रिपिटक की टीकाओं, सिंहली ग्रन्थों और बाद के लिखे संस्कृत बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों में ही प्राप्त होती हैं। महावंश टीका के अनुसार पीपल के पेड़ों की अधिकता के कारण इसका नाम पिप्पलिवन पड़ा। पिप्पलिवन की पहचान कार्लाइल् ने गोरखपुर नगर से १४ मील द०-पू० उपधौलिया ग्राम से की, जो गुरा नदी के तट पर है। इसका दूसरा नाम राजधानी भी है, जिसके आसपास आज भी पीपल के वृक्ष बहुतायत से उपलब्ध हैं। राजधानी के पास से प्राप्त प्राचीन भग्नावशेष और आयताकार किले के ध्वंसावशेष को सहनकोट के नाम से जाना जाता है।^५

१. हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २३७।

२. येरीगाथा, श्लोक स० ५२९; कुणाल जातक, फॉसवॉल संस्करण, पृ० ४१३।

३. 'अस्सोसुं खो पिप्पलिवनिया मोरिया', दीघनिकाय, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १२८।

४. 'भगवा'पिक्खित्तियो-मय'पिक्खित्तिया। दीघनिकाय, पालि, भाग १, पृ० १२८।

५. आसरि०, जिल्द १८, पृ० ३१ और सजिल्द २२, पृ० ७।

भग्य (भग्न)

भग्य भी बुद्ध के समय में एक गणतांत्रिक जनपद था। इसकी राजधानी संसुमारगिरि थी। यह वत्स महाजनपद के पूर्व में स्थित था और प्राशासनिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उसके अधीन था।^१ बुद्ध के समय उदयन का पुत्र बोधि राजकुमार यहाँ शासन करता था। संसुमारगिरि पहाड़ी क्षेत्रों पर स्थित था, जिसकी पहचान आजकल की चूनार की पहाड़ियों से की गयी है।^२ इसके पूर्व में वैशाली, उत्तर में श्रावस्ती और पश्चिम में कोशाम्बी जैसे महानगर स्थित थे।

वंकहार

मगध के दक्षिण में वंकहार अथवा वंगहार नाम का एक छोटा सा जनपद स्थित था।^३ यद्यपि बुद्ध के समकालीन जनपदों में इसका उल्लेख नहीं है, तथापि सुत्तपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में कई स्थानों पर इसकी चर्चाएँ आती हैं। श्वेरीगाथा^४ में उपक नामक आजीवक की चापा (कोरी) नामक पत्नी की जन्म-भूमि के रूप में वंकहार का वर्णन है, जहाँ विवाह के बाद दोनों रहते थे।^५ सुत्तनिपात में इस जनपद को वंकहार के स्थान पर वंग कहा गया है।^६ मज्झिम-निकाय^७ की अट्ठकथा में आचार्य बुद्धघोष ने इस जनपद में पायी जाने वाली भयंकर मक्खियों का उल्लेख किया है। वेणीमाधव वर्मा^८ इस जनपद की पहचान आधुनिक बिहार प्रान्त के हजारीबाग जिले से करते हैं।

प्रमुख महानगर एवं नगर

प्राचीन पालि साहित्य, विशेषतः सुत्तपिटक, में नगरों की अनेकशः चर्चाएँ आती हैं और विभिन्न सन्दर्भों से उनके जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। नगर को राष्ट्र का एक अविभाज्य अंग माना जाता था। कभी-कभी तो नगरों की रक्षा के लिए ताखों से युक्त प्राकार आदि बनाये जाते थे जिनमें प्रवेश के लिए केवल एक-एक द्वार होते थे। उदाहरणतः, वैशाली नगर के तीन ओर

१. जातक, फॉसबॉल संस्करण, संख्या १५३; कार्माइकेल लेक्चर्स, १९१८, पृ० ६३।

२. न० ना० घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ कोशाम्बी, पृ० ३३ और ३८।

३. डिपापाने०, भाग २, पृ० ८०१, पादटिप्पणी २।

४. श्वेरीगाथा अट्ठकथा, पृ० २२०।

५. श्वेरीगाथा, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० २७-२८; ७३-७४।

६. सुत्तनिपात, अट्ठकथा, पृ० २५९।

७. पाटेसो०, भाग १, पृ० ३८८।

८. गया ऐण्ड बोधगया, भाग १, पृ० १०६।

प्राचीर बने हुए थे, जिनमें द्वार तथा बुर्ज निर्मित थे।^१ सुत्तपिटक में हमें बुद्ध-कालीन छह प्रमुख नगरों—राजगृह, साकेत चम्पा, श्रावस्ती, वाराणसी और कोशाम्बी की विशद चर्चाएँ प्राप्त होती हैं। साथ ही, अन्य कई छोटे बड़े नगरों के भी अस्तित्व ज्ञात होते हैं, जो सभी अपना अलग-अलग स्थान रखते थे। आगे पहले महानगरों के वर्णन हैं, तत्पश्चात् अन्य नगरों के।

कौशाम्बी

महापरिनिब्वानसुत्त^२ के अनुसार कौशाम्बी बुद्धकालीन छह प्रमुख महानगरों में एक था। यह यमुना नदी के किनारे स्थित था। सुत्तनिपात की अट्टकथा परमत्थजोतिका^३ के अनुसार कुसम्ब ऋषि के आश्रम के पास बसे होने के कारण इसका नाम कौशाम्बी पड़ा। पपञ्चसूदनो^४ में बुद्धघोष कौशाम्बी नाम पड़ने का कारण वहाँ कोसम के पेड़ों की अधिकता बताते हैं। सयुत्तनिकाय^५ में भ्रमवश इसे गंगा नदी के किनारे स्थित बतलाया गया है। सम्भवतः यहाँ यमुना को गंगा कह दिया गया है। परन्तु मनोरथपूरणो^६ और पपञ्चसूदनो^७ में इसे यमुना नदी के किनारे ही स्थित बतलाया गया है। यह तक्षशिला, राजगृह, वाराणसी और वैशाली की तरह एक सम्पन्न नगर और व्यापारिक केन्द्र था। सुत्तनिपात^८ में कहा गया है कि यह कोसल और मगध से दक्षिण और पश्चिम की ओर भेजे जाने वाले माल को बीच में प्राप्त करने वाला बड़ा भारी केन्द्र था। यमुना नदी के रास्ते होने वाले व्यापार के लिए प्रयाग के पहले सहजाति नामक स्थान प्रायः एक बन्दरगाह जैसा बन गया था।^९ यह वर्तमान काल का भीटा है। यहाँ से व्यापारी लोग आगे गंगा के माध्यम से होकर काशी, कोसल, मगध, चम्पा और पुनः वहाँ से आगे बंगाल की खाड़ी से होकर बर्मा तक जाते थे।^{१०} कौशाम्बी

१. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृष्ठ ५०४।
२. दीर्घनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४३।
३. पाटोसो०, जिल्द २, पृ० ३००।
४. पाटोसो०, जिल्द २, पृ० ३८९-३९०।
५. वहीं, जिल्द ४, पृ० १७९।
६. वहीं, जिल्द १, पृ० १७०।
७. वहीं, जिल्द २, पृ० ९२९।
८. सुत्तनिपात, श्लोक १०, १३।
९. ना० ना० घोष, हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी, पृ० ८।
१०. रीज् डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १०४; डिपापाने. जिल्द १, पृष्ठ ७१२।

स्थलमार्ग द्वारा अनूपिया होते हुए राजगृह से भी जुड़ा था।^१ सुमंगलविलासिनो में कौशाम्बी के प्रसिद्ध वणिकों, जैसे घोषित अथवा घोषिक, ककोद, पावारिय आदि के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने भिक्षुसंघ के लिए विभिन्न आरामों का निर्माण करवाया था। यही के सिसापावन में बुद्ध ने एक वर्षावास व्यतीत किया था।^२

वर्तमान काल में कौशाम्बी इलाहाबाद से ३०-३५ मील की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित यमुना के किनारे कोसम नामक गाँव है। सबसे पहले यह पहचान कनिष्क^३ ने की थी। बाद में गो० रा० शर्मा^४ द्वारा वहाँ उत्खनन कराये जाने से कौशाम्बी का बुद्धकालीन नगर होना प्रमाणित हो गया।

चम्पा

चम्पा अंग जनपद की राजधानी थी और उसी नाम की नदी के किनारे बसी थी। महापरिनिब्बानसुत्त^५ में इसकी गणना तत्कालीन छह प्रमुख महानगरियों में की गयी है। एक जातक के अनुसार यह नगर एक मजबूत दुर्ग से घिरा हुआ था और बाह्य आक्रमणों से इसकी रक्षा के लिए इसके चारों ओर खाइयाँ बनायी गयीं थीं। महागोविन्दसुत्त^६ के अनुसार इसे चक्रवर्ती राजा रेणु के ब्राह्मण मंत्री महागोविन्द ने बसाया था। यह एक आकर्षक नगरी के रूप में प्रसिद्ध थी। यहाँ गगगा-योक्वरिणी^७ नामक एक झील थी, जिसके किनारे के चम्पा अथवा चम्पक के पौधे अपनी हरियाली और अपने फूलों की महक से इसे विशेष शोभा प्रदान करते थे। मिथिला से इसकी दूरी, चीनी यात्रियों के अनुसार, ६० ली थी। यह नगर अपने व्यापार के लिए प्रसिद्ध था, और यहाँ के व्यापारी अपने माल आदि लेकर सुवर्णभूमि तक जाते थे। रीज्डेविड्स^८ का यह मत है कि सम्भवतः चम्पा के व्यापारियों ने ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में चम्पा नामक द्वीप को

१. डिपापाने०, भाग १, पृ० ७१२।
२. संयुक्त निकाय, पाटेसो०, जिल्द ५, पृष्ठ ४३७।
३. ऐशियेन्ट ज्याॅग्रफी, पृष्ठ ३३३।
४. गो० रा० शर्मा, एक्स्क्वेंशनस् ऐट् कौशाम्बी, १९४९-५०।
५. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४३।
६. दीघनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, महागोविन्दसुत्त, पृ० १४१।
७. संयुक्तनिकाय०, पाटेसो०, जिल्द १ पृ० १९५; अंगुत्तर निकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ५९, १६८; जिल्द ५ पृ० १५१, १८९।
८. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २५ और आगे।

भारतीय नाम देकर उसका औपनिवेशीकरण किया।^१ बुद्ध के समय चम्पा पर बिम्बिसार शासन करता था। चम्पा में ही विपुल ऐश्वर्ययुक्त सेट्ठिपुत्त सोण-कोटिविस का निवास था।^२ इसके अतिरिक्त वह जम्बूगामक, नन्दक और मख जैसे प्रमुख बुद्ध-शिष्यों की जन्मभूमि भी थी।

चम्पा के अनेक नाम मिलते हैं, यथा—चम्पावती, चम्पापुरी, चम्पानगर, चम्पामालिनी इत्यादि।^३ कहीं-कहीं इसे कालचम्पा भी कहा गया है। जातक (सं० ५३९) के अनुसार चम्पानगरी मे प्रहरी, स्तम्भ, प्राचीर एवं तोरण थे। कनिष्क^४ इसकी पहचान भागलपुर जिले के पास स्थित चम्पापुर और चम्पानगर नामक दो गाँवों से करते हैं, जो प्राचीन चम्पानगरी के द्योतक हैं।

मिथिला

दीघनिकाय के महागोविन्दसुत्त के अनुसार राजा महागोविन्द ने इसे बसाया था। यह विदेहों की राजधानी थी।^५ पूर्वी भारत के एक प्रसिद्ध नगर के रूप में मिथिला का वर्णन रामायण और महाभारत की कथाओं में प्राप्त होता है।^६ यह वैशाली से ३५ मील दूर वहाँ से पश्चिमोत्तर की दिशा में स्थित था और चम्पा से इसकी दूरी ६० योजन थी।^७ महाउम्मग जातक के अनुसार मिथिला नगरी तोरणों और द्वारों से युक्त प्राकार से घिरी हुई थी। इसके चार द्वारों के पास चार बड़े बाजारों की स्थिति बतायी गयी है। यहाँ से सड़कें कई नगरों की ओर जाती थीं तथा यह रमणीक सरोवरों और उद्यानों से अलंकृत था एवं एक उल्लासपूर्ण नगर था। बुद्ध ने यहाँ पर मरवादेवसुत्त और ब्रह्मायुसुत्त का उपदेश किया था।^८ बुद्ध के समय में मिथिला एक बड़े व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी।^९

१. वहीं, पृ० ३५; मलालशेखर ने भी इस मत का अनुमोदन किया था। देखिए, डिपापाने०, भाग १, पृ० ८५६।
२. 'मागधो सेनियो बिम्बिसारो असीतिया नाम सद्धस्ससु इस्सारियाधिपच्चं रज्जं कारेति। चम्पाय सोणोनाम कोटविसो सेट्ठिपुत्तो सुखपाली, ५/१/१।
३. लाहा, वि० च०, इण्डोलॉजिकल् स्टडीज़, भाग २, पृ० ४९।
४. ऐंशियेंट् ज्यॉग्रफी, पृ० ५४७।
५. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद पृ० १७१।
६. वि० च० लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३९६-९७ और आगे।
७. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २५ और आगे।
८. मज्झिमनिकाय, पालि, भाग २, ४१/१/७।
९. थेरीगाथा, पाटेसो०, पृ० २७७-७८।

वर्तमान काल में मिथिला को जनकपुर से समीकृत किया गया है, जो बिहार राज्य के दरभंगा और मुजफ्फरपुर जिलों से उत्तर की ओर नेपाल की तराई में स्थित है। सर्वप्रथम यह पहचान कनिंघम्^१ ने की थी।

राजगृह

यह मगध राज्य की प्राचीन राजधानी थी, जिसे गिरिव्रज भी कहते थे^२। दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^३ में बुद्ध के निर्वाण के लिए उपयुक्त छह महानगरों में इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है। महाकाव्यों में भी इस नगर के वर्णन मिलते हैं। राजगृह का नाम सम्भवतः बिम्बिसार अथवा उसके पहले के किन्हीं राजाओं के उस पर आधिपत्य होने के कारण पड़ा होगा। इसका प्रत्येक घर महल के सदृश था। इसे कुशाग्रपुरी भी कहा जाता था (श्रेष्ठ कुश घास का नगर)। पाँच पहाड़ियों से घिरे होने के कारण इसका नाम गिरिव्रज पड़ा।^४ सुम्गलविलासिनी और पपञ्चसूदनी के अनुसार इस नगर के चारों ओर चारदीवारी थी, जिसमें ३२ मुख्य द्वार और चौसठ छोटे प्रवेशद्वार बनाये गये थे। इन द्वारों में एक तण्डुलपाल द्वार के नाम से प्रसिद्ध था।^५ इस चहारदीवारी की सत्यता पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त होने वाले अवशेषों और चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से प्रमाणित होती है। धम्मपद अट्ठकथा^६ में भी इस चारदीवारी का उल्लेख हुआ है।

राजगृह एक बहुत ही रमणीक नगर था। यहाँ पर बुद्ध अपनी सम्बोधि के पूर्व और महानिभिष्क्रमण के बाद भी गये थे।^७ अनोमा नदी से इसकी दूरी ३०

१. कनिंघम्, ऐशियेट् ज्यॉग्रफी; पृ० ७१२; वि० च० लाहा, ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३१।

२. दीघनिकाय, द्वितीय, ६/१४/१६ और अग्रे।

३. वही, द्वितीय, ३/२३/८३।

४. वि० च० लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हिन्दी अनु०), पृ० ४२६; म० नि० तृतीय, १६/१/१।

५. मडिभत्रय निकाय, पाटेसो, जि० २, पृ० १८५।

६. पाटेसो, जिल्द १, पृ० ३५६।

७. दीघनिकाय, पाटेसो, जिल्द २, पृ० ७८-८१, जिल्द ३, पृ० ३६; संयुक्त-निकाय, पाटेसो, जिल्द १ पृ० ८; पृ० २७-२८, ५८, १६०-१६१, १६३, १६४, अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो, जिल्द २, पृ० १८१-१८२; थेरी गाथा, पाटेसो, पृष्ठ १६, २७, ४१, १४२।

योजन थी ।^१ बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध ने यहाँ पर अपनी पहली, तीसरी, चौथी, सत्रहवीं और बीसवीं वर्षायें बितायीं थीं । अपने जीवन की अन्तिम यात्रा भी उन्होंने राजगृह से शुरू की, जब वे अपने महानिर्वाण के पूर्व नालन्दा से होकर वैशाली, पावा और कुसिनारा गये थे । बिम्बिसार ने उन्हें यहीं पर वेणुवन का दान दिया था ।^२

सुत्तपिटक में वर्णित अन्य नगरों की तुलना में राजगृह का अपना एक अलग महत्त्वपूर्ण स्थान है । बिम्बिसार की मृत्यु के बाद अजातशत्रु उसका उत्तराधिकारी हुआ । विनयपिटक के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् यहीं पर आचार्य महाकश्यप की अध्यक्षता में प्रथम संगीति का आयोजन हुआ, जिसमें धम्म और विनय का संगायन किया गया ।^३ श्रीलंका की वंश-परम्परा राजगृह की सप्तपर्णी गुहा में इस संगीति के आयोजन की चर्चा करती है और इसे अजातशत्रु की देख-रेख में ही सम्पन्न होने का उल्लेख करती है ।^४

बुद्धकाल में राजगृह जम्बूद्वीप का सबसे प्रसिद्ध नगर प्रतीत होता है । इस नगर से सटकर सप्पिनी और तपोदा नदियाँ बहती थीं ।^५ यह नगर सड़क मार्ग द्वारा उत्तर में तक्षशिला से दक्षिण में प्रतिष्ठान तक जुड़ा था । सुत्त-निपात^६ से ज्ञात होता है कि बावारि के शिष्यों ने प्रतिष्ठान से चलकर माहिष्मती उज्जयिनी, गोनर्ध, विदिशा, वनसह्वय, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, सेतव्या, कपिलवस्तु और कुसिनारा होते हुए टेढ़े-मेढ़े रास्तों से राजगृह तक की यात्रा की थी । राजगृह से पावा को भी एक मार्ग अम्बलट्टिका, नालन्दा, पाटलिगाम, कोटि-गाम, नादिका, वैशाली, भण्डगाम, हस्तिगाम, अम्बगाम, जम्बूगाम और भोगनगर होते हुए जाता था, जिसे बुद्ध ने अपनी अन्तिम यात्रा में अपनाया था ।^७ एक जातक के अनुसार राजगृह की आबादी १८ करोड़ थी, जिसमें नौ करोड़ लोग नगर के

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ६६ ।
२. महापरिनिब्बान सुत्त, दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १४७, डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ७२२ ।
३. राजगहं सो महागोचरं पट्टसेनासन्नं यं नूनं मयं राजगहे वस्सं वस्सताधम्मं च विनयं च सङ्गायेम्याम । चुल्लवग्ग ११/२/२ ।
४. डिपापाने०, जिल्द २, पृष्ठ ७२२ ।
५. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो जि० १, पृ० १८५, जि० २, पृष्ठ २९, १७६; जि० ५, पृ० १९६; सुयत्तनिकाय, पाटेसो जि० १, पृष्ठ १५३ ।
६. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, ५/१/३६, ३७, ३८, पृ० २६१ ।
७. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १२२ से १३६ ।

बाहर और नौ करोड़ लोग नगर के अन्दर रहते थे । परन्तु यह अतिशयोक्ति ही है । यहाँ के मूल निवासी व्यापार और वाणिज्य में लगे रहते थे, और अन्य जगहों के व्यापारी यहाँ आकर अपने माल का क्रय-विक्रय करते थे । यहाँ कई प्रसिद्ध सेट्टियों का निवासस्थान भी था । प्रसिद्ध वैद्य जीवक यहीं पर रहता था । राजगृह के आसपास स्थित अनेक प्रसिद्ध वन और पहाड़ियों की चर्चार्थें सुत्तपिटक में आती हैं । इनमें प्रमुख हैं—जीवक का आम्रवन, सोणवन, पिप्पलिवन, उदुम्बरिकाराम, परिव्राजकाराम, तपोदयाराम, वेदियगिरि, सप्तपर्णी गुहा और लट्ठिवन ।^१

राजगृह की वर्तमान पहचान गया के निकट स्थित राजगिरि नामक पहाड़ी से करते हैं, जहाँ पटना से आसानी से जाया जा सकता है ।^२

श्रावस्ती (सावत्थी)

यह कोसल राज्य की राजधानी थी । इसे “कोसलानपुरी”^३ कहा गया है और सभी नगरों से उत्तम बताया गया है ।^४ इसके विषय में यह धारणा है कि इसे प्राचीन काल में श्रावस्ती नामक सूर्यवंशी राजा ने बसाया था । वही पालि साहित्य का सावत्थ प्रतीत होता है, जो अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सन्यासी हो गया था । महापरिनिब्बानसुत्त^५ में बुद्ध के परिनिर्वाण योग्य छह महानगरों में इसकी भी चर्चा आती है । बौद्ध साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास की दृष्टि से श्रावस्ती का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि बुद्ध ने बहुत दिनों तक वहाँ निवास किया और वहीं पर सर्वाधिक उपदेश किये ।^६ बुद्धवर्द्ध महोदय ने गणना करके बताया है कि सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के सभी सुत्तों में कम से कम आठ सौ एकहत्तर सुत्तों का उपदेश केवल श्रावस्ती में हुआ था । चीनी यात्रियों

१. डिपापाने०, जिल्द २, देखिए राजगृह ।

२. वि० च० लाहा, ज्याग्रफी ऑफ अली बुद्धिज्म, पृ० ८ ।

३. कोसलानपुरीरम्या, सुत्तनिपात, ५/१/१७ ।

४. सावत्थि च पुरुत्तमम्, वहीं, ५/१/३७ ।

५. विष्णुपुराण, चतुर्थ, २, ३७; मत्स्यपुराण १२, २९-३०; ब्रह्मपुराण ७.५३ ।

६. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, ३/२३/८३ ।

७. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ५५-५६ ।

८. किन्ड्रेड् सेइंग्स्, जिल्द ५, पृ० अठारहवाँ, भूमिका, उद्धृत, वाग्ले-सोसाइटी ऐट दि टाइम् ऑफ बुद्ध, पृ० ३८ ।

के विवरणों के अनुसार यह नगर अचिरावती नदी के तट पर स्थित था ।^१ श्रावस्ती साकेत से उत्तर छह लीग की दूरी पर, राजगृह के उत्तर-पश्चिम ४५ लीग की दूरी पर, सुप्पारक के उत्तर पूर्व १०० लीग से कुछ अधिक दूरी पर और संकिस्सा से ३० लीग की दूरी पर थी । विनयपिटक^२ भी इसे अचिरावती के किनारे और तक्षशिला से १४७ योजन, राजगृह से ४५ योजन, साकेत से छह योजन और संकाश्य से ३० योजन की दूरी पर स्थित बताता है ।

आचार्य बुद्धघोष^३ इसके नाम की व्युत्पत्ति करते हुए बताते हैं कि यहाँ सब कुछ होने (सब्बं + अत्थि = सर्वम् + अस्ति) से इसे श्रावस्ती कहा गया । विनय-पिटक^४ से इस बात का समर्थन मिलता है कि यहाँ सुख और भोग की किसी वस्तु की कमी नहीं थी । बुद्ध काल में यह नगर राजा प्रसेनजित की राजधानी था । इस नगर में अभिजात ब्राह्मणों के आवास थे, जिनके कुलपति जानुसोणि नामक ब्राह्मण आचार्य थे ।^५ श्रावस्ती एक बहुत ही रमणीक स्थान था, जहाँ का सबसे मुख्य स्थान जेतराजकुमार का जेतवन नामक बगीचा था, जिसे प्रसिद्ध वणिक् अनाथपिण्डिक ने खरीदकर जेतवन विहार के रूप में परिवर्तित किया ।^६ यह श्रावस्ती से एक मील दक्षिण में स्थित था । यहीं पर बुद्ध ने अनाथपिण्डिक के आमंत्रण पर अपने उपदेष्टा जीवन की तसरी वर्षा बितायी । बाद में और चौबीस वर्षावास भी उन्होंने यहीं व्यतीत किये ।^७

श्रावस्ती एक ऐसे मार्ग पर स्थित था, जो तत्कालीन भारत के सभी नगरों से सड़कों द्वारा जुड़ा था । उत्तर में तक्षशिला से लेकर दक्षिण में प्रतिष्ठान तक यहाँ से राजमार्ग जाते थे । श्रावस्ती से राजगृह जाने वाली सड़क सेतव्या, कपिल-वस्तु, कुसिनारा, भोगनगर और वैशाली होकर जाती थी । एक दूसरी सड़क इसे साकेत, कौशाम्बी, वनसह्वय, विदिशा, गोनर्ध, उज्जयिनी होते हुए प्रतिष्ठान से जोड़ती थी । श्रावस्ती से वाराणसी जाने वाला मार्ग कीटागिरि से होकर जाता

१. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २९ ।

२. सम्पादित, ओल्डेन्बर्ग, जिल्द १, पृ० १९१-१९३ ।

३. पपञ्चसूदनी, पोटेसो, जिल्द १, पृ० ५९-६० ।

४. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४, पादटिप्पणी २ ।

५. दीर्घनिकाय, प्रथम, १३/१/२; मज्झिमनिकाय, ४/१/१ और आगे ।

६. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ४५८ ।

७. संयुक्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग १, भूमिका, पृ० २; थॉमस्, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० ७१ ।

८. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृ० ११२-१३ ।

था।^१ श्रावस्ती एक व्यापारिक नगर था और यहाँ पर तीन प्रमुख व्यापारिक पथ मिलते थे। इसके उत्तर में १२० योजन की दूरी पर स्थित कुकर नामक नगर में यहाँ के व्यापारी व्यापार के लिये जाते थे।^२ सोहगौरा ताम्रपट्ट अभिलेख एक उचित साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहता है कि "जनपथों, दूरियों एवं अनुकूल बस्तियों में ढेरों सारे रस्सों एवं सार्थों के लिए उपयोगी अन्य सामग्रियों से सज्जित राज्य-निर्मित गोदाम बने थे।"^३ इस नगर में हमें उस समय मिश्रित स्वरूप वाले लोगों के निवास-स्थान देखने को मिलते हैं। काशी और कोशल का सारा आन्तरिक और बाह्य व्यापार श्रावस्ती से होकर चलता था। ललितविस्तर^४ के अनुसार, श्रावस्ती हमेशा राजाओं, राजकुमारों, मंत्रियों और उनके अमात्यों से भरी रहती थी।

प्राचीन श्रावस्ती की पहचान सर्वप्रथम कनिंघम् ने १९०८ में की थी और उत्तर प्रदेश के गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा रेखा पर स्थित सहेत-महेत नामक दो टीलों से इसे मिलाया था, जहाँ से उन्हें बोधिसत्त्व की एक विशाल प्रतिमा प्राप्त हुई थी। इसमें श्रावस्ती की कोशम्बपुरी का उल्लेख है। १९०८ ई० की खुदाई में यहाँ से गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल (१११४-११५४ ई०) का एक दान-पत्र भी मिला, जिसमें जेतवन विहार में रहने वाले छह भिक्षुओं को दान दिये जाने का उल्लेख है। ऑर्केलाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया द्वारा के० के० सिनहा^५ के निर्देशन में हुए १९५९ के उत्खनन कार्य से भी कनिंघम् द्वारा समीकृत सहेत-महेत ही श्रावस्ती सिद्ध हुआ है।

साकेत

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के लिए उपयुक्त नगरों में साकेत की भी गणना की गयी थी। यह कोशल जनपद का एक महत्वपूर्ण नगर था। बौद्ध साहित्य से साकेत और अयोध्या नामक दो अलग-अलग नगरों के अस्तित्व ज्ञात होते हैं, यद्यपि कुछ विद्वान् दोनों को एक ही मानते हैं। रीज-

१. वि० च० लाहा, हिस्टॉरिकल ज्याॅग्रफी, पृ० २१९ और आगे; म० नि० द्वितीय, हिन्दी अनुवाद, २०।१।२ और आगे।

२. डिपापाने०, जिल्द १, पृ० ६१५।

३. वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २११-१२, डिपापाने०, जिल्द १, देखिए सावत्यी।

४. हिस्टॉरिकल ज्याॅग्रफी, पृ० १२५।

५. देखिए, एक्सकवेशन्स ऐट श्रावस्ती।

डेविड्स^१ कहते हैं कि ये दोनों लन्दन और वेस्टमिनिस्टर की तरह एक दूसरे से सटे हुए द्वयनगर थे। महासुदस्सन सुत्त^२ में साकेत को तत्कालीन भारत की छह प्रमुख महानगरियों में एक बताया गया है। महावग्ग^३ में श्रावस्ती से साकेत की दूरी छह योजन बतायी गयी है, जो एक ही दिन में सात जगहों पर सात रथों को बदलकर तय की जा सकती थी। रथविनीतसुत्त^४ के अनुसार श्रेष्ठ घोड़ों के सात पुनर्योजनों से श्रावस्ती से साकेत पहुँचा जा सकता था।

साकेत और श्रावस्ती के बीच का रास्ता चोरों और डाकुओं के भय से त्रस्त रहता था, जो भिक्षुओं और सन्यासियों को भी नहीं छोड़ते थे।^५ फिर भी साकेत से होकर अनेक राजमार्ग जाते थे, जो उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला और दक्षिण-पूर्व में राजगृह तक पहुँचते थे^६ तथा हमेशा व्यापारियों से भरे रहते थे। बावारि^७ के शिष्यों ने प्रतिष्ठान से राजगृह जाते समय अपना रास्ता तय करते हुए साकेत से होकर यात्रा की थी। साकेत से कौशाम्बी जाने के लिए यमुना नदी को पार करना पड़ता था। यहाँ पर सम्पन्न सेटिठ गृहपतियों का निवास था। धम्मपद^८ की टीका से ज्ञात होता है कि बुद्ध-शिष्या विशाखा मृगारमाता के पिता धनंजय का यहीं निवासस्थान था। वहाँ भ्रमवश उसी को इस नगर का संस्थापक बताया गया है और कथित है कि चूँकि यह नगर शाम को बसाया गया था, इसका नाम साकेत पड़ा। परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अगर बुद्ध के समय इसे पहले-पहल बसाया गया होता तो बुद्ध-निर्वाण तक यह बुद्ध युग की छह प्रमुख महानगरियों में एक के रूप में इतनी शीघ्र नहीं विकसित हुआ होता। यहीं पर बुद्ध ने साकेत जातक (सं० २३७) का उपदेश किया था। श्रावस्ती और साकेत के बीच में पड़ने वाले तोरणवत्थु नामक गाँव में भिक्षुणियों ने कोसल प्रदेश में चारिका के क्रम में भ्रमण करते हुए निवास किया था। पतञ्जलि^९ ने इसे उत्तर कोसल

१. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २९।

२. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५२।

३. विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २५६।

४. सत्तरथ विनितानि। मज्झिमनिकाय, प्रथम, २५।५।९०।

५. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२७।

६. वहीं, पृ० २६७ से २८०।

७. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, ५।१।३६, ३७, ३८, पृ० २६१।

८. पाटेली, जिल्द १, भाग २, पृ० ३८६-३८७।

९. भिक्वुनि कोसलेसु चारिकं चरमाना अन्तरा च साकेतं तोरणवत्थुस्मिं वासं उपगता ज्ञेति। संयुत्तनिकाय, चतुर्थ, ४४।१।१।

१०. देखिए, प्रमुदयाल अग्निहोत्री, पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० १२३-१२४।

की राजधानी और पूर्व तथा पश्चिम भारत को जोड़ने वाला मार्ग कहा है ।

वाराणसी

बुद्धकालीन छह प्रमुख महानगरियों में यह भी एक थी ।^१ बुद्ध द्वारा इसि-पत्तन मृगदाव में सबसे पहले उपदेश दिये जाने के कारण यह बौद्धों के एक तीर्थ-रूप में प्रसिद्ध हो गयी ।^२ यह गंगा के उत्तरी तट पर वरुणा और गंगा के बीच में स्थित थी । बुद्धपूर्वकाल में यह एक स्वतंत्र राष्ट्र की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध थी । परन्तु बुद्ध के समय से यह कोसलराज प्रसेनजित के अधिकार में जा चुकी थी । इसका वाराणसी नाम पड़ने का कारण वरुणा और असी नामक क्रमशः एक नदी और नाले के बीच में बसा होना था । जातकों^३ में इसके अनेक नाम मिलते हैं, यथा—सुदस्सन, ब्रह्मवर्द्धन, पुष्पवती, रम्मनगर और मोलिनी ।

राजमार्गों द्वारा वाराणसी कई प्रमुख नगरों से जुड़ी थी । यहाँ से एक सड़क उत्तर श्रावस्ती की ओर तथा उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला की ओर जाती थी । पूर्व में एक मार्ग वैशाली तक जाता था । जातकों^४ में तक्षशिला से इसकी दूरी १२० योजन बतायी गयी है । जातकों^५ से यह भी सूचना मिलती है कि यहाँ के राजकुमार और धनी लड़के तक्षशिला में विद्या ग्रहण करते थे । परन्तु वाराणसी में काफी प्राचीन और बड़ी-बड़ी विद्या संस्थाओं के प्रमाण मिलते हैं ।^६ वाराणसी से नदी के रास्ते कौशाम्बी की दूरी ३० योजन थी ।^७

१. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५२ ।

२. वहीं, पृ० १४१ ।

३. जातक सं० ४ ।

४. तेलपत्त जातक, सं० ९६; सुसीम जातक, सं० १६३ । सुसीम जातक नाम की दो कथाएँ हैं । भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने दूसरी की संख्या ४११ दी है । सं० १६३ में वाराणसी से तक्षशिला की दूरी १२० योजन बतायी गयी है । देखिए, जातक, हिन्दी अनुवाद, जि० २, पृ० १६० ।

५. फॉसबॉल संस्करण, जि० २, पृ० ४; धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो०, जि० १, पृ० २५० ।

६. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ४४५ ।

७. विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २२०; पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जि० २, पृ० २२९; मनोरथपूरणी (अंगुत्तरनिकायटीका) से भी यही सूचना मिलती है ।

वाराणसी एक सम्पन्न व्यापारिक और जनसंकुल नगरी थी। यहाँके सुन्दर और चमकीले वस्त्रों का उल्लेख हमें सुत्तपिटक^१ में कई स्थलों पर प्राप्त होता है। वत्थसुत्त^२ के अनुसार यहाँ का बुना हुआ वस्त्र सर्वश्रेष्ठ होता था। वाराणसी उस समय भी अपने वर्तनों, खिलीनों और रेशम के कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ पर व्यापार हेतु सैधव देश के घोड़े भी लाये जाते थे। यहाँ हाथी-दाँत के व्यापारी भी रहते थे। नगरमें एक दंतकारवीथि थी, जो सम्भवतः हाथीदाँत के व्यापारियों के व्यापार का केन्द्र थी। वे वाराणसी से गंगा नदी द्वारा प्रतिष्ठान तक, फिर वहाँ से यमुना नदी से होते हुए कौशाम्बी तक व्यापार हेतु जाते थे। गुत्तिल जातक (सं० २४३) में वाराणसी को जम्बूद्वीप की सर्वश्रेष्ठ नगरी बताया गया है।

अपने समकालीन अन्य नगरों की भाँति वाराणसी भी चारों ओर से गहरी खाई और दुर्ग से घिरी हुई थी तथा उसमें प्रवेश के लिए द्वार बने थे।^३ नगर के अन्दर और बाहर विभिन्न देशों वाले रोजगार से सम्बद्ध लोगों के आवास स्थल बने थे। शिकारी और मल्लुआरे नगर के बाहर रहते थे।^४ इस नगर का विस्तार १२ योजन का था।^५

प्राचीन वाराणसी को आधुनिक राजघाट से समीकृत किया गया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के प्रो० अवध किशोर नारायण के निर्देशन में समय-समय पर हुए पुरातात्विक उत्खननों से वाराणसी का बुद्धकालीन नगर होना सिद्ध होता है।^६

१. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्तसं० ३/१०; ३/११, पृ० २८१ से ३०१ और ३०२ से ३१४; मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३१२।
२. जातक, फोसबॉल संस्करण, जि० २, पृ० २८७, ३३८; जि० ४, पृ० १९७।
३. वाराणसीय गन्तवा पाकारसमीपे च सीतेन कथ्यमाना निसीदिसुं। नगर के द्वारयुक्त होने की पुष्टि इस उद्धरण से होती है—तदा वाराणसी सेट्ठि नगरा निवसन्ति नहयितुं गच्छन्तोः ते गिज्जे किलमन्ते दिस्वानः। गिज्ज जातक, सं० १६।
४. जातक संख्या, १५५।
५. पाकार परिखायो द्वादस योजनिको होति। जातक सं० १२५।
६. राजघाट की खुदाई का विवरण अभी हाल में ४ खण्डों में प्रकाशित हुआ है। देखिए, अ० कि० नारायण, आदि राजघाट एक्स्कवेजन्स्।

वैशाली

यह लिच्छवियों की राजधानी थी, जो छठी शताब्दी ईसा पूर्व में एक महान् एवं शक्तिशाली जन थे।^१ दीघनिकाय में वर्णित बुद्ध के परिनिर्वाण योग्य नगरों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु बुद्ध ने अपनी अन्तिम यात्रा में वैशाली में कुछ समय तक निवास किया था।^२ प्राचीन पालि सन्दर्भों में इसके प्रासादों, आरामों, कूटागारों और प्राकारों के उल्लेख मिलते हैं, जो बहुत प्रामाणिक न होते हुए भी तत्कालीन विकसित नगर-जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।^३ बुद्ध स्वयं वैशाली के रमणीक स्थानों की चर्चा करते हुए उदेन, गोतमक, सत्तम्ब, बहुपुत्त, सारन्दद जैसे सुन्दर चैत्यों का उल्लेख करते हैं।^४ बुद्ध यहाँ की कूटागारशाला में निवास किया करते थे। यहीं पर अम्बपाली नामक गणिका ने बुद्ध संघ को अपना अम्बवन दान दिया था और बुद्ध की शिष्या हो गयी थी।^५ बुद्ध काल में वैशाली एक भव्य, विराट्, धनधान्य से परिपूर्ण सम्पन्न नगरी थी, तथा इस नगर को अच्छा बनाने में वैशाली नामक गणिका का विशेष योगदान था।^६ यह नगर तीन ओर से प्राचीरों से घिरा था, जिसमें एक-एक गाउत की दूरी पर द्वार तथा बुर्ज बने थे।^७ यह सोने, चाँदी तथा उपभोग की अन्य प्रचुर सामग्रियों से भरे भाण्डार-गारों वाले धनाढ्य सेट्ठियों की नगरी थी।^८

यह अपने समय की प्रसिद्ध व्यापारिक नगरी भी थी और राजगृह से श्रावस्ती जाने वाले मार्ग का मुख्य पड़ाव थी। यहाँ से गंगा नदी द्वारा वाराणसी से व्यापार होता था। एकपण्ण जातक (सं० १४९) यहाँ के सात हजार सात सौ सात राजाओं का उल्लेख करता है। वहाँ वर्णित है कि इन सभी राजाओं के अलग-अलग भवन थे। मल्लों की तरह यहाँ पर एक संस्थागार भी था, जिसमें बुद्ध ने कई बार

१. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २९।

२. महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२७।

३. महावग्ग, ८/१/१ और आगे।

४. दीघनिकाय, द्वितीय, ३/१०/३६ और आगे; उदान, पृ० १३६।

५. इमाहं, भन्ते, आरामं बुद्धप्पमुखस्सभिक्षुसंघस्सदिम्मी। दी० नि०, पालि, द्वितीय, पृ० ७८।

६. विनयपिटक, षाटोसो०, जि० १, पृ० २६८।

७. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० ५०४।

८. बुद्ध खो पन मे वेसालियं आती धड्ढा महद्धता महाभोगा पहत जातरूप रजेता पहत वित्तुपकरणा पहत धन धवआ। पाराजिक, पृ० १९।

घमोपदेश किये थे।^१ वैशाली में बुद्ध ने अपने अनेक प्रवचन किये।

सर्वप्रथम कनिष्क^२ ने वैशाली की पहचान बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित आधुनिक बसाढ़ नामक गाँव से की, जिसकी प्रामाणिकता की पुष्टि उत्तर-कालीन उत्खननों^३ से हुई। आधुनिक बसाढ़ नामक गाँव हाजीपुर अनुमंडल में तन्नामक नगर से २० मील उत्तर में स्थित है।

अयोध्या

इसे पालि साहित्य में अयोज्झा कहा गया है। संयुत्तनिकाय^४ में इसे भ्रमवश गंगा के किनारे स्थित बताया गया है, परन्तु बुद्ध-काल में भी अयोध्या सरयू नदी के किनारे ही स्थित था तथा श्रावस्ती और साकेत के बाद कोसल राज्य का सर्व-प्रमुख नगर था। जातक^५ कथाओं में इसे प्राचीन राजा कालसेन की राजधानी बताया गया है। युवान्-च्वाङ्ग भी भ्रमवश इसे गंगा नदी के तट पर ही स्थित बताता है और इसे य-यू-ते कहता है।^६ बुद्ध ने यहीं पर फेनमुत्त और दारुखन्दमुत्त का उपदेश किया था। यहाँ के निवासियों ने बुद्ध के लिये एक ऐसे बिहार का निर्माण करवाया, जो सरयू नदी के घुमाव के स्थान पर वन के बीच में स्थित था।^७ आधुनिक अयोध्या नगर प्राचीन अयोध्या के पास ही स्थित है और उत्तर रेलवे के फैजाबाद स्टेशन के पास सरयू नदी से तीन मील दक्षिण तक फैला हुआ है। इसके कुछ स्थान नदी के किनारे भी पड़ते हैं।

अनूपिया

मल्ल राष्ट्र में कपिलवस्तु से २० योजन पूर्व में स्थित अनूपिया एक छोटा सा नगर था। बौद्ध साहित्य में इसकी प्रसिद्धि का कारण यह है कि बुद्ध ने अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद अनोमा नदी को पार कर अनूपिया में एक सप्ताह तक निवास किया था। अनूपिया में मल्लों का एक आम्रवन था, जहाँ उन्होंने बुद्ध के

१. महावग्ग, ६/१९/३१।

२. कनिष्कम्, आसर्णि, जिल्द १, पृ० ५५-५६ और जि० १६, पृ० ६।

३. देखिए, वि० प्र० सिन्हा ऐण्ड राय सीताराम, वैशाली एक्स्कवेन्सन्स्, सन् १९५८-६२।

४. संयुत्तनिकाय, पाटोसो, जिल्द २, पृ० १४० और आगे; जिल्द ४, पृ० १६९-१७९।

५. फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, पृ० ८२।

६. वाट्स, जिल्द १, पृ० ३५४।

७. बुद्धघोष, सारत्थप्पकासिनी, पाटोसो, जिल्द २, पृ० २३३-२३४।

निवास के लिए एक विहार बनवाया था^१। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् ने अनूपिया में ही सुखविहारी जातक (सं० १०) और पाटिक सुत्त^२ का उपदेश किया था। बुद्ध ने अपने शिष्यों को पहली प्रवज्या यहीं दी थी। ये शिष्य थे—भदिय, आनन्द, भृगु, किम्बल, देवदत्त और उपालि। पालि^३ परम्परा के अनुसार अनूपिया से कपिलवस्तु और राजगृह की दूरी ३० योजन थी। महावस्तु^४ में इसे अनोमियं कहा गया गया है।

अल्लकप्प

यह बुलियों की राजधानी थी। महापरिनिब्बानसुत्त^५ में इसकी चर्चा बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के बाँटे जाने के समय आती है, जब बुलिय कहते हैं—‘भगवान् भी क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं।’ अल्लकप्प नगर सम्भवतः मल्लों की पूर्वी सीमा के आसपास कहीं बसा था। घम्मपदटीका^६ से यह सूचना मिलती है कि यह नगर दस योजन के फैलाव में बसा था, और यहाँ का राजा वेठ्ठदीप के राजा का मित्र था।^७

अस्सपुर

यह अंग राज्य का एक नगर था। चैतिजातक^८ के अनुसार चेदिवंश के राजा उपचर के पाँच पुत्रों ने इसे बसाया था। इसका अस्सपुर नाम पड़ने का कारण यह था कि उपचर के पुत्रों ने वहाँ एक सफेद घोड़ा देखा और उस स्थान का विकास कर अस्सपुर नगर की स्थापना की। यह उपचर की राजधानी सत्थिवती से दक्षिण की ओर स्थित था। यहीं पर भगवान् ने महाअस्सपुरसुत्त और चूलअस्सपुरसुत्त का उपदेश किया था।^९

१. घम्मपदटीका, पाटोसो, जि० ३, पृ० ८१६।

२. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१५।

३. जातक, जिल्द १, हिन्दी अनुवाद, पृ० ११३।

४. भाग २, पृ० १८९।

५. अस्सोसुं खो अल्लकप्पका बुल्यो....भगवापि, पिखत्तियो मयं, पिखत्तिया। दीघनिकाय, तृतीय, ३/२६/१९२, पालि, नालन्दा, पृ० ११७।

६. हार्वर्ड ओरियण्टल् सीरिज, जिल्द २८, पृ० २४७।

७. ललितविस्तर, लेफमान्, पृ० २४३।

८. जातक सं० ४२२।

९. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १६३ और १६८।

आपण

आपण अंगुत्तराप देश की राजधानी थी। संयुत्तनिकाय^१ में इसे अंगों का नगर कहा गया है, जो एक व्यापारिक महत्त्व का स्थान था। पपञ्चसूदनी^२ में इस नगर का यह नाम पड़ने का कारण बीस हजार बाजारों से इसका भरा रहना बताया गया है। बुद्ध ने सारिपुत्र के साथ यहाँ पर एक बार निवास किया था और श्रद्धा पर वार्तालाप किया था, जो संयुत्तनिकाय^३ के आपणसुत्त में निहित है। यहाँ ब्राह्मणों की ही अधिकता थी। यहीं पर भगवान् ने पोतलियसुत्तन्त, लकुटि-कोपमसुत्त और सेलसुत्तन्त का उपदेश किया था।^४ आपण नगर की बगल से मही नदी बहती थी।

आड़वी

आड़वी श्रावस्ती और राजगृह के बीच में स्थित एक छोटा सा नगर था। इसकी दूरी श्रावस्ती से ३० योजन और वाराणसी से १२ योजन थी। विनय-पिटक^५ के अनुसार एक बार बुद्ध श्रावस्ती से कीटागिरि और आड़वी होते हुए राजगृह गये थे। बुद्ध ने अपना सोलहवाँ वर्षावास पूर्ण रूप से आड़वी में ही व्यतीत किया था। कनिंघम् और हॉर्नले इसे उन्नाव जिले में स्थित नेवल या नवल से समीकृत करते हैं। परन्तु नन्दलाल डे^६ इसे अविय या अविया से समीकृत करते हैं, जो इटावा से २७ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। यहीं पर भगवान् ने तिपल्लत्यमिग जातक (सं० १६) का उपदेश किया था।

इसिपत्तन

इसे ऋषिपत्तन भी कहते थे। यह बनारस के पास स्थित एक मृगदाय या मिगदाय था। यहीं पर बुद्ध ने अपने पंचवर्गीय भिक्षुओं को अपना सबसे पहला उपदेश देते हुए धर्मचक्रप्रवर्तन किया था। तब से यह स्थान एक बौद्ध तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया।^७ उरुवेला से इसकी दूरी १८ योजन बतायी गयी है। इसके नाम की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हिमालय से आकाश में चलने वाले

१. अंगानां निगमो, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ७२६।
२. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ५६८।
३. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ७२६।
४. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २/१/४; २/५/३; २/२/६ ॥
५. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १७० से १७५।
६. ऐंशियेट् इण्डियन् हिस्टोरिकल् ट्रेडिशनस्, पृ० ३१४।
७. इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्रं पवत्तितं' ति, आनंद, सट्ठस्स कुलपुत्तस्स दस्स-नीयं संवेजनीयं ठानं। दीघनिकाय, नालन्दा, द्वितीय, ३/२३/७८, पृ० १०९।

ऋषिगण यहाँ उतरते थे (इसयो एत्थ निपतन्ति उपवन्ति चाति इसिपत्तनम्) । इसका मृगदाव नाम इसलिए पड़ा कि यहाँ पर मृग स्वतन्त्र रूप से निर्भय चरते और निवास करते थे । भगवान् ने यहाँ पर संयुक्त निकाय के पञ्चसुत्त और पास-सुत्त, तथा अंगुत्तरनिकाय के रथकारसुत्त, समयसुत्त, काटुवियसुत्त और पारायणसुत्त का उपदेश किया था । ऋषिपत्तन की पहचान आजकल के सारनाथ से की जाती है, जो बनारस से छह मील की दूरी पर स्थित है । कनिंघम्^१ ने सारनाथ को मृगदाय के आधे मील में फैले उस वन्य भाग से समीकृत किया है, जो उत्तर में धमेकस्तूप से लेकर दक्षिण में चौखण्डोस्तूप तक उस समय फैला था ।

उरुवेला

यह बोधगया के पास नेरंजना नदी के किनारे स्थित था । उरुवेला नगर वह स्थान था, जहाँ बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्ति के पूर्व छह वर्षों तक घोर तपस्या की थी ।^२ यहीं पर पंचवर्गीय भिक्षुओं ने उनका साथ छोड़ दिया था और वहीं सुजाता ने उनको खीर खिलायी थी । दिव्यावदान^३ में उरुवेला को उरुवल्लुआ कहा गया है । महावस्तु में उरुवेला में स्थित प्रसकन्दक बलाकल्प, उज्जंगल और जंगल का उल्लेख है । उज्जंगल और जंगल नामक गाँवों के कारण कभी-कभी उरुवेला को एक वन के रूप में जाना जाता है । कनिंघम्^४ प्राचीन उरुवेला की पहचान आधुनिक ऊरेल नामक छोटे से गाँव से करते हैं, जो वर्तमान समय में कुछ झोपड़ियों का एक समूह मात्र है ।

उक्काचेला

यह वज्जियों का एक नगर था, जो गंगा नदी के किनारे बसा हुआ था । इस नगर में भगवान् बुद्ध ने चूलगोपालकसुत्तन्त^५ का उपदेश दिया था । संयुक्त-निकाय^६ के अनुसार बुद्ध ने एक बार यहाँ गंगा के तट पर भिक्षुओं के विशाल समूह के साथ वज्जियों के बीच विहार किया था । सारिपुत्र के भी वहाँ विहार करने का उल्लेख है ।

१. आसरि०, जिल्द १, पृ० १०७ ।

२. मज्झिमनिकाय, पाटोसो०, पृ० १६६ ।

३. दिव्यावदान, पृ० २०२ ।

४. आसरि०, १९०८-९, पृ० १३९ ।

५. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, १/४/४, पृ० १३८ ।

६. संयुक्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, ३७/१, पृ० ५६३; ४५/२/७, पृ० ६९३ ।

कपिलवस्तु

यह शाक्य गणतंत्र की राजधानी थी। ललितविस्तर^१ में इसे कपिलपुर और कपिलाह्वयपुर कहा गया है। बौद्ध साहित्य में इसकी स्थापना का श्रेय इक्ष्वाकु-वंशीय राजकुमारों को दिया गया है, जो अपने पिता द्वारा राज्य से निष्कासित कर दिये जाने पर हिमालय की तराईयों में चले गये थे।^२ ललितविस्तर के अनुसार इस नगर में क्रीड़ागार, उद्यान, बाजार, बढ़िया बनायी हुई सड़कें और भले तथा विद्वान् लोगों का निवास था। इसमें भले लोगों के होने के कारण ही यह बुद्ध के जन्म के उपयुक्त माना गया।^३

इस नगर से पाँच योजन की दूरी पर अनोमा नदी थी, जिसे बुद्ध ने अपने महाभिनिष्क्रमण के समय पार किया था। राजगृह से इसकी दूरी साठ योजन थी। यह नगर प्रतिष्ठान से राजगृह जाने वाले मार्ग पर पड़ता था, जिसे बावारि^४ के शिष्यों ने अपनाया था। एक सड़क द्वारा कपिलवस्तु वैशाली से भी जुड़ा था।^५ कपिलवस्तु के निकट एक विशाल जंगल था, जिसे महावन कहते थे। वह उत्तर में हिमालय की तलहटियों तक फैला था। संयुक्तनिकाय^६ में इस नगर के बारे में कहा गया है कि प्रमुख व्यवित ही इसमें निवास करते थे, जो नगर के बाहर जाने के लिए घोड़ों, रथों और अन्य वाहनों का उपयोग करते थे।

विद्वानों में कपिलवस्तु की निश्चित पहचान के बारे में संदेह रहा है। प्रारंभ में अनेक विद्वानों ने इसे रुम्मिनदेई में अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ से १४ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित तिलौराकोट से मिलाया।^७ किन्तु भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा किए गये उत्खननों से अब सिद्ध हो गया है कि कपिलवस्तु की पहचान तिलौराकोट से न करके बस्ती जिले की तराई में स्थित आधुनिक पिपरहवा नामक गाँव से की जानी चाहिए।^८

१. ललितविस्तर, पृ० २८, २८३।
२. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० २५८ और आगे।
३. राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, पृ० ४५-७५, १२५; बुद्धचरित, १/५।
४. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६१।
५. विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० २५२।
६. संयुक्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ७८३; वि० च० लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, (हिन्दी अनुवाद) पृ० १५३।
७. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १८; गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ६८।
८. दृष्टव्य, श्रीवास्तव, कपिलवस्तु इन् बस्ती डिस्ट्रिक्ट ऑफ् यू० पी०।

कुसिनारा

यह मल्लों के एक शाखा की राजधानी थी। यद्यपि यह नगर बुद्धकालीन छह प्रमुख महानगरों जैसा प्रमुख तो नहीं था, तथापि बुद्ध के यहाँ पर परिनिर्वाण प्राप्त कर लेने के कारण यह उनके जीवन से सम्बन्धित चार प्रमुख तीर्थस्थानों में से एक के रूप में प्रसिद्ध हो गया।^१ यह प्राचीन काल में महासुदर्शन नामक राजा की राजधानी रह चुकी थी, जिसका नाम कुशावती था और यह पूरब से पश्चिम में १२ योजन और उत्तर से दक्षिण में सात योजन में फैला था। यह नगर रत्नों से सुसज्जित चहारदीवारी से घिरा हुआ था।^२ एक जातक^३ में इसे देवताओं की नगरी अलकनंदा के समान बताया गया है। पावा से इसकी दूरी तीन गाउत थी और दोनों नगरों के बीच में ककुत्था नदी बहती थी।^४ कुसिनारा के एक किनारे पर हिरण्यवती नदी बहती थी, जो आजकल की छोटी गंडक है। बुद्ध ने इसी नदी के किनारे मल्लों के शालउपवत्तन में अपना शरीर त्याग किया था।

देवरिया जिले में स्थित वर्तमान कसया से कुसिनारा की पहचान की गयी है, क्योंकि यहाँ से एक ऐसा ताम्रपट्ट प्राप्त हुआ है, जिस पर उत्कीर्ण है—
परिनिर्वाण चैत्य ताम्रपट्ट^५। कसया गोरखपुर नगर से ३७ मील पूर्व, देवरिया नगर से ३१ मील उत्तर और पड़रौना नगर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित^६ है। कुछ विद्वान्^७ कुसिनारा की पहचान कसया से थोड़ी दूर पर स्थित खनुआनाला नामक जाले के किनारे बसे हुए अनुरुधवा नामक गाँव से करते हैं।

१. इध तथागतो अनुपादिसेसाय 'निब्बानधातुयापरिनिब्बुतो' ति, आनंद, सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयं संवेजनीयं ठानं। दीघनिकाय, द्वितीय, पालि, पृ० १०९।
२. रञ्जो, आनंद, महासुदनस्स अयं कुसिनारा कुसावती नाम राजधानी अहोसि, पुरत्थिमेन च पच्छिमेन च द्वादसयोजनानि आयामेन उत्तरेन च दक्षिणेन च सत्तयोजनानि वित्थारेन। दीघनिकाय, द्वितीय, पालि, पृ० १३०; जातक सं० ९५, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५५३-५४।
३. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ३९२।
४. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १३७; सुमंगलविलासिनी, पाटेशो०, जिल्द २, पृ० ५७२-५८२।
५. आसरि०, १९११-१२, पृ० १७२।
६. ऐंशियेंट् ज्यॉग्रफी, पृ० ४३० और आगे; आसरि० भाग २२, पृ० १६ और आगे; जराएसो०, १९१३, पृ० १५२।
७. आसरि० १८६१-६२, पृ० १६ और आगे; १८७५-७७, पृ० ९२; १९०५-

केसपुत्त

यह कालामों का नगर और उनकी राजधानी थी। कालाम लोग कोसलराज प्रसेनजित की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। इस नगर की चर्चा केवल बोधनिकाय में आती है। आलारकालाम^१ यहीं का निवासी था, जिसके पास बुद्ध अपने महाभिनिक्रमण के बाद ज्ञान-प्राप्ति के लिये गये थे। वि० च० लाहा^२ केसपुत्त की स्थिति कोसल राज्य में बताते हैं।

गया

यह बुद्धकालीन भारत का एक प्रधान नगर था। यहीं पर भगवान् ने बोधि-वृक्ष के नीचे सम्बोधि प्राप्त की और बुद्ध हुए। पपञ्चसूदनी में बनारस से इसकी दूरी १५ योजन बतायी गयी है। बुद्ध गया में अक्सर गयासीस नामक पहाड़ी पर निवास करते थे।^४ बुद्धत्व प्राप्ति के बाद अपनी पहली यात्रा में बोधगया से उरुवेला होते हुए वे वाराणसी गये थे। गया में ही भगवान् से सूचि-लोम यक्ष से सवाल-जवाब किया था।^५ यहीं पर बुद्ध ने आदित्यपरियायसुत्त^६ और गयासुत्त का उपदेश किया था। बौद्ध साहित्य में इसे एक तीर्थ कहा गया है।

देवदह

यह शाक्यों का एक छोटा सा नगर था। यहीं पर बुद्ध की माता माया और विमाता प्रजापति गौतमी उत्पन्न हुई थीं।^७ तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार जब शाक्यों की संख्या बहुत बढ़ गयी तो उन्होंने देवदह नगर का निर्माण किया। इस नगर के पास देवदह नामक झील थी, जिसका नाम पड़ने का कारण या तो शाक्य राजाओं द्वारा उसमें स्नान करना था, अथवा उसका देवताओं द्वारा निर्मित

६, पृ० ७७; इण्डियन् कल्चर, जि० १३, पृ० १३५ और आगे; गोरखपुर जनपद, पृ० ७७; कुशीनगर का इतिहास, पृ० १२०।

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १०५-१०८; बुद्धचरित; १/२२, कर्न मैन्अल् ऑफ् इण्डियन् बुद्धिज्म, पृ० १८।

२. ज्यॉग्रफी ऑफ् अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३०।

३. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३८७।

४. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १९, अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ३०२; विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३४।

५. सुत्तनिपात, सूत्तिलोमसुत्त, पृ० ६७-६९।

६. विनयपिटक, पाटेसो०, पृ० ८४-९५।

७. थॉमस्, लाइफ ऑफ् बुद्ध, पृ० २५।

होना^१ था। यहाँ पर भगवान् ने देवदहसुत्त^२ और देवदहखणसुत्त^३ का उपदेश किया था। यह रोहिणी नदी के पूर्वी किनारे पर बसा था। इसकी आधुनिक स्थिति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। भिक्षु धर्मरक्षित इसे निचलौल रेलवे स्टेशन के पास स्थित मनियरा से मिलाते हैं।^४ किन्तु भिक्षु धर्मरत्न इसे सिंहपुर से दो मील पूर्व में बसे हुए दुतिधावा नामक गाँव से मिलाते हैं और कहते हैं कि वहाँ आज भी बड़ी संख्या में प्राचीन भग्नावशेषों की प्राप्ति होती^५ है।

पावा

यह मल्लों की दूसरी शाखा की राजधानी थी। यहीं पर बुद्ध ने अपने जीवन का अन्तिम भोजन चुंदकम्मर के पुत्र के घर पर किया था।^६ कुत्था नदी इसे कुसिनारा से विभाजित करती थी।^७ बुद्ध जब पहली बार पावा गये थे तो उन्होंने वहाँ के अजकलापक या अजकालालिय नामक चैत्य में निवास किया था। बौद्धों की तरह जैन भी पावा को तीर्थ मानते थे। यहीं पर महावीर की मृत्यु हुई^८ थी। पावा की पहचान प्रायः दो स्थानों से की जाती है। पहली तो देवरिया जिले में पड़रौना नगर के पास स्थित फाजिलनगर नामक कस्बे से जहाँ चेतियाँव अर्थात् चैत्यग्राम नामक गाँव आज भी स्थित है और दूसरी पड़रौना से।^९ इनमें से पुरातात्विक खुदाइयों के आधार पर पड़रौना नगर का प्राचीन पावा होना ज्यादा सही प्रतीत होता है। यह स्थान वर्तमान कसया से १३ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। प्राचीन पावा की आजकल के पड़रौना से पहचान सबसे पहले कार्लाइल् ने की थी, जिसे राहुल सांकृत्यायन ने भी स्वीकार किया।

१. देवा उच्चन्ति राजानो तेषां मङ्गलदहो, संयंजातो, वासो दहो तस्मापि देव-दहो। डिपापाने०, जिल्द १, पृ० ११११-१२।
२. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० ३/१/१, पृ० ४२९-४३४।
३. संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, सुत्त सं० ३४/३/४/१, पृ० ५०२।
४. धर्मदूत, अक्टूबर-नवम्बर, १९४७, पृ० १३२।
५. वहीं, मई-जून, १९५५, पृ० ३६।
६. महापरिनिर्वाणसुत्त (२/३), हिन्दी अनुवाद, पृ० १३६।
७. वहीं, पृ० १३७।
८. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८।
९. संगीति परियायसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सं० ३/१०, पृ० २८२; वि० च० लाहा, महावीर, पृ० ५२।
१०. आसरि०, जिल्द १८, पृ० १०४; जिल्द २२, पृ० ३० और आगे; कनिंघम्, ऐशियेट् ज्याॅग्रफी, पृ० ३६६।

पिप्पलिवन

यह मोरिय गणतंत्र की राजधानी थी। इसका पिप्पलिवन नाम पड़ने का कारण इस नगर के चारों ओर पीपल के पेड़ों की अधिकता थी।^१ कार्लाइल् ने इसकी पहचान गोरखपुर जिले में स्थित राजधानी अथवा उपधौलिया नामक गाँव से की, जो अपने सहनकोट नामक एक किले के प्राचीन अवशेषों के कारण पुराना स्थान प्रतीत होता^२ है। यह राप्ती की सहायक नदी गुर्रा के किनारे बसा हुआ है। सम्भवतः श्वान्-च्वाङ्ग्^३ इसे ही निग्रोधवन कहता है, जहाँ उसने प्रसिद्ध अंगार स्तूप देखा था। राँकहिल्^४ भी निग्रोधवन को ही पिप्पलिवन मानते हैं। हेमचन्द्रराय चौधरी^५ के मत में भी निग्रोधवन ही पिप्पलिवन होना चाहिए।

रामग्राम

रामग्राम कोलियों की राजधानी थी, जो उनके पूर्वपुरुष राम नामक राजा के नाम पर प्रसिद्ध हुई। श्वान्-च्वाङ्ग्^६ इसकी स्थिति कपिलवस्तु से ३०० ली और लुम्बिनी से २०० ली की दूरी पर बताता है। वह इस नगर के बारे में लिखता है कि नगर के दक्षिण-पश्चिम में ईंटों का बना स्तूप था, जिसे पूर्वकाल में कोलिय राजाओं ने बुद्ध के अवशेषों पर निर्मित किया था। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार, उस स्तूप को एक नदी बहा ले गयी थी।^७ इस नदी की पहचान प्रायः अचिरावती या राप्ती से की जाती है। राजबली पाण्डेय^८ ने सम्भवतः इसी आधार पर रामग्राम की स्थिति आधुनिक गोरखपुर नगर के पूर्व में स्थित रामगढ़ ताल के पास कहीं मानी है। मलालशेखर^९ इसकी स्थिति गंगा के किनारे मानते हैं, जो स्पष्टतया गलत है। वि० च० लाहा^{१०} इसे बस्ती जिले के रामपुर देवरिया से समीकृत करते हैं।

१. महावंश टीका, सिंहली प्रकाशन, पृ० ११९ और आगे।

२. आसरि०, जिल्द १८, टूर इन् दि गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट इन् १८७५-७६ ऐण्ड १८७७-७८।

३. वाटर्स, जिल्द २, पृ० २२।

४. लाइफ ऑफ बुद्ध।

५. पोहिऐइ०, पृ० १७२।

६. वाटर्स, जिल्द २, पृ० २०।

७. महावंश, ३०.४-१७ और आगे।

८. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७०।

९. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ७३४।

१०. ज्याग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३२ (नया संस्करण)।

नालन्दा

राजगृह से एक योजन की दूरी पर नालन्दा नामक नगर स्थित था।^१ दीघनिकाय^२ के अनुसार नालन्दा बुद्धकाल में सम्पन्न और प्रभावशाली नगर था, जहाँ पर घनी बस्ती थी। संयुक्तनिकाय यहाँ पर एक बार भयंकर अकाल पड़ने की सूचना देता है। राजगृह से एक सड़क नालन्दा को जाती थी जिसके रास्ते में अम्बलठिका पड़ता था। आगे चलकर यह सड़क पाटलिग्राम तक चली जाती थी। बुद्ध^३ यहाँ के पावारिकाम्बवन में विहार करते थे, जिसे पावारिक ने बनवाया था। यहीं पर उन्होंने उपालि गृहपति, दीर्घ तपस्वी, केवट्ट और असिबन्धकपुत्त से वार्तालाप भी किया था।^४ आगे चलकर नालन्दा बौद्ध शिक्षा का एक बड़ा भारी केन्द्र और विश्वविद्यालय बन गया।^५ नालन्दा की वर्तमान पहचान बरगाँव से की जाती है, जो पटना जिले में स्थित राजगिर से ७ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित^६ है। नालन्दा में सारिपुत्र का जन्म और निर्वाण दोनों ही हुआ था।

भदिय

यह नगर अंग जनपद में स्थित था, जहाँ विशाखा का जन्म हुआ था। दिव्यावदान^७ में इसे भद्रंकर कहा गया है। एक बार बुद्ध वाराणसी से चलकर भदिय गये थे और वहाँ के जातिवर्न में उन्होंने निवास किया था। बुद्ध के समय यह नगर खूब जन-सम्पन्न और घनी था। नन्दलाल डे^१ ने इस नगर की पहचान भागलपुर से २८ मील दक्षिण स्थित भदरिया नामक स्थल से की है, किन्तु राहुल सांकृत्यायन इसे आजकल के मुंगेर नगर से मिलाते हैं।

सेतव्या

सेतव्या कोसल जनपद में उकट्ठा नामक गाँव के नजदीक एक छोटा सा नगर था, जहाँ प्रसेनजित की ओर से णयासि नामक राजकुमार शासन करता

१. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३५।
२. केवट्टसुत्त (सं० १/११), हिन्दी अनुवाद, पृ० ७८।
३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२२।
४. संयुक्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३७६ और आगे जिल्द २, पृ० ११०; दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ७८।
५. ज्यॉग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३१।
६. वहीं, पृ० ३१।
७. दिव्यावदान, पृ० ११३।
८. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २०७।
९. जर्नल् ऐण्ड प्रोसीडिंग्स् ऑफ एशियाटिक् सोसाइटी ऑफ् बेंगाल, १८७४, पृ० ३३७।

था ।^१ यह उस सड़क पर पड़ता था, जिसे बावारि के शिष्यों ने अपनाया था ।^२ श्रावस्ती से एक सड़क सेतव्या होकर राजगृह जाती थी, जिसका बुद्ध ने राजगृह जाते समय एक बार प्रयोग किया था ।^३ बुद्धवंश के अनुसार सेतव्या नगर के सेतव्यानो नामक बगीचे में काश्यप बुद्ध का एक स्तूप था । जैन ग्रन्थों में इसे सेविय अथवा सेविया कहा गया है, जहाँ पर महावीर और केशिकुमार कई बार पधारे थे ।^४ बुद्ध के समय सेतव्या एक महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर था, जो पास के ब्राह्मण ग्राम उकट्टा से स्थल मार्ग द्वारा जुड़ा था । कपिलवस्तु कुसिनारा, पावा, भोगनगर और वैशाली से भी यह राजमार्ग द्वारा जुड़ा हुआ था । इसके उत्तर में सिसपावन था, जहाँ कुमार कश्यप रहते थे और जिन्होंने पायासि नामक ब्राह्मण को पायासिसुत्त^५ का उपदेश किया था । प्राचीन सेतव्या आजकल के गोंडा जिले में कहीं स्थित होना चाहिए ।

सुंसुमारगिरि

भग्य नामक गणतंत्र की राजधानी का नाम सुंसुमारगिरि या सुंसुमारगिरि नगर था । सुंसुमारगिरि नाम पड़ने का कारण ससुमार नामक पहाड़ी पर इसका स्थित होना था, जिसका समीकरण विद्वानों ने आजकल की चुनार नामक पहाड़ी से किया है ।^६ सुंसुमारगिरि नगर का उल्लेख हमें मज्झिमनिकाय^७ और महापरिनिब्बानसुत्त^८ में प्राप्त होता है । चुनार की पहाड़ी, जो सुंसुमारगिरि से समीकृत है, बनारस और मिर्जापुर जिलों के बीच में मिर्जापुर के ही समीप गंगा के दक्षिणी किनारे पर स्थित है । सुंसुमारगिरि नगर में एक भेसकलावन नामक मृगवन स्थित था

१. दीघनिकाय, द्वितीय, बम्बई प्रकाशन, पृ० १३१; जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन् ऐशियेंट इण्डिया ऐंजु डेपिकटेड्, इन् जैन कैनन्स, पृ० ३९४ ।
२. सुत्तनिपात, मूल पालि और हिन्दी अनुवाद, पृ० २६१ ।
३. हार्डी, मैनुअल् ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३८७ ।
४. जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन् ऐशियेंट इण्डिया ऐंजु डेपिकटेड् इन् जैन कैनन्स, पृ० ३३३ ।
५. दोत्रनिकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ, सुत्त सं० (२/१०), पृ० १९९ ।
६. न० ना०वोष, हिस्ट्री ऑफ कोशाम्बी, पृ० ३२ (नोट) और पृ० ३८ ।
७. मज्झिमनिकाय, महाबोधिसभा, सारनाथ, पृ० ६३, २००, ३४६, ३५६ ।
८. दीघनिकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ, पृ० १५०-५१ ।

भोगनगर

यह मल्लों का प्रसिद्ध नगर था, जो वैशाली और पावा के बीच में स्थित था। बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में वैशाली से भण्डिग्राम, हत्थिग्राम, अम्बग्राम और जम्बूग्राम से भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे थे।^४ श्रावस्ती से राजगृह जाने वाले मार्ग पर भोगनगर एक प्रसिद्ध पड़ाव था। मलालशेखर^५ इसे वज्जिदेश का एक नगर मानते हैं, जहाँ बुद्ध ने चार महोपदेशों का प्रवचन किया था। बावारि^६ के शिष्यों ने भी भोगनगर में पड़ाव डाला था।

प्रमुख ग्राम और निगम

सुत्तपिटक में ग्राम और निगमों की चर्चा कभी साथ-साथ और कभी अलग-अलग रूप में की गयी है, यद्यपि ग्राम और निगम दोनों की अलग-अलग स्थिति थी। मनुष्यों के रहने के स्थानों, उनके ग्राम क्षेत्रों (खेतों) और तत्सम्बन्धी सम्पत्तियों से युक्त जो भी क्षेत्र थे, उन्हें ग्राम अथवा ग्राम निगम की संज्ञा दी जाती थी। ग्राम और ग्रामनिगम में पर्याप्त अन्तर था। ग्राम स्थायी अथवा अस्थायी आवास, सजातीय समूहों द्वारा स्थापित निवास-स्थान, एक पेशे से सम्बद्ध होकर लोगों के रहने का स्थान, अथवा ऐसी ही अन्य बस्तियों को कहा जाता था, जिनके लिए बौद्ध साहित्य में गाम, गामक, निगमगाम, द्वारगाम और पच्चन्त-गाम की संज्ञायें दी गयी हैं।^७ परन्तु अमलानन्द घोष^८ के अनुसार निगम का स्थान ग्राम और नगर के बीच में होता था तथा निगम को व्यापारिक नगर या बाजार जैसे स्थान के रूप में माना जा सकता है। जातकों^९ से यह प्रतीत होता है कि गाँव छोटे अथवा बड़े सभी प्रकार के हो सकने थे और उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनमें तीस से लेकर एक हजार तक परिवार रहते थे। इसी प्रकार अनेक गाँवों की रचना व्यावसायिक कारणों से भी होती थी। कुछ ग्राम मिश्रित प्रकार के भी होते थे, जिनमें विभिन्न जातियाँ, विभिन्न पेशे वाले लोगों

१. वहीं, पृ० १३५।

२. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ३९३।

३. सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद, पृ० २६।

४. रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८३।

५. दि सिटी इन् अर्ली हिस्टॉरिकल् इंडिया, पृ० ४६, पदसंकेत १९।

६. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० २०१; तुलनीय विनयपिटक का पाराजिक, पृ० ५६। वहाँ पर एक, दो या तीन कुटियों वाले स्थान को भी गाँव ही कहा गया है।

भौगोलिक स्थिति....

८५

के मिले-जुले निवास होते थे। कुछ गाँव ऐसे होते थे, जो उपनगरीय होते थे और उनका स्वरूप गाँव और नगर से मिला-जुला होता था। सम्भवतः इन्हीं ग्रामों को निगमग्राम की संज्ञा दी जाती थी।^१ वस्तुतः यहाँ हम ग्राम और निगम के विस्तृत विवेचन में जाकर सुत्तपिटक से ज्ञात और भौगोलिक दृष्टि से प्रसिद्ध केवल उन्हीं ग्रामों और निगमों का उल्लेख करेंगे, जो हमारे विषय की सीमा के अन्तर्गत आते थे।

अम्बसण्ड या अम्बसण्डा

राजगृह के पूर्व में यह एक ब्राह्मणों का गाँव था। इस गाँव के उत्तर में बदियक नाम की पहाड़ी थी।^२ अम्बसण्ड आम्ब्रखण्ड का पालि रूप है, जो वहाँ पर आम के बगीचों के होने की ओर संकेत करता है।^३ दीघनिकाय के सक्कपल्हसुत्त का उपदेश भगवान् ने यहीं पर किया था।

अन्धकविन्द

यह मगध राज्य में स्थित एक गाँव था, जो राजगृह से तीन गाउत्त अर्थात् छह मील की दूरी पर स्थित था। गिद्धकूट से निकलने वाली सर्पिणी नदी इसके और राजगृह के बीच से होकर बहती थी। बुद्ध एक बार काशी से होते हुए इस गाँव में गये थे तथा पुनः, राजगृह जाते समय यहीं पर लट्ठकच्चायन नामक एक धार्मिक नेता से उनकी भेंट हुई थी^४। एक बार वे वहाँ वायुदोष के कारण बीमार पड़ गये और उनकी सेवा में लगे हुए आनन्द ने वहाँ के एक वैद्य की स्त्री से खिचड़ी बनवाकर उन्हें दी।^५ संयुत्तनिकाय^६ में भी इस गाँव का उल्लेख आता है।

ओपसाद

कोसल महाजनपद में ओपसाद ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध गाँव था। चंकि नामक ब्राह्मण “जन्ताकीर्ण तृण-काष्ठ-उदक धान्यसम्पन्न, राजभोग्य राजा प्रसेनजित

१. कैम्ब्रिज् ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० २००; सन्तोषकुमार दास, इकानॉमिक् हिस्ट्री ऑफ् ऐशियेन्ड इण्डिया, पृ० ५६; अमलानन्द धोष, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४६।

२. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १८।

३. सुमंगलविलासिनी, सारनाथ पाटोसो, जिल्द ३, पृ० ६९७।

४. विनयपिटक, पाटोसो, जिल्द १, पृ० १०९ और २२४ तथा आगे।

५. विमानवत्थु अट्ठकथा, पाटोसो, पृ० १८५-१८६।

६. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० १२५।

द्वारा प्रदत्त राजदाय-ब्रह्मदेय^१ ओपसाद का स्वामी होकर" वास करता था।^२ इसके उत्तर^३ में देववन नामक शालवन में बुद्ध ने एक बार निवास किया था, जहाँ चंकि ब्राह्मण ने उनका दर्शन किया और अन्त में उनका उपदेश सुनकर उनका उपासक बन गया।

इच्छानंगल

यह भी कोसल महाजनपद का एक प्रसिद्ध गाँव था। इसी के पास उकट्टा नामक गाँव भी था, जहाँ पौष्करसाति नामक ब्राह्मण "कोसलराजप्रसेनजित द्वारा प्रदत्त-राजभोग्य राजदाय ब्रह्मदेय जनाकीर्ण तृण-काष्ठ-उदक धान्यसम्पन्न होकर" उस गाँव के स्वामी के रूप में रहता था।^४ इच्छानंगल के पास एक वनखण्ड था, जहाँ बुद्ध ने विहार किया था।^५ पौष्करसाति ने वहाँ ही अपने शिष्य अम्बष्ठ को भेजकर बुद्ध को शास्त्रार्थ की चुनौती दी थी, जिसके फलस्वरूप भगवान् ने अम्बष्ठ-सुत्त^६ का उपदेश किया। इसे महासाल ब्राह्मणों का गाँव कहा गया है। सुत्त-निपात^७ में यहाँ के चंकि, तारुक्ख, पौष्करसाति, जानुरस्सोणी और तोदेय्य जैसे प्रमुख विद्वान् ब्राह्मणों का उल्लेख आता है। साथ ही, वाशिष्ठ और भारद्वाज जैसे प्रमुख शिष्यों का भी उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छानंगल ब्राह्मणों के जमघट और शास्त्रार्थ सम्बन्धी वार्तालाप का एक बड़ा भारी केन्द्र था। बुद्ध-धोष ने सुत्तनिपात^८ की टीका में कहा है कि "ये विद्वान् ब्राह्मण पूर्णतः निष्णात थे और वहाँ इकट्ठे होकर वेदों का उच्चारण करते थे।" संयुत्तनिकाय^९ में एक जगह उल्लेख है कि एक बार बुद्ध ने इच्छानंगल वनखण्ड में तीन महीनों तक एकान्त निवास किया था और उसके अन्त में वहीं पर उन्होंने इच्छानंगलसुत्त का उपदेश किया। अंगुत्तरनिकाय में^{१०} भी इस गाँव का उल्लेख आता है।

एकनाला

राजगृह की दक्षिणागिरि पहाड़ी के पास बसा हुआ यह एक ब्राह्मण गाँव था। यहीं पर कासि भारद्वाज नामक ब्राह्मण से बुद्ध का वार्तालाप हुआ था और

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त (२/५/५), पृ० ३९७।
२. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३२।
३. वही, सुत्त संख्या (१/३)।
४. वही, सुत्तसंख्या (१/३)।
५. हिन्दी अनुवाद, वासेट्ठसुत्त (३/९), पृ० १५९।
६. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ४६२।
७. संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० (५२/२/१), पृ० ७६८।
८. पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ३०; जिल्द ४, पृ० ३४०।

अन्त में उन्होंने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया । तत्सम्बन्धी विवरण सुत्त-निपात^१ में मिलता है । यहाँ पर एक बहुत बड़ा बौद्ध अधिष्ठान था । यहीं के मगधखेत को देखकर भगवान् बुद्ध के मन में भिक्षुओं को वस्त्र के रूप में चीवर बनवाने की कल्पना हुई ।

कीटागिरि

काशी से श्रावस्ती जाने वाले मार्ग पर कीटागिरि^२ नामक प्रसिद्ध ग्राम बुद्ध, सारिपुत और महामौद्गल्यायन का कई बार निवास स्थान^३ बना था । बुद्धघोष ने मज्झिमनिकाय^४ की टीका में कीटागिरि को एक निगम की संज्ञा दी है, किन्तु समन्तपासादिका में इसे जनपद कहा गया है, जहाँ वर्षा खूब होती थी और उसके कारण खेती भी खूब बढ़िया होती थी । राहुलसांकृत्यायन^५ कीटागिरि की पहचान आधुनिक जौनपुर जिले के केराकत नामक कस्बे से करते हैं ।

कोटिग्राम

यह भद्रिदनगर के पास बसा हुआ एक ग्राम था । गंगा नदी की दूरी यहाँ से एक गाउत थी, जिसे पार करते हुए एक बार बुद्ध कोटिग्राम गये थे । अम्ब-पाली और अनेक लिच्छवियों ने वैशाली से जाकर उनका वहीं दर्शन किया था । वहाँ से वे पुनः नादिका चले गये थे ।^६ समन्तपासादिका में बुद्धघोष उसे कोटिग्राम इसलिए कहते हैं कि यह महापनाद नामक राजा के कोटिक थोपिका अर्थात् कोट = किले के पास स्थित था । संयुत्तनिकाय^७ से यह ज्ञात होता है कि कोटि-ग्राम वज्जियों का ग्राम था ।

कक्करपत्त

यह कोलिय जनपद में एक छोटा सा कस्बा था, जहाँ पर बुद्ध के एक बार निवास करते समय दीर्घजानु कोलिय ने उनका दर्शन किया और उपदेश ग्रहण

१. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, कसिभारद्वाजमुत्त (१/४), पृ० १९-२३; संयुत्त-निकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग १, कसिमुत्त, ६/२/१), पृ० १३८-३९ ।
२. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द २, पृ० ३८७; विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ९ और आगे; जिल्द ३, पृ० १७९ और आगे ।
३. पपञ्चसूदनी, पाटेसो, जिल्द २, पृ० ६६९ ।
४. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६१३ और आगे ।
५. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २७५, पदसंकेत २ ।
६. दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ९० और आगे ।
७. पाटेसो०, जिल्द ५, पृ० ४३१ ।

किया ।^१ कक्करपत की पहचान बस्ती जिले के ककरहवा बाजार से की गयी है, जो वर्तमान समय में भारत और नेपाल की सीमा पर स्थित है ।^२

खाणुमत

खाणुमत अथवा खानुमत मगधराज बिम्बिसार के द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिया हुआ एक गाँव था, जिसे “जनाकीर्ण-तृण-काष्ठ-उदक-धान्य सम्पन्न, राज-भोग्य-राजदाय और ब्रह्मदेय” गाँव कहा गया गया है । एक बार यहाँ कूटदन्त नामक ब्राह्मण ने पशुहिसायुक्त एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन कर रक्खा था । उस अवसर पर पहुँचकर बुद्ध ने कूटदन्तसुत्त^३ का उपदेश किया और हिसायज्ञ के सिवा अन्य यज्ञों को अच्छा बताया । अश्वघोष^४ इसे स्थाणुमती नाम देते हैं ।

चातुमा

चातुमा शाक्य जनपद में एक प्रसिद्ध गाँव था । इस गाँव के पास एक आमलकी अर्थात् आँवले का जंगल था, जहाँ पर बुद्ध ने एक बार निवास किया था । चातुमा में शाक्यों का एक संस्थागार भी था, जहाँ वे सार्वजनिक कार्यों के लिए इकट्ठे होते थे । इसकी सूचना हमें मज्झिमनिकाय^५ के चातुमासुत्त से प्राप्त होती है ।

जातुमा अथवा आतुमा

दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^६ में इस गाँव का उल्लेख मिलता है । विनयपटिक के अनुसार यह श्रावस्ती और कुसिनारा के बीच स्थित था । सम्भवतः यह कोसल जनपद का एक गाँव था ।

धम्मपालगाम

महाधम्मपाल जातक^७ में इस गाँव का उल्लेख प्राप्त होता है । वि० च०

१. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ४, पृ० २८१ ।
२. देखिए, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३११ ।
३. दीघनिकाय, सुत्त सं० (१/५), पालि, नालन्दा, पृ० ४८ ।
४. देखिए, बुद्धचरित, २१/९ ।
५. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० (२/२/७), पृ० २६९ ।
६. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३८ ।
७. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ३३०; मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५० ।

लाहा^१ इसे काशी महाजनपद के धनपालगाँव से समीकृत करते हैं, किन्तु वे इसके प्रमाण में किसी भी स्रोत का उद्धरण नहीं देते ।

नलकपान

इसे नालकपान भी कहते थे । यह कोसल देश में स्थित एक गाँव था, जहाँ बुद्ध ने मज्झिमनिकाय^२ के नलकपानसुत्त का उपदेश किया था । गाँव के पास ही केतकवन और पलाशवन नामक दो बगीचे थे । पलाशवन में बुद्ध ने एक बार निवास भी किया था ।^३

नलकारग्राम

श्रावस्ती के पास स्थित कोसलदेश का यह एक ग्राम था । चूँकि बाँस और बेंत की चीजें यहाँ अधिकता से बनायी जाती थीं, इसका नाम नलकारग्राम हो गया । मज्झिमनिकाय के सुभसुत्त^४ में इसका उल्लेख प्राप्त होता है ।

नालकग्राम

मगध में स्थित यह ब्राह्मणों का एक गाँव था, जो राजगृह के निकट बसा था । उपतिष्य अथवा सारिपुत्त यहीं पैदा हुए थे और यहीं उनका निवास स्थान था । बौद्ध भिक्षु हो जाने के बाद भी सारिपुत्त कई बार वहाँ गये थे तथा अन्त में वहीं पर उनकी मृत्यु भी हुई ।^५ विमानवत्यु की टीका के अनुसार यह गाँव मगध के उत्तरी भाग में स्थित था । इसके नालक, नाल और नालिका जैसे नामरूप भी प्रचलित थे ।

पाटलिगाम

बुद्ध के समय में यह एक छोटा सा गाँव था, जो आगे चलकर पाटलिपुत्र के नाम से मगध की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध हुआ । इसकी आधुनिक पहचान पटना नगर से की जाती है । बुद्ध की मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व जब अजातशत्रु

१. इण्डिया ऐज् डिस्क्राइब्ड इन् अल्लो टेक्टस् ऑफ् बुद्धिज्म ऐण्ड जैनिज्म, पृ० ८२; ट्राइव्स इन् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० ८४; ज्याग्रफी ऑफ् अल्लो बुद्धिज्म, पृ० २५ ।

२. हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० (२/२/८), पृ० २७३ ।

३. अंगुत्त रत्तिकाय, पाटोसो, जिल्द ५, पृ० १२२ ।

४. मज्झिमनिकाय, सं० २/५/९ ।

५. सारत्थप्पकासिनी, पाटोसो, जिल्द २, पृ० १७२ ।

६. सुयुत्तनिकाय, पाटोसो, जिल्द ४, पृ० २५१; जिल्द ५, पृ० २६१; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ३९७ ।

वज्जियों पर विजय की तैयारी करने लगा, तब से पाटलिग्राम का महत्त्व बढ़ने लगा। जैन ग्रन्थों^१ के अनुसार उसके पुत्र उदायिभद्र के समय, किन्तु श्वान्-च्चाङ्ग^२ के अनुसार कालाशोक के समय, पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य की राजधानी हो गया। बुद्ध ने अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व यहाँ पर निवास किया था। अतः जिस द्वार से वे बाहर निकले, उसे गौतमद्वार और जिस घाट से उन्होंने गंगा नदी को पार किया, उसे गौतमतीर्थ का नाम दिया गया।^३ पाटलिग्राम के निकट ही कुक्कुटाराम था, जहाँ आनन्द, भद्र और नारद नामक भिक्षुओं ने निवास किया था।^४ पाटलिग्राम या पाटलिपुत्र के अन्य नाम पुष्पपुर और कुसुमपुर भी थे।^५ भगवान् बुद्ध ने पाटलिग्राम के बारे में यह भविष्यवाणी की थी^६ कि यह नगर आगे चलकर वाणिज्य और व्यवसाय का एक बड़ा भारी केन्द्र होगा। पाटलिपुत्र श्रावस्ती से राजगृह जाने वाले मार्ग पर पड़ता था। उत्तर-पश्चिम की ओर यहाँ से एक रास्ता वाराणसी, प्रतिष्ठान, प्रयाग, कान्यकुब्ज, सोरेय्य, वेरज्जा, मथुरा और इन्द्रप्रस्थ होते हुए तक्षशिला तक जाता था। पूर्व की ओर एक दूसरा रास्ता गंगा-सागर में स्थित तामलिसि बन्दरगाह तक जाता था। पाटलिपुत्र के भीतर और उसके बाहर होने वाले व्यापार का मुख्य मार्ग गंगा नदी थी। पेतवत्थु अट्ठकथा^७ के अनुसार पाटलिपुत्र से सुवर्णभूमि तक व्यापार होता था। उत्तरकालीन पालि-परम्परा के अनुसार सम्राट् अशोक के समय में सम्पन्न हुई तीसरी संगीति यहीं पर हुई थी।

मेदलुम्प या मेतलुम्प

इसे उलुम्प भी कहते थे। यह शाक्यों के जनपद में एक निगम अथवा गाँव था। एक बार जब बुद्ध वहाँ निवास कर रहे थे, तो कोसलराज प्रसेनजित उनके

१. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० १७८, पादटिप्पणी २।
२. वही, पादटिप्पणी ३।
३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२५।
४. मज्झिमनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ३४९; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० ५७; जिल्द ४, पृ० ३४१; संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ५, पृ० १५, १७१।
५. देखिए, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० २३१।
६. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२५, निश्चय ही यह विषयवाणी इस तथ्य का द्योतक है कि सुत्तनिकाय का यह भाग उत्तरकालीन है जो पाटलिपुत्र की प्रसिद्धि के बाद ही लिखा गया होगा। और देखिए बुद्धचरित, २२.४।
७. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० १७८, पादटिप्पणी १५।

दर्शन के लिए गया। बुद्ध के दर्शन को जाते हुए प्रसेनजित ने अपने सारे शस्त्र, चँवर और छत्र आदि पीछे अपने सेनापति दीर्घकारायण के पास छोड़ दिये।^१ दीर्घकारायण ने भागकर विद्रोह कर दिया और विडूडभ को कोसल का राजा बना दिया।^२ प्रसेनजित की बुद्ध से यह भेंट उन दोनों की अन्तिम सावित हुई। मेदलुम्प नाम की व्याख्या करते हुए पपञ्चसूवनी^३ में कहा गया है कि वहाँ पर मेद के रंग के बहुत बड़े पत्थर थे, इस नाते उसका नाम मेदलुम्प पड़ा। यहीं पर बुद्ध ने धम्मचेतियसुत्त^४ का उपदेश किया। इस सुत्त के अनुसार उलुम्प कोसल के नगरक नामक कस्बे से तीन योजना की दूरी पर स्थित था।

मनसाकट

अचिरावती अथवा आधुनिक राप्ती नदी के किनारे कोसल प्रदेश में मनसाकट नामक एक गाँव था। उसके उत्तर में एक आम्रवन था, जहाँ बुद्ध एक बार ठहरे थे।^५ तेविज्जसुत्त^६ का उपदेश बुद्ध ने यहीं पर किया था। सुमंगलविलासिनो^३ में बुद्धघोष कहते हैं कि यहाँ आसपास के प्रमुख विद्वान् समय-समय से इकट्ठे होते थे और मंत्रों का उच्चारण करते थे।

मचलग्राम

मगधदेश में स्थित यह एक छोटा सा, किन्तु महत्त्वपूर्ण, ग्राम था। यह ग्राम गणतन्त्रीय शासनपद्धति और बुद्धकालीन ग्राम व्यवस्था का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। एकजातक^४ की कथा के अनुसार इसमें तीस परिवार बसते थे तथा सभी आवश्यक कार्य होने पर एक साथ मिलकर पंचायत घर में सामूहिक रूप से मिलते थे। मध का यहीं निवास-स्थान था।

मच्छिकासण्ड

यह काशी राज्य का एक निगम था, जहाँ चित्तगृहपति रहता था। इस गृहपति ने वहाँ के अम्बाटकवन को बौद्ध भिक्षुओं को विहार के रूप में दान कर-

१. जातक, फॉसबॉल संस्करण, भाग ४, पृ० १५१ और आगे।
२. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ७५३।
३. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २।४।९, पृ० ३६७।
४. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ६६३।
५. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० १।१३, पृ० ८६।
६. पाटेसो० जिल्द २, पृ० ३९९।
७. फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० १९९। [‘ते च तिस कुलमनुस्साएकदिवसं गाममज्जे यत्त्वा गामकम्मं करोन्ति’।]

दिया। संयुत्तनिकाय^१ के अनुसार, सम्भवतः यह जैनियों का भी एक केन्द्र था। इसकी दूरी श्रावस्ती से तीस योजन^२ थी। इसके नजदीक मृगपथक नामक एक स्थान था। इस नाम का कारण वहाँ पर मृगों का बाहुल्य होना प्रतीत होता है।^३ राहुलसांकृत्यायन^४ मच्छिकासण्ड की आधुनिक पहचान जौनपुर जिले के मछलीशहर कस्बे से करते हैं।

लुम्बिनीग्राम

यह कपिलवस्तु और देवदह के निकट बसा हुआ था। लुम्बिनी वन अथवा लुम्बिनीग्राम गौतम बुद्ध की जन्मस्थली थी और आगे चलकर एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई।^५ यह आजकल का रूमिनदेई नामक गाँव है, जो पूर्वोत्तर रेलवे के नौतनवाँ स्टेशन से १० मील पश्चिम और भगवानपुर गाँव से २ मील उत्तर में पड़ता है। यहाँ पर अशोक का एक स्तम्भ लेख भी है। बुद्ध देवदह जाते समय लुम्बिनी में रुके थे।

वेलुद्वार

यह कोसल का एक गाँव था, जहाँ बुद्ध ने संयुत्तनिकाय^६ का वेलुद्वारेय्यसुत्तन्त उपदिष्ट किया था। इसका यह नाम पड़ने का कारण यह था कि इसकी अगल-बगल में वेणु अथवा बांस के वन थे।^७

वेलुवग्राम

इसे वेणुवग्राम भी कहते थे। यह कोशाम्बी के पास स्थित एक छोटा सा गाँव था। वर्तमान समय में इलाहाबाद से तीस मील पश्चिम कोसम से थोड़ी दूर पर उसके उत्तर-पूर्व में स्थित वेनपुरवा को ही वेणुवग्राम माना गया है।

एक दूसरा वेलुवग्राम वज्जि जनपद में भी था। यहीं भगवान् ने अपना अन्तिम वर्षावास व्यतीत किया था।^८ वहाँ वर्षावास करते समय भगवान् को कड़ी

१. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ५७७-५७९।
२. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ७९।
३. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ४१५-४१६।
४. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३५३, पदसंकेत ३।
५. इष तथागतोजातो'ति, आनन्द, सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयं संवेजनीयं ठानं। दीघनिकाय, द्वितीय, पालि प्रकाशन, पृ० १०९।
६. हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० ५३/१/७, पृ० ७७६।
७. जातक, फॉर्मबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ५२-५४; सुत्तनिपात, श्लोक ६८३।
८. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२९।

बीमारी हुई थी।^१ आचार्य बुद्धघोष^२ इस गाँव को वैशाली नगर के दक्षिण की ओर स्थित बताते हैं। अश्वघोष वेलुवगाम को वेणुवती ग्राम कहते हैं।^३

सालवतिका

यह कोसलदेश में स्थित था। बुद्ध के समय में लोहिच्च नामक ब्राह्मण राजा प्रसेनजित द्वारा “प्रदत्त राजदाय ब्रह्मदेय, जनाकीर्ण-तृण-काष्ठ-उदक धान्यसम्पन्न”^४ सालवतिका का स्वामी होकर रहता था। सालवन से घिरे होने के कारण इसका नाम सालवतिका^५ पड़ा। एक बार जब बुद्ध वहाँ पहुँचे तो लोहिच्च ब्राह्मण उनका उपदेश सुनकर उनका शरणागत हो गया। उसी अवसर पर भगवान् ने लोहिच्चसुत्त^६ का उपदेश किया था।

सेनानिगाम या सेनानिनिगम

यह मगध जनपद में नेरंजना नदी के किनारे स्थित था। यहाँ पर सेनानि कुटुम्बिक निवास करता था। यह सेनानि उस सुजाता का पिता था, जिसने भगवान् को उनकी घोर तपस्या के बाद सबसे पहले खीर खिलायी थी। कहीं-कहीं इसे सेनापतिग्राम भी कहा गया है।^७ बुद्धघोष^८ इस स्थान के नाम की व्याख्या दो तरह से करते हैं। प्रथम तो वे इसे एक सैनिक स्थान के रूप में उपस्थित करते हैं और दूसरे सुजाता के पिता सेनानि के नाम पर उसे सेनानिगाम कहते हैं। यह एक समृद्ध और रमणीक गाँव प्रतीत होता है, जिसकी इसिप्तन से दूरी १८ योजन^९ थी।

सालन्दिग

यह राजगृह से पूर्व या पूर्वोत्तर^{१०} दिशा में स्थित ब्राह्मणों का एक गाँव था।

१. वहीं, संयुत्तनिकाय, गिलानसुत्त, ४५/१/९, भाग २, पृ० ६८९।
२. पपञ्चसूदनी, जिल्द ३, पृ० १२।
३. बुद्धचरित, २३।६२।
४. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८२।
५. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ३९५।
६. वहीं, सुत्त सं० १।१२।
७. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द, १, पृ० १६८।
८. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० १२८३।
९. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १३५।
१०. जातक, हिन्दी अनुवाद, प्रथम खण्ड, पृ० ८९।
११. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ३, पृ० ३९३।

और कोशियगोत्र (कुशिकगोत्री) ब्राह्मणों का निवास स्थान था। एक जातक^१ से ज्ञात होता है कि इस गाँव में एक विशाल खेत था जो एक हजार करिब अर्थात् आठ सौ एकड़ क्षेत्रफल का था।

साला या शाला

कोसल महाजनपद में स्थित साला ब्राह्मणों का एक गाँव था। संयुक्तनिकाय का सालासुत्त^२ तथा मज्झिमनिकाय के सालेय्ये और अप्णकसुत्त^३ का उपदेश इसी गाँव में भगवान् बुद्ध ने किया था।

सामग्राम

यह शाक्यों का एक ग्राम था। इसके किनारे पर एक पुष्पकरिणी थी, जिसमें कमल के फूल सर्वदा खिले रहते थे।^४ बुद्ध ने इस गाँव में मज्झिमनिकाय^५ के सामगामसुत्त का उपदेश किया था। उस उपदेश के पूर्व उन्होंने पावा-में निगण्ठनात-पुत्त अर्थात् निर्ग्रथज्ञात्रिकपुत्र (महावीर) के मरने और जैनसंघ में फूट पड़ने का समाचार सुना था। अपनी मृत्यु के बाद बौद्धसंघ में फूट को बचाने के लिए ही उन्होंने सामगामसुत्त का उपदेश किया था। बुद्धघोष^६ इस गाँव का नाम सामगाम पड़ने का कारण यह बताते हैं कि यहाँ साम अथवा साँवा (श्यामक) नामक चावल की उत्पत्ति अधिकता से होती थी।

हलिद्वसन या हरिद्रवसन

यह कोलिय जनपद का एक निगम था। यहाँ बुद्ध ने एक बार निवास करते हुए मज्झिमनिकाय^७ के कुक्कुरवत्तिक या कुक्करवातिकसुत्त का उपदेश किया था। आचार्य बुद्धघोष^८ के अनुसार इस कस्बे में कोलिय राजकुमारों के रहने के कारण इसे कोलियनिगम कहा गया। वे इस नगर का हलिद्वसन नाम पड़ने का कारण यह बताते हैं कि इस नगर के निर्माण के समय वहाँ के लोगों ने हल्दी के रंग के पीले कपड़े पहन रखे थे और नक्षत्र पर्व मनाया था।^९

१. सुवण्णकक्कट जातक (सं० ३८९) इसे राजगृह के पूर्व में बताता है और सालि-केदार जातक (सं० ४८४) इसे राजगृह के पूर्वोत्तर में स्थित बताता है।

२. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, ४६/६/१, पृ० ७२७।

३. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० ४१/५/१, पृ० १७०; सुत्तसं० २/१/१०, पृ० २४१।

४. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ३०९।

५. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० ३/१/४, पृ० ४४३।

६. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ८२९।

७. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २/१/७, पृ० २३३।

८. वहीं, पादटिप्पणी २।

९. पपञ्चसूदनी, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० १००।

उपरोक्त गाँवों के अतिरिक्त और भी अनेक गाँवों के उल्लेख हमें सुत्तपिटक से मिलते हैं। इनमें धनञ्जय नामक बुद्ध-शिष्या का मकलकप्प^१ नामक गाँव भी एक था। तौरणवस्तु^२, दण्डकप्प^३ और नालन्दा^४ जैसे अनेक गाँवों की भी चर्चाएँ आती हैं। दुर्भाग्यवश इन सभी गाँवों की ठीक-ठीक पहचान नहीं की जा सकती, और बहुत सम्भव है कि उनमें से अधिकांश के अवशेष भी अब न बचे हों।

-
१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ४२१।
 २. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ७४।
 ३. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ४०२।
 ४. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ३२२।

चतुर्थ अध्याय

राजतंत्रात्मक राज्य और उनकी शासन प्रणाली

सुत्तपिटक और बौद्ध साहित्य के अन्य भागों से हमें तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत में दो तरह के राज्यों की सूचनायें प्राप्त होती हैं। एक प्रकार के राज्य राजतंत्रात्मक थे, जिनमें मुख्यतः वत्स, कोसल, काशी और मगध की गिनती आती है। दूसरे प्रकार के राज्य गणतंत्रात्मक थे, जो कई मामलों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र न होते हुए भी अनेक दृष्टियों से काफी महत्वपूर्ण थे। सुत्तपिटक के विभिन्न भागों में उनकी चर्चायें बार-बार पढ़ने को मिलती हैं। सबसे प्रमुख उल्लेख हमें सोलह महाजनपदों के रूप में अंगुत्तरनिकाय^१ से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दीघनिकाय^२ के महापरिनिब्बानसुत्त एवं महासुदस्सनसुत्त और अनेकानेक जातकों में भी इनके उल्लेख मिलते हैं। उन्हीं के आधार पर इन राज्यों का आगे वर्णन किया जायगा।

राजतंत्रात्मक राज्य : कोसल

बुद्धकालीन अन्य जनपदों की तुलना में कोसल, सम्भवतः मगध को छोड़कर, सर्वप्रमुख महाजनपद था। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों और पुराणों में कोसल के वर्णन एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्राप्त होते हैं।^३ वास्तव में कोसल का प्राचीन इतिहास इन ग्रन्थों की अनुश्रुतियों से ही प्राप्त होता है। तदनुसार, कोसल की प्रारम्भिक राजधानी अयोध्या थी, जिसे बौद्ध साहित्य में अयोज्झा कहा गया गया है। पालि साहित्य का साकेत^४ सम्भवतः अयोध्या का ही

१. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, आठवाँ निपात, उपोसथ वर्ग, पृ० ३२६, ३३०, ३३३। पाटोसो, भाग १, पृष्ठ २१३; भाग ४, पृष्ठ २५२, २५६, २६०।

२. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, महापरिनिब्बानसुत्त २/३, पृ० ११७-१५१; महासुदस्सनसुत्त २/४, पृ० १५२-१५९।

३. देखिए, हिस्ट्री ऑफ कोशल, वि० पाठक, प्रथम अध्याय से पंचम अध्याय तक। महाभारत में कोसल का वर्णन है—कुरुवः सह पंचालाः शल्वाः मत्स्याः सनेमिषाः। कोसला काशपौण्ड्राश्चकलिङ्गा मागधास्तथा ॥ आठवाँ, ४५.१८।

४. देखिए, हिस्ट्री आफ कोशल, पृ० ५५ और आगे।

पर्यायवाची है। किन्तु यहाँ पर हम कोसल के केवल उसी राजनीतिक इतिहास का वर्णन करेंगे, जो हमें सुत्तपिटक अथवा पालि साहित्य के अन्य भागों में मिलता है। बौद्ध साहित्य में कोसल का महत्त्व इसीलिए विशेष रूप से है कि भगवान् बुद्ध अपने को कोसलक कहते थे।^१ कोसल के उनके समकालीन राजा प्रसेनजित^२ ने उनका सर्वाधिक आदर और सम्मान किया तथा कोसल की राजधानी श्रावस्ती के निकट जेतवन विहार में उन्होंने अपने उपदेशक जीवन के अधिकांश वर्ष (पन्चीस वर्षावास) व्यतीत किये। उनके स्वजातीय शाक्यों का जनपद और उनकी राजधानी कपिलवस्तु कोसल की अधिसत्ता स्वीकार करती थी^३। जातकों^४ से कोसल राज्य के मगध, काशी, अंग और विदेह जैसे तत्कालीन राज्यों से समसामयिक सम्बन्धों की अनेक बातें ज्ञात होती हैं। साथ ही, कोसल के राजाओं-महाकोसल, प्रसेनजित और विडूडभ—की चर्चाओं से सुत्तपिटक भरा पड़ा है। इनमें सर्वाधिक चर्चायें हमें प्रसेनजित के सम्बन्ध में प्राप्त होती हैं। संयुत्तनिकाय का एक पूरा संयुत्त (कोसलसंयुत्त^५) ही कोसल की तत्कालीन राजनैतिक, प्राशासनिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओं का चित्रण करता है। साथ ही, जातकों की अनेक कथायें भी कोसल के इतिहास और जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुत्तपिटक की रचना के कुछ दिनों पूर्व कोसल की राजधानी अयोध्या से हटकर श्रावस्ती चली गयी थी। विशुद्धानन्द पाठक^६ के मतानुसार अयोध्या का अन्तिम सूर्यवंशी राजा हिरण्यनाभ था, जिसके उत्तराधिकारी बहुत शक्तिशाली नहीं थे। राम के दोनों पुत्रों—लव और कुश-द्वारा कोशल राज्य की दो शाखायें स्थापित हो गयी थीं। उनकी राजधानियाँ क्रमशः अयोध्या तथा श्रावस्ती थीं। दिवाकर नामक राजा के समय पुनः ये दोनों राज्य मिलकर एक हो गये। दिवाकर ने अयोध्या के शासक हिरण्यनाभ पर आक्रमण

१. “भगवापि कोसलको अहम्पि कोसलको, भगवापि खत्तियो, अहम्पि खत्तियो भगवापि असीतिको, अहम्पि असीतिको।” धम्मचेतियसुत्त, म०नि०, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १२४।
२. रीज्डेविड्स के मतानुसार प्रसेनजित (पसेनदि) एक विहदमात्र था। उसका असली नाम अग्निदत्त था। बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १०।
३. करोन्ति खो सक्खा रज्जे पसेनदिम्हि कोसले निपच्चकारं अभिवादनं पच्चुपट्टां अजलिकम्मं सामीचिकम्मं। दी० निकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ८३।
४. देखिए, जातक संख्यायें, २३, ३३६, ३८१, ४२८, ५३२ और ५३५।
५. संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन. पृ० ६७-८८।
६. हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृ० २०५।

करके उसके वंश का अन्त कर दिया और श्रावस्ती पुनः समस्त कोसल की राजधानी हो गयी तथा कोसल राज्य एक बार फिर चमक उठा। परन्तु यह ज्ञात है कि काशी के कोसल पर कई बार आक्रमण हुए थे। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय से थोड़ा पहले कोसल राज्य पुनः एक नयी शक्ति अर्जित करके काशी पर हावी होने लगा। पहले तो कोसल के कुछ राजाओं ने काशी पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें सफलता हाथ नहीं लगी।^१ किन्तु धीरे-धीरे काशी का राज्य जब कमजोर होता गया तो कोसल उससे वीस पड़ने लगा। ऐसे समय में ही काशी के अनेक मन्त्रियों अथवा राजकुमारों ने कोसल से मिलकर काशी को जीतने में उसकी सहायता की। ऐसी चर्चयें हमें महाशील जातक (सं० ५१०), घट जातक (सं० ३५५), मणिकुण्डल जातक (सं० ३२१) और एकराज जातक (सं० ३०३) में मिलती हैं। अन्ततः काशी को कोसल ने किस प्रकार अपने में पूरी तरह आत्मसात कर लिया, इसकी ठीक-ठीक जानकारी हमें नहीं प्राप्त होती। हेमचन्द्र रायचौधुरी^२ का मत है कि काशी को कोसल में मिलाने वाला राजा कंस था, जिसे वाराणसिगहो अर्थात् वाराणसी को जीतने वाला कहा गया है। यह घटना बुद्ध के समय से कुछ पहले की प्रतीत होती है। जब सुत्तपिटक के अगुत्तरनिकाय की रचना पूरी हुई तो उस समय सोलह महाजनपदों में काशी को एक पूर्ण रूप से स्वतंत्र जनपद बताया गया। इससे प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय तक काशी की स्वतन्त्रता की स्मृति ताजी थी। किन्तु यह निश्चित है कि बुद्ध के समकालीन कोसल-नरेश प्रसेनजित के पिता महाकोसल के समय काशी कोसल का एक अभिन्न भाग हो चुका था। हरितमात जातक (सं० २३९), बद्धकिसूकर जातक (सं० २८३) और तच्छसूकर जातक (सं० ४९२) से ज्ञात होता है कि जब महाकोसल ने अपनी पुत्री महाकोसला का विवाह मगधराज बिम्बिसार से किया तो उसने काशी के एक गाँव की आय को दहेज^३ के रूप में महाकोसला को

१. अलीनचित्त जातक, सं० १५६; असातरूप जातक, सं० १००।

२. देखिए, हेमचन्द्र रायचौधरी, पोहिऐइ०, पृ० ११९ पर उल्लिखित पाद-टिप्पणी ३।

३. दीघनिकाय, पाटोसो०, भाग १, पृ० ५०; संयुक्तनिकाय पाटोसो०, जि० १, पृ० ८२। मूल पाठ में इसे स्नानचूर्णमुष्टिधन कहा गया है, अर्थात् स्नान करने के बाद शरीर में लगाये जाने वाले पाउडर, तेल और अन्य पदार्थों की खरीद के लिए द्रव्य। रा० कु० मुकर्जी की पुस्तक 'हिन्दू सिविलाइजेशन' के हिन्दी अनुवाद में इसे अभिषेक मूल्य कहा गया है। दे० हिन्दू सभ्यता, पृ० १९४।

दिया । दीघनिकाय^१ से ज्ञात होता है कि काशी कोसल का एक अभिन्न भाग था और सम्भवतः वहाँ प्रसेनजित का कोई भाई उसकी ओर से शासन करता था, जिसकी उपाधि कासिराज थी ।

मुत्तपिटक^२ से कोसल के जिन राजाओं की सबसे अधिक जानकारी प्राप्त होती है वे थे बुद्ध के समकालीन नरेश प्रसेनजित और विडूडभ । प्रसेनजित कोसल का सबसे अन्तिम प्रसिद्ध राजा था । एक स्थान पर प्रसेनजित बुद्ध से अपनी तुलना करता हुआ अपने को उन्हीं की नाई कोसलक, क्षत्रिय और अस्सी वर्ष का बताता है ।^३ राँकहिल्^४ का मत है कि बुद्ध और प्रसेनजित सम्भवतः एक ही दिन पैदा हुए थे । प्रसेनजित की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी, जहाँ कुसिनारा का मल्ल राजकुमार बन्धुल और वैशाली का लिच्छवि राजकुमार महाल्ल उसके सहपाठी रह चुके थे । बुद्ध के परिवार से आत्मीयता बढ़ाने के लिए प्रसेनजित ने शाक्य राजकुमारी (वास्तव में दासी-पुत्री)^५ वासभ-खत्तिया से विवाह किया था । धम्मपद की अट्ठकथा^६ से ज्ञात होता है कि महा-कोसल ने प्रसेनजित को अपने जीवनकाल में ही राज्याभिषिक्त कर दिया था । उसके समय कोसल का राजनीतिक महत्व मगध के बराबर ही था । कोसल का अधिकार—क्षेत्र काशी के ऊपर भी विस्तृत था । दीघनिकाय^७ में प्रसेनजित को

१. त कि मञ्जसि लोहिच्च, ननुराजा पसेनदि—

कोसल कासि-कोसलं अज्झावसती, ति ?

‘एवं भो गोतम’ । यो न खो लोहिच्च, एवं वदेय्य—

राजा पसेनदि कोसलो कासि-कोसलं अज्झा—

वसति, या कासि-कोसले समुदय-सजाति राजा

व त पसेनदि-कोसलो एक कोपरिभुंजेव ।

दीघनिकाय—बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग १, पृ० २६१; और देखिए

मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, भाग २, पृ० १११ ।

२. वि० च० लाहा, ट्राइव्स् इन् ऐशियेंट् इण्डिया, पृ० ११०; मलालशेखर, डिपापाने०, देखिए, काशी ।

३. पाटेसो०, धम्मचेतियमुत्त, मज्झिमनिकाय, जिल्द २, पृष्ठ १२४, उद्धृत, बुद्धचर्या, राहुल साकृत्यायन, पृ० ४७३ और आगे ।

४. राँकहिल्, लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० १६ । राँकहिल् यह मत तिब्बती दुल्व के आधार पर व्यक्त करते हैं ।

५. देखिए, भद्रसाल जातक सं० ४६५ की वर्तमान कथा ।

६. पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ३३९ ।

७. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी प्रकाशन, पृ० ८४ ।

काशी और कोसल दोनों का राजा कहा गया है। मज्झिमनिकाय के पियजातिसुत्ता से सूचना मिलती है कि प्रसेनजित काशी से अत्यन्त प्रेम करता था और उसका कोई सगा भाई ही काशी पर शासन करता था, जिसकी उपाधि कासिराज थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समय कपिलवस्तु के शाक्यों के अतिरिक्त पावा और कुसिनारा के मल्ल, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय तथा आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित तत्कालीन अन्य सभी गणतन्त्र कोसल राज्य की अधिसत्ता स्वीकार करते थे।^१ इनके साथ ही केसपुत्त के कालामो^२ को भी कोसल राज्य के अधीन माना गया है। उपरोक्त सभी गणतन्त्र कोसल राज्य की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए आन्तरिक स्वतंत्रता का भोग करते थे। जब तक बुद्ध जीवित रहे, प्रसेनजित उनका आदर करता रहा। किन्तु प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ (पुराणों का विरुद्धक) ने इस नीति को उलट दिया। भद्रसाल ज्ञातक (सं० ४६५) से यह ज्ञात होता है कि उसे जब यह ज्ञात हुआ कि शाक्यों ने धोखा देकर उसकी दासी माँ वासभखत्तिया का विवाह प्रसेनजित से कर दिया था और स्वयं उसके कपिलवस्तु जाने पर शाक्यों ने उसका अनादर किया तो वह उनसे अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और उनका अन्त कर डालने की प्रतिज्ञा कर डाली। बुद्ध के दो बार के हस्तक्षेपों के बावजूद उसने शाक्यों पर चढ़ाई कर दी और शाक्य जनपद का अन्त कर डाला तथा उसके क्षेत्रों को अपने राज्य में मिला लिया।

कोसल की राजनीतिक स्थिति की चर्चा कोसल-मगध सम्बन्धी की चर्चा के बिना पूरी नहीं मानी जा सकती। बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य अन्य छोटे छोटे राज्यों पर अपनी-अपनी राजनीतिक संप्रभुता स्थापित करने हेतु एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। यही नहीं, दोनों राज्यों के राजा—जैसे कोसल का प्रसेनजित और मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु-बुद्ध से निकटता और सौहार्द्र स्थापित करने का प्रयत्न करते थे। उस समय की सर्वमुख्य राजनीतिक प्रवृत्ति यह थी कि बिम्बिसार और अजातशत्रु के नेतृत्व में मगध महाजनपद एक छोटे से भूक्षेत्र में बँधे रहने मात्र से संतुष्ट नहीं था और वह साम्राज्य के रूप में विकसित होने का प्रयत्न प्रारम्भ कर चुका था। उसके राजनैतिक और सैनिक अभियानों की आँच जहाँ एक ओर अंग, विदेह, लिच्छवि और मल्ल जैसे गणतन्त्रों को सहनी पड़ी, उसी प्रकार कोसल जैसा शक्तिशाली राजतन्त्र भी उसके सैनिक दबावों से अछूता नहीं

१. करोन्ति खो सक्या रज्जे पसेनदिमिह कोसलेनिपच्चकारं अभिवादनं पच्चु-पट्ठानं अंजलिकम्मं सामीचिकम्मं। दीघनिकाय, पाटिओ०, जिल्द २, पृ० ८३।
२. अंगुत्तरनिकाय, कलकत्ता प्रकाशन, पृ० १९९; उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १०७, पादटिप्पणी २ में उद्धृत।

बचा। तथापि वह महाकोसल और प्रसेनजित की चतुराई से मगध के चंगुल से बहुत दिनों तक बचा रहा। कोसलराज महाकोसल ने अपनी पुत्री महाकोसला का विवाह मगधराज बिम्बिसार से कर दिया और उसे दहेज के रूप में काशी का एक गाँव दे डाला, जिससे एक लाख सिक्कों की आय होती^१ थी। किन्तु देवदत्त के प्रभाव में आकर अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का बध कर डाला और महाकोसला विधवा हो गयी। तत्पश्चात् दोनों राज्यों के आपसी सम्बन्ध फिर बिगड़ गये। सम्भवतः महाकोसला दुःख के कारण मर गयी या अपने पिता अथवा भाई के यहाँ चली गयी। कोसलराज ने अप्रसन्न होकर काशी का दहेज वाला गाँव वापस ले लिया। कदाचित् इसी समय प्रसेनजित गद्दी पर बैठा और उसने भी अपने पिता के समान उपर्युक्त गाँव सम्बन्धी निर्णय चालू रखा।^२ किन्तु अजातशत्रु जैसे शक्तिशाली राजा को यह मान्य नहीं था और अन्ततः कोसल और मगध की मित्रता समाप्त होकर शत्रुता और युद्ध में परिणत हो गयी। जो युद्ध हुआ, उसमें कदाचित् वैशाली के लिच्छवि भी कोसल नरेश की ओर से लड़े थे।^३

मगध और कोसल के युद्धों का विवरण संयुत्तनिकाय^४ के दो सुत्तों में मिलता है, जिन्हें पठमसंगमसुत्त (३/२/५) और दुतियसंगमसुत्त (३/२/५) कहते हैं। इन दोनों से यह ज्ञात होता है कि युद्ध के प्रथम दो दौरों में प्रसेनजित हारा, किन्तु तीसरे दौर में विजयी हुआ और अजातशत्रु को बन्दी बना लेने में सफल हो गया। किन्तु उसने अजातशत्रु के प्राण इसलिए नहीं लिये कि वह स्वयं रिश्ते में उसका भांजा लगता था। तथापि उसने अजातशत्रु की सेना छीन ली। संयुत्तनिकाय का यह विवरण उन दोनों के बीच युद्ध का अन्तिम विवरण नहीं प्रतीत होता। तच्छसूकर जातक (सं० ४९२) की वर्तमान कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों में आगे भी युद्ध हुए, जिनमें प्रसेनजित हारा। अन्त में धनुग्गतिसस और मन्तिदत्त नाम के दो बौद्ध भिक्षुओं की दोनों पक्षों की युद्ध सम्बन्धी आपसी बातचीत अपने गुप्तचरों द्वारा सुनकर प्रसेनजित को युद्ध सम्बन्धी अपनी भूल ज्ञात हुई और उसने शकट युद्ध का प्रयोग कर अन्ततः अजातशत्रु को पकड़ने में सफलता पायी। इस

१. हरितमात जातक, सं० २३९; बद्धकिसूकर जातक, सं० २८३; तच्छसूकर जातक, सं० ४९२।

२. हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २१२।

३. वहीं, पृ० २१२-१३; डिपापाने०, जिल्द १ पृ० ३१ और आगे; जिल्द २, पृ० १०१ और ७८१; हेमचन्द्र रायचौधुरी, पोलिकिटल् हिस्ट्री ऑफ़ ऐशिया-येण्ट इण्डिया, पृ० १०-११ (पाँचवाँ संस्करण)।

४. संयुत्तनिकाय, महबोधि प्रकाशन, भाग १, पृ० ७६७।

विवरण का समर्थन बद्धकिसूकर जातक (सं० २८३) से भी होता है। किन्तु अन्तिम रूप में यह ज्ञात होता है कि दोनों पक्षों ने आपस में संधि कर ली और प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। महाकोसला को दिये गये काशी के जिस दहेज वाले गाँव को लेकर सारे झगड़े और युद्ध हुए थे, उस गाँव की आमदनी फिर वाजिरा के माध्यम से अजातशत्रु को सौंप दी गयी।^१

अजातशत्रु और प्रसेनजित की यह मित्रता आगे प्रसेनजित के जीवन-पर्यन्त बनी रही। भट्टसाल जातक (सं० ४६५) की वर्तमान कथा और मज्झिमनिकाय से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने जब उसे जबरदस्ती अपदस्थ कर दिया तो वह अपनी रक्षा के लिए अजातशत्रु की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर भागा। यह उसका दुर्भाग्य ही था कि अजातशत्रु से भेंट होने के पहले ही पाटलिपुत्र की चहारदीवारी के बाहर उसकी अतिसार नामक रोग से मृत्यु हो गयी और अपनी राजगद्दी पुनः वापस प्राप्त करने के लिये मगधराज से सहायता प्राप्त करने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिला।^२

सुत्तापिटक से प्रसेनजित के शासन और उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। वह बुद्ध और उनके धर्म का प्रशंसक और आदर करने वाला तो था, किन्तु उनके प्रति अंधभक्ति में विश्वास नहीं करता था। उसके अनेक मंत्रिगण बुद्ध के प्रभाव में थे। किन्तु कुछ विद्वानों का यह कथन कि वह स्वयं बौद्ध हो गया था, समीचीन नहीं प्रतीत होता। संयुत्तनिकाय के दहरसुत्ता^३ में उसे धर्म, संघ और बुद्ध में विश्वास करने वाला उपासक कहा गया है। किन्तु विशुद्धानन्द पाठक^४ का मत है कि 'बौद्ध साहित्य को सर्वांग रूप में देखने पर प्रतीत होता है कि उसने अपने परम्परागत वैदिक धर्म का कभी त्याग नहीं किया था।' उनके शब्दों में प्राचीन भारतीय राजाओं की इस व्रात के लिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वे अपने विश्वासों, धर्मों और रीतिरिवाजों की तिलाञ्जलि दिये बिना भी अपने समय के धर्म सम्बन्धी सम्प्रदायवादी झगड़ों में कभी हिस्सेदार नहीं होते थे। प्रत्युत्, वे सभी सम्प्रदायों का आदर और उनकी सहायता करते थे और उन्हें दान देते थे, जो प्राचीन रोम, मुसलमानी भारत अथवा पूर्व मध्यकालीन योरोप के शासकों के

१. संयुत्तनिकाय, १/८४-६; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, सं० ३४२; धम्मपदअट्ठकथा, ३/२५९।

२. उद्धृत, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २१५-२१६।

३. हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २२६-२२७।

४. वहीँ।

व्यवहारों से बिल्कुल भिन्न था, जहाँ अपने धर्म से भिन्न मतावलम्बियों को इन शासकों द्वारा धार्मिक त्रास दिया जाना एक नियम सा बन गया था। इस अन्तर को भली प्रकार दृष्टि में रखकर ही प्रसेनजित, बिम्बिसार, अशोक, हर्ष अथवा अकबर की महत्ता का आकलन किया जा सकता है।

प्रसेनजित के दान और उसके कार्यों से उसके राज्य के सभी धर्म और सम्प्रदाय लाभान्वित हुए। श्रावस्ती के प्रसिद्ध जेतवनारामविहार के सामने राजिकाराम नामक विहार बनवाकर उसने बुद्ध को दान में दिया। जेतवन में भी सरलागार नामक एक लघु विहार उसने अपनी ओर से बनवाया तथा बुद्ध को अनेक अवसरों पर दान दिया। सुमंगलविलासिनी^१ में एक अवसर पर दिये गये उसके 'असदृश दान (जिसके समान कोई दूसरा दान न हो) की चर्चा आती है। बुद्ध और बौद्ध संघ को दिये गये दानों के अतिरिक्त उसने उकट्टा^२, ओपसाद^३ और सालवटिका^४ नामक गाँवों को क्रमशः पोक्खरसात्ति, चंकि और लोहिच्च नामक ब्राह्मणों को दान में दिया था।

बुद्ध के प्रति अपने सारे आदर के होते हुए भी प्रसेनजित बौद्ध नहीं हुआ था। अपितु वह अपने परम्परागत वैदिक धर्म का पालन करता रहा। बुद्ध से वह अपनी पहली भेंट में उनके नवयुवक होने के कारण पूछता है कि वे अपने को पूरणकस्सप, मंखलिपुत्तगोसाल, निगंठनातपुत्त, संजयबेलटिठपुत्त, पकुधकच्चायन और अजितकेसकम्बली जैसे समकालीन धार्मिक नेताओं से कैसे श्रेष्ठ मानते हैं। इसी तरह मेलुम्प नामक गाँव में बुद्ध से अपनी अन्तिम भेंट के समय उनसे अपनी बराबरी करते हुए प्रसेनजित कहता है कि "भगवान् भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् भी अस्सी वर्ष के हैं, मैं भी अस्सी वर्ष का हूँ, भगवान् भी कोसल के हैं, मैं भी कोसल का हूँ।"^६

प्रसेनजित अन्त तक वैदिक धर्म का उपासक बना रहा, यह संयुत्तनिकाय के यञ्जसुत्त^७ से स्पष्ट होता है। तदनुसार, उसने एक बार एक ऐसे यज्ञ का सम्पादन किया, जिसमें पाँच सौ गायें, पाँच सौ बकरियाँ, पाँच सौ भेड़ें तथा एक

१. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६५४ और आगे।
२. दीर्घनिकाय, अम्बट्ठसुत्त (११३), सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३४१।
३. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, चंकिमुत्ता, २।५।५, पृ० ३९७।
४. दीर्घनिकाय, लोहिच्चसुत्त, १।१२।
५. दहरसुत्ता, ३।१११; संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ६७।
६. धम्मचेतियमुत्ता, मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३७०।
७. यञ्जसुत्ता, ३।११९; संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन पृ० ७२।

हजार बैल यज्ञयूपों से बंधे हुए थे। बुद्ध के यज्ञविरोधी उपदेशों के बावजूद भी उक्त सन्दर्भ में यह कहीं नहीं लिखा मिलता कि उसने इस यज्ञ की हिंसा का त्याग कर दिया। यह इस प्रकार के अनेक स्थलों के उन सन्दर्भों के विपरीत है, जिनमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यज्ञ करने वाले लोगों ने बुद्ध के उपदेश के बाद अपना यज्ञपरक हिंसा-भाव त्याग दिया।

अपने क्षेत्र के अनेक वैदिक ब्राह्मणों को प्रसेनजित ने जो विभिन्न गाँवों का दान दिया था, वह उसकी वैदिक श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि में ही भली प्रकार समझा जा सकता है। प्रसेनजित की रानी मल्लिका बौद्ध थी और उसके साथ उसका व्यवहार बहुत अच्छा था। किन्तु एक बार प्रसेनजित ने उससे इस बात की शिकायत की कि वह बुद्ध की प्रत्येक बात बिना किसी शंका-समाधान के मान लेती है।^१ तथापि, वैदिक धर्म में अपने विश्वास के होते हुए भी वह बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओं का बहुत आदर करता था। आनन्द प्रायः उसके राजदरबार में जाया करते थे और वह स्वयं भी शासन सम्बन्धी बातों पर परामर्श के लिए बुद्ध से भेंट करने के लिए जेतवन विहार जाया करता था। यात्राओं के समय या कोई भी बड़ा सैनिक अभियान शुरू करने के पहले वह बुद्ध का दर्शन कर उनका आशीर्वाद अवश्य प्राप्त करता था।

प्रसेनजित को अपदस्थकर उसके पुत्र विडूडभ ने कोसल की राजगद्दी हथिया ली।^२ परन्तु उसके समय से कोसल राज्य की अवन्ति प्रारम्भ हो गयी और दो ही पुष्टों बाद सुमित्र नामक शासक कोसल का अन्तिम राजा साबित हुआ। मगध नरेश ने सुमित्र को पराजित कर तथा कोसल को जीतकर उसके क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। पुराणों में इस सुमित्र को कोसल का अन्तिम राजा कहा गया है, जिसे अजातशत्रु के किसी वंशज ने समाप्त किया होगा।

काशी

कोसल की तरह काशी भी अंगुत्तरनिकाय^३ में वर्णित सोलह महाजनपदों में एक था। इसकी राजधानी वाराणसी थी। यह नाम क्रमशः वरुणा और असी

१. संयुक्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३५९-६०।

२. देखिए, हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृ० २१९-३०।

३. इक्ष्वाकुणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति। भागवत, नवों १२, १६; भत्स्य-पुराण, २७०.१६; विष्णुपुराण, चतुर्थ २२.१६; शिवपुराण, द्वितीय, ५, ३९-४२; डार्डेनेस्टीज् ऑफ् दि कलि एज्, पृ० ६७।

४. देखिए, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, आठवाँ निपात, उपोसथवर्ग, पृ० ३२६,

नामक नदी और नाले के बीच में बसने के कारण प्रसिद्ध हुआ । विमला चरण लाहवा^१ ने जातकों के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया कि वाराणसी के पुष्पावती, रम्भनगर, मोलिनी और ब्रह्मवदन, काशीपुर और काशीनगर जैसे और भी नाम थे । जातकों में काशी का विस्तार १२ योजन बताया गया है । काशी राज्य के उत्तर में कोसल, पूर्व में मगध और पश्चिम में वत्स नामक जनपद थे । **भोजजानिय जातक** (सं० २३) से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी एक समृद्ध नगर था, जहाँ सातों प्रकार के रत्न प्राप्त होते थे और इसी कारण आसपास के सभी राज्यों की दृष्टि इस पर लगी हुई थी ।

जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी में ही पैदा हुए थे और उनके पिता अश्वसेन काशी के राजा थे । इस कारण काशी महावीर और उनके शिष्यों के जीवन से सम्बद्ध कथाओं में भी चर्चित है । उनके सम्बन्ध में सबसे मुख्य विवरण यह है कि जिस रात्रि को उनकी मृत्यु हुई, काशी के राजा ने यह कहते हुए दीपशिखा जलायी कि “जब बुद्धि का प्रकाश समाप्त हो गया, तो हमें स्थूल वस्तुओं से ही प्रकाश करना चाहिए ।”^२ बुद्ध के समय काशी का महत्व इस बात से परिलक्षित होता है कि जब बुद्ध ने कुसिनारा में निर्वाण प्राप्त करने का निश्चय किया तो आनन्द ने उनसे कहा हे भगवन् ! कुसिनारा तो अत्यन्त छोटा सा गाँव है, इससे और भी बढ़िया नगर आपके निर्वाण के लिए उपयुक्त हो सकते हैं । आनन्द ने उन नगरों में काशी की भी गिनती की थी ।^३

यद्यपि बुद्ध के समय काशी की स्वतन्त्रता समाप्त हो चुकी थी, उस स्वतंत्रता की स्मृति सुत्तपिटक में ताजी रूप में दिखायी देती है। उसके अनेक स्वतन्त्र राजाओं के उल्लेख निकायों, विशेषतः जातकों, में प्राप्त होते हैं। काशी के राजाओं का पारिवारिक नाम ब्रह्मदत्त था। यहाँ काशी के अत्यन्त प्राचीन राजाओं का विवरण प्रस्तुत कृति की विषय-दृष्टि से बहुत सम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। इतना मात्र कहना पर्याप्त है कि बुद्ध के समय और उसके थोड़ा पूर्व काशी राज्य सम्बन्धी सबसे प्रमुख घटनायें कोसल से उसके संघर्षों की जान पड़ती हैं। इन संघर्षों का कोई व्योरेवार इतिहास बताना बड़ा कठिन है। कभी तो काशी के राजा कोसल के राजाओं पर चढ़कर उनको परास्त कर देते थे तो कभी कोसल

३३०, ३३३; पाटोसो, भाग १, पृ० २१३; भाग ४, पृ० २५२, २५६ और २६० ।

१. ट्राइव्स इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, १९४३, पृ० १०२।

२. वहाँ, पृ० १०६; और देखिए, जैन सूत्राज, पृ० २६६।

३. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानमुत्त, सारनाथ प्रकाशन, पृ० १३० ।

के राजा काशी से अपनी पराजयों का बदला लेना चाहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत-युद्ध के बाद कोसल का राज्य जब अत्यन्त शक्तिहीन हो गया तो उसे काशी के बार-बार धावे वर्दाश्त करने पड़े। ऐसी ही एक चर्चा हमें दीधीति कोसल जातक (सं० ३७१) में मिलती है। तदनुसार, काशी के राजा ब्रह्मदत्ता ने कोसल के राजा दीधीति पर आक्रमण करके उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली। दीधीति को विवश होते हुए भी अपना वेश बदलकर काशी में हा एक कुम्हार के रूप में छिपे रहना पड़ा। किन्तु जब ब्रह्मदत्ता को इसकी जानकारी हुई तो उसने दीधीति को पकड़कर मार डाला। उसके लड़के दीर्घायु ने काशी के राजा से प्रतिशोध लेने की ठानी और उसने अपना सारा राज्य वापस छीन लिया, यहाँ तक कि काशी के राजा ब्रह्मदत्ता को अपनी पुत्री का विवाह भी दीर्घायु से करना पड़ा।

कोसल पर काशी के अनेक आक्रमणों की चर्चायें मिलती हैं।^१ काशी राज्य की सैनिक और राजनीतिक शक्ति के विकास का चरमोत्कर्ष मनोज नामक राजा के अधीन हुआ। उसे अग्निराज^२ अर्थात् सभी राजाओं का सिरमौर कहा गया है। रतिलाल मेहता के मत में^३ मनोज ने कोसल के राजा को पराजित कर उसकी सेना हथिया ली और उसकी मदद से अंग पर आक्रमण करके उसे भी जीत लिया। इसी प्रकार उसने मगध, अश्मक और अवन्ति नामक जनपदों की भी विजयें कर डालीं और अन्ततः उत्तर भारत का सार्वभौम सम्राट् बन गया। किन्तु उसकी इन सैनिक महत्वाकांक्षाओं ने उसके सभी शत्रुओं को एक हो जाने के लिए उत्साहित किया और एक बार सात राजाओं ने मिलकर उसकी राजधानी घेर ली।^४ इसी प्रकार कोसल भी जब-जब शक्तिशाली हुआ, काशी पर उसके आक्रमण होते रहे। ऐसा मत^५ व्यक्त किया गया है कि काशी का राज्य बारी-बारी से वत्स, कोसल और मगध के अधिकार क्षेत्र में जाता रहा। किन्तु वत्स की अवनति और कोशल के उत्थान के बीच के काल में वह पूरी तरह स्वतंत्र था और इस बीच काशी के राजाओं ने कोसल पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया। यह स्थिति बुद्ध के समय से लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व की थी। किन्तु बुद्ध के कुछ समय पूर्व से कोसल की राजनैतिक और सैनिक शक्ति बढ़ने लगी थी।

१. वि० च० लाहा०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०७ और आगे; हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २०६ और आगे।

२. वहीँ, पृ० २०७, पादटिप्पणी ५।

३. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ६२।

४. जातक सं० १८१; भोजजानिय जातक, सं० २३।

५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० ३१६।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, काशी-कोसल सम्बन्धों के अन्तिम दौर में कोसल राज्य ने काशी को अपनी सीमाओं के भीतर समाहित कर लिया। हेमचन्द्र रायचौधरी^१ के मत में काशी को जीतने वाला कोसल का राजा कंस था, जिसे वाराणसिगहो अर्थात् वाराणसी को जीतने वाला कहा गया है। यह कंस बुद्ध के काफी पहले हुआ था।^२ काशी पर महाकोशल और प्रसेनजित का अधिकार, महाकोसला के बिम्बिसार के साथ विवाह के समय काशी के एक गाँव का अभिवेक-मूल्य के रूप में दिया जाना, बिम्बिसार के वध के बाद महाकोसला की मृत्यु, प्रसेनजित द्वारा उस गाँव को पुनः वापस ले लेना तथा उस कारण प्रसेनजित और अजातशत्रु के बीच युद्ध के कई दौरों की चर्चा हम पीछे कोसल के इतिहास के सम्बन्ध में कर चुके हैं।^३ दीधनिकाय^४ में प्रसेनजित को काशी का राजा कहा गया है और यह वर्णित है कि वह कोसल के अतिरिक्त काशी से भी कर वसूलता था।

मगध

बुद्धकालीन राजतंत्रों में मगध का स्थान सर्वप्रमुख था। मगध का क्षेत्र काशी, कोसल और मल्ल नामक राज्यों के पूरब और दक्षिण में पड़ता था। आधुनिक बिहार के भागलपुर जिले में स्थित अंग नामक जनपद उसके दक्षिण-पूर्व में स्थित था तथा वज्जि और विदेह उसके उत्तर में पड़ते थे। मगध राज्य की उत्तरी सीमा गंगा नदी, पश्चिमी सीमा बनारस, पूर्वी सीमा हिरण्य पर्वत अर्थात् मुंगेर और दक्षिणी सीमा सिंहभूम पड़ती थी।^५ इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। किन्तु महाभारत-युद्ध के समय इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। बाद में अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र को राजधानी बनाये जाने के लिए अधिक उपयुक्त समझा। उसके पुत्र उदायो^६ ने उसकी किलेबन्दी करके उसे पूर्णरूप में अपनी नयी राजधानी बना लिया। गौतम बुद्ध के समकालीन मगध राजाओं में बिम्बिसार और उसके

१. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ६७।

२. हेमचन्द्रराय चौधरी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० १८०।

३. पीछे देखिए, पृ० सं० ९८, १००-१०२।

४. पाटोसो, भाग १, पृ० ३३९।

५. वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९८।

६. वास्तव में पाटलिपुत्र का और अधिक विकास और उसकी पूर्णरूप से राजधानी बनाने का काम अजातशत्रु के पुत्र उदायोभद्र ने ही किया। युगपुराण. (पृ० ३१) के अनुसार :—

पुत्र अजातशत्रु की अनेकानेक चर्चायें सुत्तपिटक में आती हैं। बिम्बिसार मगध का उस समय राजा था, जब बुद्ध ने अपना सबसे पहला उपदेश सारनाथ में किया था। जब उनका निर्वाण हुआ तब तक उसका पुत्र अजातशत्रु आठ वर्षों तक मगध पर राज्य कर चुका था। इस आधार पर इन दोनों का शासन काल बहुत कुछ निश्चित किया जा सकता है।^१ सिंहली और चीनी अनुश्रुतियों के अनुसार बुद्ध की निर्वाण-तिथि प्रायः ४८३ ईसा पूर्व से ४८७ ईसा पूर्व के बीच ठहरती है। इस आधार पर बिम्बिसार के शासन का आरम्भ वर्ष ५४२ ईसा पूर्व और अजातशत्रु का राज्यारोहण वर्ष ४९३ ईसा पूर्व माना गया है।

बिम्बिसार ने मगध में ह्यंक^२ नामक एक नया राजवंश की स्थापना की। सुत्तनिपात की टीका में उसे मगध अर्थात् मगध का राजा कहा गया है। किन्तु जैन और बौद्ध साहित्य के अनेक स्थानों पर उसे श्रेणिय अथवा श्रेणिक कहा गया है। बौद्ध साहित्य में वह बुद्ध का महान् भक्त बताया गया है। बिम्बिसार ने मगध की राजनीतिक शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाया। इस दिशा में उसका सबसे पहला काम था अंग राज्य को जीतकर मगध में मिला लेना। अंग आधुनिक बिहार के भागलपुर और मुंगेर जिलों में स्थित था और उसकी राजधानी चम्पा थी। जैन ग्रंथ भगवतीसूत्र^३ के अनुसार चम्पा में उसने अपने पुत्र कुणिक अर्थात् अजातशत्रु को अपनी ओर से शासक नियुक्त किया था। जातकों^४ में अंग और मगध के अनेक संघर्षों की चर्चायें आती हैं, जिनमें कई बार तो अंग को भी विजयी बताया गया है। किन्तु महावग्ग से यह पूरी तरह स्पष्ट है कि अंग मगध में सम्मिलित कर लिया गया था। दीघनिकाय के सोणदण्डसुत्त^५ से यह ज्ञात होता है कि बिम्बिसार ने सोणदण्ड नामक एक ब्राह्मण को चम्पा का दान कर दिया था। जैन ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि बिम्बिसार का एक राजकुमार चम्पा पर

उदायी नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः । ८१

गंगातीरे स राजर्षिः दक्षिणे समहानदेः । ८२

स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यारामजनाकुलम् ॥ ८३

१. बिहार थ्रू दि एजेज़्, पृ० ९८ ।

२. भण्डारकर, कार्माइकेल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० ७२ ।

३. चम्पा नाम कुणिको राजा, भगवतीसूत्र, ३०० ।

४. फॉसवॉल संस्करण, जिल्द ६, पृ० २७२; हेमचन्द्र रायचौधुरी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९१; जातक सं० ५४५ ।

५. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ४४ ।

उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। यह राजकुमार सम्भवतः अजातशत्रु ही था।⁹

अंग पर विजय से मगध के साम्राज्यवाद का विकास प्रारम्भ हो गया । इससे बिम्बिसार की जो शक्ति बढ़ी, उसे स्वीकार करते हुए कोशल के शासक महा-कोशल ने अपनी पुत्री महाकोसला का और वैशाली के लिच्छवियों ने अपनी एक राजकुमारी वैदेही का विवाह बिम्बिसार से कर दिया । थेरीगाथा की टीका (पृ० १४१) में यह होता है कि बिम्बिसार की तीसरी रानी क्षेमा थी, जो मद्र देश की राजकुमारी थी । बिम्बिसार की चौथी रानी विदेह के राजा चेटक की पुत्री छलना^२ थी । ऐसा प्रतीत होता है कि इन विवाहों से उसकी राजनीतिक शक्ति बहुत बढ़ गयी थी । विनयपिटक के अनुसार बिम्बिसार अस्सी हजार गांवों का शासक था और उसके राज्य का क्षेत्रफल तीन सौ योजन विस्तृत था । इन गांवों के ग्रामिक उसके दरबार में उपस्थित हुआ करते^३ थे । बौद्ध साहित्य से हमें मगध के कुछ प्रसिद्ध गांवों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जैसे सेनानिगाम,^४ एकनालागाम,^५ (जहाँ पर बुद्ध का भारद्वाज नामक शिष्य रहता था), खानुमत,^६ जो एक ब्राह्मण गांव था और नालकगाम^७, जहाँ पर बुद्ध ने सारिपुत्र को उपदेश दिया था ।

सुत्तपिटक में बिम्बिसार और बुद्ध के सम्बन्ध को भी चर्चाये मिलती है। सुत्तनिपाट में बुद्ध और बिम्बिसार के प्रथम परिचय का बड़ा रोचक उल्लेख मिलता है। बिम्बिसार बुद्ध का भक्त ही नहीं अपितु, बौद्ध साहित्य के अनुसार,

१. वि० च० लाहा० पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०१ ।
२. रा० कु० मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनु०), पृ० १९७ ।
३. विनयपिटक, पाटोसो०, भाग २, पृ० १; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३१-३२; रायचौधुरी, पोहिएइ०, पृ० १६६-६७ ।
४. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० १०६ ।
५. संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० १३८ ।
६. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ४८-५० ।
७. संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ५५९; चुन्दसुत्त, ४५/२।३, पृ० ६९२ ।
८. उज्जुं जनपदो राजा, हिमवत्तस्स वस्सतो ।
धनविरियेन सम्पन्नो कोसलेसु निकेतिनो ॥
आदिच्चा नाम गोत्तेन साकिया नाम जातिया ।
तम्हा कुला पव्वीजतोम्हि (सज) न कामअभिवत्थयं ॥
पव्वजासुत्त, सुत्तनिपात, मूल पालि और हिंदी अनुवाद पृ० १०४ ।

बौद्ध धर्म का अनुयायी भी था। उसके राजदरबार में प्रसिद्ध वैद्य जीवक रहता था, जिसे उसने एक बार अवन्ति के राजा प्रद्योत के पास उसकी पीलिया की बीमारी की दवा करने हेतु भेजा था^१। किन्तु जैन ग्रंथों में बिम्बिसार का जैन होना बताया गया है। इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि बौद्ध और जैन दोनों ही धर्मावलम्बी उसे अपना-अपना अनुयायी बताते हैं। वास्तव में यह बिम्बिसार के दोनों धर्मों के प्रति अत्यधिक आदर का सूचक मात्र है। बुद्ध ने वैशाली, चम्पा और राजगृह में अनेक बार उपदेश किया था, जहाँ उनसे मिलने बिम्बिसार प्रायः जाया करता था। राजगृह जैनो का भी एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल था और वर्धमान महावीर प्रायः वहाँ रहा करते थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कोसल के राजा प्रसेनजित की तरह बिम्बिसार भी वैदिक धर्म में विश्वास करते हुए जैन, बौद्ध और अन्य सभी सम्प्रदायों का भरपूर आदर करता था और उन्हें सहायता भी प्रदान करता था।^२

बिम्बिसार की कई रानियाँ थीं और कई पुत्र भी। पुत्रों में अजातशत्रु सबसे योग्य और ज्येष्ठ था। बौद्ध साहित्य में उसे वैदेहीपुत्र कहा गया है।^३ यह कह सकना कठिन है कि उसकी माता (वैदेही) लिच्छवि राजकुमारी छलना थी अथवा अन्य कोई विदेह राजकुमारी। अजातशत्रु मगध की राजगद्दी का उत्तराधिकारी होते हुए भी उसके लिए बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं था। बौद्ध साहित्य के कुछ अंशों में यह चर्चा आती है कि उसने देवदत्त के उकसाने पर अपने पिता बिम्बिसार को कैद कर लिया और या तो उसका बध कर दिया या उसे भूख-प्यास से तड़पा-तड़पा कर मार डाला।^४ इस प्रकार मगध की राजगद्दी पर अधिकार करने की उतावली में उसने अपने माथे पर पितृघाती^५ होने का कलंक लगा लिया।

१. बिहार थू दि एजेज़, पृ० १०१।

२. देखिए, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २२६-३०।

३. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १३९।

४. देखिए, दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० १६-१७ की पदसंकेत संख्यायें १ से ३।

५. बौद्ध ग्रंथों में एक जगह अजातशत्रु के नाम की व्याख्या दी गयी है। तदनुसार, जब वह अपनी माँ के पेट में था, उसकी माँ को यह विचित्र इच्छा हुई कि वह अपने पति बिम्बिसार की जाँघों का माँस खाय। उसने यह बात डरते हुए बिम्बिसार को बतायी, जिसने भविष्यवक्ताओं से गर्भिणी रानी की इस विचित्र इच्छा के सम्बन्ध में पूछा। ज्योतिषियों ने यह बताया कि गर्भस्थ

गद्दी धारण करने के इस ढंग के कारण अजातशत्रु कलंकित तो हुआ, किन्तु वह हर्षक वंश का सबसे शक्तिशाली और मगध साम्राज्य की वृद्धि करने वाला एक प्रमुख शासक सिद्ध हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि उसके पिता बिम्बिसार ने मित्रता और विवाह की नीति अपनाकर जहाँ मगध की शक्ति को बढ़ाने का उपक्रम किया था, वहीं अजातशत्रु ने उसके सभी मित्रों के विरुद्ध सैनिक अभियान प्रारम्भ कर दिया। उसका सबसे पहला युद्ध सम्भवतः कोशल के राजा प्रसेनजित से हुआ, जिसकी चर्चा कोशल का राजनीतिक इतिहास लिखते समय की जा चुकी है।^१ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उन दोनों के बीच युद्ध के चार दौर हुए। प्रथम दो दौरों में प्रसेनजित की विजय हुई, जिसकी चर्चा **संयुत्तनिकाय** के^२ **पठमसंगमसुत्त** और **द्वुतियसगमसुत्त** में आती हैं। किन्तु तीसरे दौर में प्रसेनजित हारा और बड़ा उदास हुआ। उसने बौद्ध भिक्षुओं की राय जाननी चाही और अपने दो पुराने मन्त्रियों-धनुःगतिस्स और मन्तिदत्त, जो अब बौद्ध भिक्षु हो गये थे, की सलाह से शकट-युद्ध के प्रयोग द्वारा अजातशत्रु पर विजय पायी।^३ किन्तु इस विजय से उसे कोई लाभ नहीं हुआ। आगे अजातशत्रु से प्रसेनजित पुनः हारा और उसने अजातशत्रु से संधि कर ली। संधि की शर्तों के अनुसार उसने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर काशी का वह गाँव भी वाजिरा को अभिषेक मूल्य के रूप में दे डाला^४, जिसके लिए दोनों पक्षों में युद्ध हुआ था। पीछे हम देख चुके हैं कि बिम्बिसार की हत्या के बाद उसकी रानी महाकोसला दुःख से मर गया और प्रसेनजित ने अप्रसन्न होकर अजातशत्रु से उपर्युक्त गाँव छीन लिया था, जिसकी आय महाकोसला के **स्नानचूर्णमुष्टिधन** अथवा अभिषेकमूल्य के रूप में दी गयी थी। उसी के कारण अजातशत्रु और प्रसेनजित में युद्ध प्रारंभ हुए थे।

काशी के उस दहेज वाले गाँव को लेकर दोनों पक्षों में युद्ध होना एक बहाना मात्र था। वास्तव में अजातशत्रु और प्रसेनजित दोनों ही शक्तिशाली

बालक बड़ा होकर अपने पिता का वध करेगा। इसी कारण इसका नाम अजातशत्रु (जो अजात अर्थात् पैदा होने के पूर्व ही पिता का शत्रु हो चुका था) पड़ा। देखिए, डिपापाने०, जिल्द १, पृ० ३१-३५।

१. पीछे देखिए, पृ० १००-१०२।

२. संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, भाग १, पृ० ७६-७७।

३. पीछे देखिए, पृ० १०२।

४. संयुत्तनिकाय, १/८४/६; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, सं० ३४२; धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० २५९।

राजा थे और युद्ध में दोनों एक दूसरे की सैनिक शक्ति की परीक्षा करके अपनी-अपनी राजनैतिक सत्ता और प्रतिष्ठा का विस्तार करना चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने देखा कि दोनों ही बराबर हैं तो उन्होंने आपस में मित्रता कर ली, जो दोनों के जीवनपर्यन्त चलती रही। हमें यह सूचना^१ मिलती है कि एक बार प्रसेनजित अपने सेनापति दीर्घकारायण के साथ कहीं यात्रा पर जा रहा था किन्तु रास्ते में मेदलुम्प नामक गाँव में बुद्ध के होने की सूचना उसे मिली और वह उनके दर्शन के लिए वहाँ चला गया। बुद्ध के पास वह सर्वदा मुकुट और शस्त्र उतारकर ही मिलने जाता था। इस बार भी वह उन्हें अपने सेनापति के पास छोड़ गया। किन्तु उसका सेनापति (दीर्घकारायण) उससे अप्रसन्न था। वह मुकुट और राजा की तलवार लेकर भाग गया, और उन्हें ले जाकर राजा के पुत्र विडूडभ को दे दिया, जिसने विद्रोह करके श्रावस्ती की गद्दी हथिया ली। इस समय प्रसेनजित ने अजातशत्रु की मदद लेनी चाही। अतः वह पाटलिपुत्र की ओर भागा, किन्तु अजातशत्रु से भेंट होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। जब अजातशत्रु को इसकी जानकारी हुई तो उसने बड़े ही आदर और सम्मानपूर्वक उसका दाह संस्कार और श्राद्ध किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्त में प्रसेनजित और अजातशत्रु के बीच बहुत मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

मगध के उत्तर में बसे हुए लिच्छवि जनपद के विरुद्ध भी अजातशत्रु ने शत्रुता और बल प्रयोग की नीति अपनायी। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मों के ग्रन्थों में इसकी चर्चा मिलती है। तदनुसार, अजातशत्रु का अपने छोटे भाइयों-हल और विहल-से झगड़ा हो गया। अतः वे दोनों भागकर लिच्छवि राजा चेटक के पास चले गये। अजातशत्रु ने चेटक से उन भगोड़ों को वापस माँगा, जिसे लिच्छविराज चेटक ने इन्कार कर दिया। फलस्वरूप लिच्छवियों और अजातशत्रु में युद्ध प्रारम्भ हो गया।^२ किन्तु सुमंगलविलासिनी^३ की एक अनुश्रुति के अनुसार उन दोनों के झगड़ों का मूल कारण यह था कि गंगा नदी के किनारे स्थित एक बन्दरगाह था, जिसपर लिच्छवियों और मगधराज दोनों का ही समान रूप से अधिकार था। उससे प्राप्त होनेवाले किसी बहुमूल्य पत्थर अथवा सुगन्धित पदार्थों के बँटवारे के प्रश्न को लेकर ही दोनों पक्षों में झगड़ा हुआ था।

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३६७-३७०; भद्रसाल जातक सं० ४६५।

२. बिहार श्रुति एजेन्स, पृ० १०३।

३. वहीं; वि० च० लाहा, लाइफ् ऐण्ड वर्क ऑफ् बुद्धघोष, पृ० १११।

महापरिनिब्बानसुत्त^१ और अंगुत्तरनिकाय^२ से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु के मन में लिच्छवियों पर विजय की उत्कट इच्छा थी और इस सम्बन्ध में उसने बुद्ध की राय जानने के लिए सुनीध और वस्सकार नामक अपने दो मंत्रियों को भेजा। वस्सकार उनमें अगुआ था और उसने बुद्ध को प्रणाम करके अजातशत्रु की इच्छा उन्हें बतायी। बुद्ध ने वस्सकार को कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। किन्तु आनन्द से उन्होंने लिच्छवियों के बारे में सात प्रश्न किये और उनके उत्तर लिये। उन प्रश्नोत्तरों का अन्तिम लक्ष्य वस्सकार को यह बताना था कि लिच्छवि लोग जब तक अपनी प्राचीन प्रथाओं और नियमों का पालन करते रहेंगे, एक साथ उठते-बैठते रहेंगे तथा सामूहिक विचार और परामर्श आदि करते रहेंगे उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं। वस्सकार ने इसका तात्पर्य समझ लिया और वापस जाकर अजातशत्रु को निवेदित किया कि लिच्छवियों पर किसी सैनिक आक्रमण से विजय नहीं पायी जा सकती। अतः अजातशत्रु ने भेदनीति का अवलम्बन करते हुए लिच्छवियों में फूट के बीज डालने का उपक्रम किया। उसने वस्सकार से नकली झगड़ा करते हुए उसे अपने राज्य से बाहर निकाल दिया तथा अपने उस मंत्री के साथ (कृतिम) कलह का खूब प्रचार किया। इस धोखेधड़ी में आकर लिच्छवियों ने वस्सकार का अपने यहाँ आने पर स्वागत किया और उसे अपना मंत्री बना लिया। वस्सकार ने धीरे-धीरे लिच्छवि संघ में ऐसी फूट डाली कि वे सब आपस में ही लड़ने लगे। अन्त में वस्सकार ने गुप्तरूप में अजातशत्रु को अपनी सफलता का संदेश भेजा, जिसने सैनिक आक्रमण करके लिच्छवियों पर विजय पायी।

मगध-लिच्छवि युद्ध के पूर्व दोनों ही पक्षों ने युद्ध की पूरी तैयारियाँ की थीं। अजातशत्रु ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर बसे हुए पाटलि^३ नामक गाँव की किलेबन्दी शुरू करते हुए उसे मगध की अगली राजधानी बनाने का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया। सैनिक दृष्टि से वह गिरिव्रज अथवा राजगृह से अधिक सुरक्षित था। उधर लिच्छवियों ने मगध के विरुद्ध एक सैनिक मोर्चेबन्दी कर रखी थी और उनकी नौ शाखाएँ (नव लिच्छवई) तथा मल्लों की नौ शाखाएँ (नव मल्लई) ने आपस में मिलकर एक सैनिक संघ तैयार कर लिया।^४ ऐसा प्रतीत होता है कि

१. महापरिनिब्बानसुत्त, २/३, दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ११८-११९।
२. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, वज्जि सप्तक वर्ग, सातवाँ निपात, जिल्द ३, पृ० १५०-१५२ तथा ११८ और आगे।
३. "सुनीध-वस्सकार मगधमहामता पाटलिगामे नगरं मा पेन्ति वज्जीनम् पटि-वाहाया।" दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त—नालन्दा पालि प्रकाशन, जिल्द २, पृ० ७०।
४. हिन्दू सभ्यता, पृ० २१०।

जब तक यह मल्ल और लिच्छवि सैनिक संघ संयुक्त रहा तब तक मगध के शक्ति-शाली शासक भी उससे भयभीत थे। सम्भवतः इसी सैनिक संघटन को तोड़ने के लिए अजातशत्रु ने वस्सकार को लिच्छवियों के यहाँ भेदनीति का प्रयोग करने हेतु भेजा था। लिच्छवियों और मल्लों का यह सैनिक संगठन, जैन साहित्य के अनुसार, लगभग सोलह वर्षों तक चलता रहा।^१ किन्तु लिच्छवियों पर अन्त में विजय पाकर भी उनकी स्थायी रूप से दबाने और लिच्छविगण को पूरी तरह हड़प लेने में अजातशत्रु को कदाचित् पूरी सफलता नहीं मिली। यह इस बात से प्रमाणित है कि अजातशत्रु के शासन के बहुत दिनों बाद भी लिच्छवि एक स्वतंत्र गणतंत्र के रूप में बने रहे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि लिच्छवि महापद्म-नंद के युग के बाद भी एक स्वतंत्र संघ के रूप में जीवित थे। अर्थशास्त्र में उन्हें राजशब्दोपजीवोसघ^२ कहा गया है। नेपाल के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि लिच्छवियों की एक शाखा नेपाल चली गयी। असंभव नहीं कि ऐसा अजातशत्रु के दबाव के कारण ही हुआ हो।

कुछ बौद्ध सुत्तों से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र की किलेबन्दी अवन्ति के राजा चंडप्रद्योत के आक्रमण के भय से की थी। किन्तु चंडप्रद्योत ने मगध पर कभी कोई आक्रमण किया था अथवा उसकी योजना बनायी थी, इसकी कोई सूचना हमें नहीं मिलती।^३

अपने पिता बिम्बिसार की ही तरह अजातशत्रु ने भी बुद्ध और महावीर के प्रति आदर-सत्कार का भाव रखा।^४ बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि जहाँ बौद्ध अनुश्रुतियाँ अजातशत्रु को पितृहन्ता बतलाती हैं^५, वहाँ जैन अनुश्रुतियों में इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। जैन सूत्रों में यह चर्चा मिलती है कि वह अपनी रानियों और परिजनों के साथ महावीर के दर्शनों के लिए जाता था।^६ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में महावीर के प्रति अजातशत्रु की यह रुझान इस कारण थी कि वह बुद्ध के चचेरे भाई और उनके प्रतिस्पर्द्धी देवदत्त के

१. बिहार थू दि एजेज्, पृ० १०४।

२. लिच्छविक वृजिकमल्लकमद्रुकुरकुरुपाञ्चालादयोराजशब्दोपजीविनः। देखिए, कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, रामतेजशास्त्री का हिन्दी अनुवाद, पृ० ६२६।

३. बिहार थू दि एजेज्, पृ० १०२; मज्झिमनिकाय ३।७।

४. सामञ्जस्यफलसुत्त, दीधनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० १६-१९।

५. विनयपिटक, पाटोसो, जिल्द २, पृ० ४९०; सामञ्जस्यफलसुत्त, १।२।

६. औपपातिकसुत्त, १२.२७.३०; परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४; आवश्यकसूत्र, पृ० ५८४, ६८७।

प्रभाव में था और उसके द्वारा उकसाये जाने से वह बुद्ध के प्रति हिंसा तक के लिए उतारू था।^१ किन्तु बाद में उसे अपनी भूल समझ में आयी और उसने बुद्ध से क्षमा माँगी। बुद्ध ने उसे क्षमा कर दिया। इससे बाद के बौद्धों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि वह (अजातशत्रु) बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। अतः बौद्धों की अजातशत्रु के बौद्ध हो जाने की धारणा गलत प्रतीत होती है। अजातशत्रु की बुद्ध के साथ भेंट तथा उसके द्वारा बुद्ध के चरणों की पूजा का एक दृश्य भरहुत स्तूप के एक शिलापट्ट पर उत्कीर्ण किया गया है, जिसके नीचे एक लेख है, "अजातसत्तु भगवयो वंदेते।"^२ किन्तु दूसरी ओर जैन ग्रन्थों^३ का भी यह दावा है कि उनके धर्म के भक्तों में बिम्बिसार, अजातशत्रु और लिच्छवि राजा चेटक प्रमुख थे।

बुद्ध के प्रति अजातशत्रु की आदर-भावना का परिचय दीघनिकाय के महा-परिनिब्बानसुत्त^४ में प्रमुख रूप में मिलता है। तदनुसार, जब बुद्ध ने कुसिनारा में परिनिर्वाण प्राप्त किया तो उनकी अस्थियों के अवशेषों को प्राप्त करने और उन पर स्तूप-निर्माण करने की इच्छा व्यक्त करते हुए तत्कालीन बौद्ध गणतंत्रों ने कुसिनारा के मल्लों के पास यह संदेश भेजा कि चूँकि बुद्ध क्षत्रिय थे और वे भी क्षत्रिय हैं, उन्हें बुद्ध के अवशेषों के भाग मिलने चाहिए। इस अवसर पर अजातशत्रु ने भी अपना दावा उपस्थित करते हुए मल्लों के पास दूत भेजकर कहलाया कि "भगवान् भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् के शरीरों (अस्थियों) में मेरा भी भाग वाजिब है। मैं भी भगवान् के शरीरों का स्तूप बनवाऊँगा और उनकी पूजा करूँगा।"^५ आगे चर्चा है कि अजातशत्रु ने राजगृह में भगवान् की अस्थियों का स्तूप बनवाया और उनकी पूजा की।^६

अजातशत्रु का बौद्ध धर्म के प्रति आदर का भाव इस बात से भी प्रकट होता है कि जब भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने उनके विनय और उपदेशों का संग्रह करने का निश्चय किया तो उन्होंने राजगृह में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति बुलायी। यह संगीति सप्तपर्णी गुहा में हुई और अजातशत्रु ने उस स्थान को सजा-संवारकर उस बैठक में अपनी राजकीय सहायता दी।

१. विनयटेक्स्ट्स, पाटोमो०, भाग ३, पृ० २४५।

२. देखिए, रा० कु० मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनु०) के पृ० २०५ पर उद्धृत।

३. उवासगदसाओ, १-९।

४. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० १५०।

५. वही।

६. वही, पृ० १५१।

वत्स

वत्स जनपद बुद्ध के समय के सोलह महाजनपदों में एक था।^१ इसकी राजधानी कोशाम्बी दीघनिकाय के महापरिनिब्बासुत्त में अपने समय की छह महानगरियों^२ में एक बतायी गयी है। बुद्ध के समय में यह नगर भारतवर्ष के अनेक नगरों को राजमार्गों से जोड़ता था—जैसे तक्षशिला, श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह और वैशाली। पश्चिम भारत से कोशाम्बी होते हुए प्रयाग, अयोध्या, काशी और राजगृह से पाटलिपुत्र और चम्पा होते हुए व्यापार की वस्तुएँ पूर्व में बर्मा तक भेजी जाती थीं।^३ सुत्तनिपात^४ से यह ज्ञात होता है कि इन व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने के कारण कोशाम्बी एक सम्पन्न नगर हो गया था, जहाँ बड़े-बड़े सेठों का निवास था। दीघनिकाय की टीका सुमंगलविलासिनो^५ में घोषित अथवा घोषिक, ककोद एवं पावारिय नामक ऐसे अनेक धनिक वणिकों के नाम आते हैं, जिन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए घोषिताराम, ककोदाराम, पावारियाराम नामक सुन्दर विहारों का निर्माण कराया था। घोष^६ का विचार है कि यमुना के निचले बहाव की ओर गंगा से उसके संगम के पूर्व सहजाति नाम का एक नाविकों का केन्द्र था। इसे उन्होंने आजकल के इलाहाबाद से आठ मील दूर स्थित भीटा नामक स्थान से मिलाया है। उनके मत में बुद्ध के समय कोशाम्बी देश के भीतर आयात और देश के बाहर निर्यात के लिए मध्यदेश और उत्तर भारतवर्ष का सबसे प्रमुख नदीनगर था।^६

प्राचीन कोशाम्बी यमुना के किनारे वर्तमान इलाहाबाद से ३०-३५ मील की दूरी पर पश्चिम की ओर स्थित आजकल का कोसम है। इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के गोवर्धनराय शर्मा के नेतृत्व में यहाँ पर महत्त्वपूर्ण खुदाइयाँ की गयी हैं, जिनसे प्राप्त प्राचीन अवशेष प्रयाग विश्वविद्यालय के कोशाम्बी संग्रहालय में

१. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, आठवाँ निपात, उपोसथ वर्ग, पृ० ३२६, ३३०, ३३३।
२. मा भन्ते अस्मिन् कुड्डनगरके उज्जंगलनगरके परिनिब्बायि, सन्तिभन्ते अज्जानि महानगरानि सेय्यथीदं चम्पा राजगहं सावत्थि साकेतं कोसम्बी, वाराणसी एदय भगवा परिनिब्बायतु। दीघनिकाय, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग २, पृ० ११६, १३४।
३. रीजू डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १०२।
४. सुत्तनिपात, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, पृ० २६०-२६१।
५. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ कोशाम्बी, पृ० ८।
६. वहीं; रीजूडेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १०४।

सुरक्षित हैं। इन खुदाइयों से कोशाम्बी के घोषिताराम जैसे प्रमुख स्थानों की जानकारी तथा बुद्ध और बोधिसत्त्व की अनेक मूर्तियों और अभिलेखों की प्राप्ति हुई है। किन्तु उनकी चर्चा यहाँ इस कारण समीचीन नहीं प्रतीत होती कि वे इस कृति की विषय वस्तु से बाहर हैं।

वत्स जनपद की चर्चा सुत्तपिटक के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों में आती है। उसकी राजधानी कोशाम्बी को बसाने वाला कुसम्ब नामक राजकुमार उपरि-कर के पुत्र के रूप में महाभारत में वर्णित^१ है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड (३२.६) में भी कोशाम्बी के संस्थापक के रूप में कुसम्ब की चर्चा आती है। हरिवंशपुराण तथा अन्य पुराणों^२ में यह वर्णित है कि जब हस्तिनापुर नगर गंगा नदी की बाढ़ में बह गया तो परीक्षित के पाँचवें वंशज निचक्षु ने हस्तिनापुर को छोड़कर कोशाम्बी को अपनी राजधानी बना ली।

बौद्ध साहित्य में वत्स का राजा उदयन बहुत प्रसिद्ध रूप में चर्चित है। पौराणिक वंशावलियों के अनुसार उदयन निचक्षु की सत्रहवीं पीढ़ी में हुआ था^३। तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता है कि उसके पिता का नाम शतानीक^४ था। किन्तु पालि साहित्य में उसके पिता का नाम परन्तप^५ बताया गया है। भण्डारकर^६ ने प्रसिद्ध संस्कृत नाटककार भास के नाटकों के आधार पर उदयन की माँ का नाम वैदेही बताया है, जिससे यह स्पष्ट है कि वह विदेह राजा की क्षत्रिय कन्या थी। धम्मपद से उसको रानी वासुलदत्ता का भी ज्ञान होता है। यही आगे चलकर संस्कृत नाटकों में वासवदत्ता कहलायी। वासवदत्ता अवन्ति के राजा चंड प्रद्योत की पुत्री थी। धम्मपद से उदयन को और भी अनेक रानियों के नाम ज्ञात होते हैं, यथा—सामावती, मागन्धिय और पद्मावती।

बौद्ध साहित्य में उदयन के अपने समकालीन शासकों से सम्बन्धों के बारे में अनेक चर्चाएँ आती हैं। वत्स राज्य के पश्चिम में अवन्ति का राज्य पड़ता था, जिसका शासक प्रद्योत उससे प्रायः शत्रुता का भाव ही रखता था। उससे निपटने के लिए उदयन ने अपनी राज्य-सीमा के पूर्व में स्थित मगध के राजा अजातशत्रु

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ कोशाम्बी, पृ० २ पर उद्धृत।

२. पार्जिटर, डाइनेस्टीज् ऑफ् दि कलि एज, पृ० ५।

३. वायुपुराण, ९९, २७० से २७१; मत्स्यपुराण, ५०, ५६-८७; भागवत-पुराण, नवम, ११, ३३-४४।

४. रॉकहिल्, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० १७।

५. धम्मपदअट्ठकथा, उदयनवत्थु।

६. कार्माइकेल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० ५८-५९।

से मित्रता कर ली। पीछे हम देख चुके हैं कि एक बार अजातशत्रु को भी चंड प्रद्योत का भय हुआ और उसने उससे बचने के लिए पाटलिग्राम की किलेबन्दी की^१। चण्डप्रद्योत ने कोशाम्बी पर आक्रमण तो किया परन्तु उसे असफलता ही हाथ लगी और उसे अपनी पुत्री का विवाह उदयन से करके सन्धि मोल लेनी पड़ी।^२ इससे उदयन की शक्ति बहुत बढ़ गयी और उसने संसुभारंगिर के भग्नों को भी अपने अधीन कर लिया।^३ उदयन की पूर्वी राज्य-सीमा सम्भवतः काशी तक विस्तृत हो गयी थी। उसके पास एक बहुत ही बढ़िया हस्तिसेना थी। एक किंवदन्ति यह है कि वह बाँसुरी बजाकर बड़े-बड़े मदमाते हाथियों को भी सुग्ध करके पकड़ लेता था। धम्मपद अट्ठकथा^४ से पता चलता है कि उसने अपनी राजधानी को सुन्दर महलों, सरोवरों और वगीचों से सुशोभित और सुसज्जित कर रखा था। मज्झिमनिकाय से ज्ञात होता है कि उसने वनों की रक्षा के लिए वनपालों की नियुक्ति कर रखी थी।

बौद्ध धर्म से वत्सराज उदयन के सम्बन्ध की जो सबसे प्रमुख कथा आती है, वह उसके बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की है। इस कथा के स्रोत तिब्बती अनुश्रुतियों और पालिग्रन्थों में मिलते हैं। तिब्बती अनुश्रुतियों^५ के अनुसार एक बार जब बुद्ध कोशाम्बी की ओर जा रहे थे तो रास्ते में उदयन कनकावती नामक नगर पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेनाओं को सैनिक अभ्यास करा रहा था। बुद्ध के वहाँ आगमन से बाधा देखकर उसने बुद्ध को मार डालने के लिए वाण चलाया, जो निष्फल गया। तदुपरान्त बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर वह उनका भक्त हो गया। किन्तु, पालि साहित्य के अनुसार, उदयन को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने वाला पिण्डोल भारद्वाज^६ नामक एक बौद्ध भिक्षु था। तथापि सभी सन्दर्भों में एक बात समान रूप से यह दिखायी देती है कि बुद्ध के भक्त होने के पूर्व उदयन बौद्धों के प्रति, चाहे वे स्वयं बुद्ध हों अथवा पिण्डोल भारद्वाज भिक्षु हो अथवा उसकी बौद्ध रानी सामावती हो, असहिष्णु था

१. देखिए, पीछे पृ० सं० ११४।

२. वि० च० लाहा, ज्याँग्रकी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २३।

३. मज्झिमनिकाय, पाटोसो०, जिल्द २, पृ० ८५; जातक सं० ३५३; कामाडिकेल्लेक्चर्स, १९१८, पृ० ६३।

४. धम्मपद अट्ठकथा, उदयनवत्थु।

५. रॉकहिल्, लाइफ़ ऑफ़ बुद्ध, पृ० ७४।

६. रीज्डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ७।

और उनके प्रति शत्रुता का भाव रखता था। इस बात में भी सन्देह किया जा सकता है कि उदयन के बौद्ध होने के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों के जो दावे हैं, वे सत्य ही हैं। जातकों से इतना मात्र ज्ञात होता है कि बुद्ध ने कोशाम्बी में कोसम्बोय^१ सुत्त^२, बोधिराजकुमारसुत्त^३ आदि अनेक सुत्तों का उपदेश किया था। किन्तु कोशाम्बी में उन्होंने राजगृह और श्रावस्ती जैसे नगरों की भाँति बहुत दिनों तक निवास नहीं किया था। घोष^४ ने कोशाम्बी में बुद्ध का कम से कम दो बार जाना निश्चित बताया है। पहली बार वे ज्ञान प्राप्ति के छठे वर्ष में उस अवसर पर वहाँ गये थे, जब वहाँ के बौद्ध संघ में आपसी विवाद खड़ा हो गया था।^५ किन्तु उदयन चाहें बौद्ध हुआ हो अथवा नहीं, बुद्ध के कोशाम्बी जाने के बाद वह उनका वैसे ही आदर करने लगा था, जैसे प्रसेनजित करता था। कोशाम्बी में भी बौद्ध विहारों और आरामों की संख्या बढ़ने लगी और धोषिताराम में बुद्ध ने अपने अनेक सुत्तों का उपदेश किया। यह धोषिताराम कोशाम्बी के दक्षिण-पूर्वी कोने पर यमुना नदी के किनारे पर स्थित था, जो अपने समय में अवश्य ही एक सुन्दर स्थान रहा होगा।

राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली

सुत्तपिटक से राजवंशों की शासन प्रणाली के सम्बन्ध में बहुत अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु यत्र-तत्र जो भी फुटकर बातें ज्ञात होती हैं, उनसे उसका कुछ स्वरूप अवश्य निश्चित किया जा सकता है। बुद्ध के समकालिक कोसलराज प्रसेनजित और मगध राजाओं-बिम्बिसार और अजातशत्रु—के बारे में न्यूनाधिक सूचनाएँ मिलती हैं। कोसल और मगध दोनों ही अपनी-अपनी राज्य सीमाएँ बढ़ाना चाहते थे और उनकी अधिसत्ता स्वीकार करने वाले कुछ थोड़े से गणतन्त्र थे, जो उन राजतन्त्रात्मक राज्यों को एक प्रकार से आधिपत्य का स्वरूप प्रदान करते थे। कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, केस-पुत्त के कालाम, तथा कुसिनारा और पावा के मल्ल प्रसेनजित की अधिसत्ता स्वीकार करते थे।^६ इसी तरह हम देख चुके हैं कि संसुमारगिरि के भग्न वत्सराज

१. मज्झिमनिकाय, सुत्त सं० १।५।८।

२. वहीं, २।३।६।

३. वहीं, २।४।५।

४. घोष, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३।

५. वहीं, पृ० २४।

६. करोन्ति खो सक्खा रज्जे पसेनदिमिह कोसलं निपच्चकारं अभिवादनं पच्चु-पट्टानं अजलिकम्मं सामिचिकम्मं। दीधनिकाय, पाटेषो० भाग ३, पृ० ८३।

उदयन के अधीन थे^१ और बाद में उदयन का पुत्र संसुमारगिरि में प्रांतपति के रूप में शासन करने लगा था। सम्भवतः वैशाली के लिच्छवि भी मगधराज बिम्बिसार की अधीनता स्वीकार करते थे और उस स्वीकृति के फलस्वरूप ही लिच्छवि राजा चेटक ने अपनी पुत्री छलना^२ का विवाह बिम्बिसार से किया था।

उपरोक्त सभी साक्ष्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध के समकालीन सभी शक्तिशाली राजतन्त्र अपने सीमावर्ती कमजोर राजतन्त्रों और गणतन्त्रों पर अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील थे। इसी प्रयत्न में छोटे राज्यों के स्थान पर साम्राज्यों की स्थापना की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जिसमें कोसल और मगध दोनों का स्थान प्रारम्भ में प्रायः बराबरी का था। किन्तु बाद में मगध राज्य साम्राज्यवाद की दौड़ में आगे निकल गया और अजातशत्रु का समय आते-आते वह उत्तरी भारत की सबसे प्रमुख राजनैतिक शक्ति के रूप में उभर गया।

कोसल, मगध और वत्स जैसे बड़े-बड़े राज्य सम्भवतः कई-कई प्रान्तों में विभक्त थे। काशी राज्य को जब कोसल ने अपने में मिलाया तो वह बहुत दिनों तक उसके अधीन एक प्रान्त के रूप में बना रहा, जहाँ कोसलराज प्रसेनजित का कोई औरस भाई^३ शासन सम्भालता था। इसके अतिरिक्त प्रसेनजित के अधीन कुछ और भी सामन्तगण थे, जिनकी चर्चा हमें संयुक्तनिकाय^४ के पञ्चराज्यमुक्त में मिलती है। तदनुसार, एक बार प्रसेनजित पाँच राजाओं के साथ विचार-विमर्श कर रहा था। ये पाँचों राजा उसके सामन्त प्रतीत होते हैं, जो आन्तरिक रूप में अपने-अपने क्षेत्रों में तो स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे, किन्तु सभी बाह्य मामलों में वे प्रसेनजित के अधीन थे और उसकी अधिसत्ता पूरी तरह से स्वीकार करते थे। सेतव्या पर शासन करने वाला पायासिराज इनमें से एक प्रतीत होता है। इसी तरह उदयन का पुत्र संसुमारगिरि में प्रांतपति के रूप में स्थापित था।

किन्तु इन प्रान्तों का किन-किन अन्य छोटी प्राशासनिक इकाइयों में बँटवारा हुआ था, इसकी जानकारी हमें सुत्तपिटक से नहीं प्राप्त होती। प्रशासन में प्रमुख और सर्वोपरि स्थान राजा का होता था, जो बौद्ध साहित्य के अनुसार केवल राज्य का स्वामी ही नहीं था, अपितु उसका कार्य प्रजापालन और अपराधियों को दण्ड देना भी समझा जाता था।

१. पीछे देखिए, पृ० ११८।

२. पीछे देखिए, पृ० १०९।

३. पीछे देखिए, पृ० ९८-९९।

४. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० ७५।

बौद्ध साक्ष्यों में राजतन्त्रों और गणतन्त्रों, दोनों ही प्रकार के राज्यों के प्रशासन सम्बन्धी सिद्धान्तों की बातें कई जगह बिखरी पड़ी हुई हैं। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख बात राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी है। बौद्ध संघ गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित था, जिसमें लोकतन्त्र की भावनाएँ प्रचल थीं। सम्भवतः इसी पृष्ठभूमि में राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त दीघनिकाय के अगञ्जसुत्त^१ में हमें मिलता है। वहाँ जो विवरण दिया गया है, उसका संक्षेप में सार यही है कि शासनतन्त्र अथवा राज्य की उत्पत्ति एक समझौते के सिद्धान्त के अनुसार हुई। तदनुसार, सृष्टि के प्रारम्भ में सभी स्वयंप्रशासित थे और पृथ्वी का भोग आनन्दपूर्वक करते थे। किन्तु बाद में बुराईयाँ और अनैतिकताएँ उत्पन्न हो गयीं। परिणाम यह हुआ कि प्रकृति भी अपना गुण खोने लगी और उपज कम होने लगी तथा लोग एक दूसरे की सम्पत्ति चुराने लगे। झूठ, चोरी, वाद-विवाद और मारपीट बढ़ने लगी। इस स्थिति को दूर करने के लिए सभी ने आपस में विचार किया और अपने-अपने से एक सर्वसुन्दर, भले और योग्य व्यक्ति के पास पहुँचकर उन्होंने कहा “हे सत्त्व। उचित अनुचित का ठीक से अनुशासन करो, निन्दनीय कर्मों की निन्दा करो, उचित कर्मों को बतलाओ, निकालने योग्य को निकाल दो, हम तुम्हें शालि (धान) का भाग देंगे।” “बहुत अच्छा” कहकर उसने स्वीकार कर लिया, वह ठीक से उचित अनुचित का अनुशासन करता था, लोग उसे शालि का भाग देते थे, महाजनों द्वारा सम्मत होने से महासम्मत उसका नाम पड़ा, क्षेत्रों का अधिपति होने से वह क्षत्रिय कहलाया, जो उसका दूसरा नाम था। चूँकि वह धर्म से दूसरों का रञ्जन करता था, अतः राजा करके तीसरा नाम पड़ा।”^२

इससे स्पष्ट है कि बौद्धों के अनुसार प्रारम्भिक राजा चुनाव की पद्धति से लोगों द्वारा चुना गया और उस चुनाव के कारण ही वह महासम्मत अथवा महाजनसम्मत कहलाया। इस उल्लेख से यह साबित होता है कि जनता से कर के रूप में अन्न का भाग प्राप्त करने के बदले वह उनकी रक्षा करता था और उसके विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों के कारण उसके विभिन्न नाम पड़े, जैसे महासम्मत क्षत्रिय और राजा।

हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों से

१. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी प्रकाशन, सुत्त सं० ३/४, पृ० २४०-२४४।

२. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी प्रकाशन, पृ० २४४; रॉकहिल, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० ३-४।

उपर्युक्त सिद्धान्त को पूरी तरह तुलना नहीं की जा सकती। किन्तु महाभारत^१ जैसे ग्रन्थ में सृष्टि के आदि में किसी राजा का न होना, धर्म के द्वारा एक दूसरे का पूर्णतः पालन और बाद में इर्ष्या, मोह और लोभ की उत्पत्ति के कारण मास्यन्याय (अर्थात् जैसे पानी में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही शक्तिशाली कमजोरों को खा जाते हैं) की स्थिति के दो प्रारम्भिक क्रम अगञ्जसुत के राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण में समान रूप से मिलते हैं।^२

बौद्धकालीन राजतंत्रों के प्रशासकीय सिद्धान्त हिन्दू ग्रन्थों के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। मंत्रियों और ब्राह्मणों, रानियों, सन्यासियों और विद्वानों से परामर्श लेना राजा का कर्तव्य माना जाता था और अपने पथ से विमुख होने पर इन वर्गों के लोग राजा को अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग कर सकते थे। बुद्ध को एक जगह इसी प्रकार कोसलराज प्रसेनजित को सजग करते हुए दिखाया गया है।^३ एक बार प्रसेनजित ने अपने प्रशासकीय कार्यों में फँसे रहने के कारण बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होने में जब लम्बा व्यवधान डाल दिया तो बुद्ध ने उससे कहा— “महाराज! मेरे जैसे व्यक्ति की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, जो तुम्हें उपदेश दे सकते हैं। राजा को अपने सभी राजकीय कर्तव्यों की अच्छी देखरेख करनी चाहिए, और अपनी प्रजा के प्रति उनके माता-पिता की तरह व्यवहार करना चाहिए। कुमार्ग को छोड़कर उसे राजा के गुणों का त्याग नहीं करना चाहिए। जब वह सद्वृत्ति वाला होता है, तो उसके आसपास घेरे रहने वाले लोग भी सद्वृत्ति वाले होते हैं।”

राजा के क्या क्या गुण होने चाहिए, इसकी सूचना हमें एक जातक^४ से प्राप्त होती है। तदनुसार, उसे दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षांति और अविरोध जैसे गुणों से युक्त होना चाहिए।

सुत्तपिटक से यह ज्ञात होता है कि राजगद्दी सम्बन्धी उत्तराधिकार प्रायः वंशक्रमानुगत होता था और उसका मुख्य आधार जन्म की श्रेष्ठता होती थी। राजा:

१. नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न च दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजा सर्वाः रक्षन्तिऽस्म परस्परम् ॥ महाभारत, १२वाँ, ५९. १४ ॥

२. इस सम्बन्ध के विवेचन के लिए देखिए, दे० रा० भण्डारकर, सम् आस्पेक्ट्स ऑफ् ऐशियेट् हिन्दू पॉलिटि, पृ० १३० और आगे।

३. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ९५८।

४. दानं सीलं परिच्चागो अज्जवं मज्जवं तपम्।

अक्कोधम् अविहिंसा च खान्ति च अविरोधम् ॥ जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० २७४; अंगुत्तरनिकाय भी एक अच्छा राजा कैसा होना चाहिए, उसकी चर्चा करता है, देखिए, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० १०९।

का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। किन्तु ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य, दुराचारी अथवा किसी अन्य दृष्टि से अनुपयुक्त होने पर अमात्यगण उसकी जगह पर किसी दूसरे राजकुमार को भी गद्दी पर बैठा सकते थे तथा यदि उत्तराधिकारी अपनी योग्यता के बारे में आश्वस्त होता था तो उसे यह सिद्ध करना पड़ता था कि वह राज्यकार्य का संचालन करने में पूर्णरूपेण सक्षम है। इस तरह के अनेक उदाहरण जातकों से मिलते हैं। **गामणीचण्ड जातक**^१ के अनुसार जब वाराणसी के राजा जरासन्ध की मृत्यु हो गयी तो अमात्यों ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत छोटी है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिए। परन्तु फिर उन्होंने विचार किया कि राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पूर्व कुमार की परीक्षा अनिवार्य है। अतः वे उसे न्यायालय (विनिश्चयस्थान) पर ले गये और उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा लेकर तथा उसे राजा बनाने के योग्य पाकर उन्होंने उसे उक्त पद दिया। **पादञ्जलि जातक**^२ से ज्ञात होता है कि अमात्यों ने वाराणसी के ज्येष्ठ राजकुमार पादञ्जलि की मूर्खता के कारण उसे राजा न होने दिया और किसी अन्य को राजा बनाने का निश्चय किया। **सिवि जातक**^३ के अनुसार शरीर से अयोग्य होने पर राजा को गद्दी से हटा दिया जाता था। ये संदर्भ राजा के चुनाव की पुरानी परिपाटी के बौद्धकालीन उदाहरण माने जा सकते हैं।

हम ऊपर देख चुके हैं कि सामान्यतः राजा का जेठा पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। परन्तु यदि राजा को कोई सन्तान नहीं हो तो राजगद्दी राजा के भाई को प्राप्त हो सकती थी। कभी-कभी राजा की विधवा रानी भी मन्त्रियों की सहायता से राज्य का संचालन करती थी। उदय जातक^४ से पता चलता है कि राजा की मृत्यु के बाद उसकी रानी उदयभद्रा ने मन्त्रियों की सहायता से शासन किया। इसी प्रकार **घट जातक** में भी एक स्त्री के शासन करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

सुत्तपिटक और उसकी टीकाओं से अनेक पितृघाती^५ राजाओं की जानकारी प्राप्त होती है। अजातशत्रु इसका सबसे बड़ा उदाहरण था, जिसने अपने पिता

१. हिन्दी अनुवाद, जिल्द ३, पृ० २६ और आगे।
२. जातक संख्या २४७, जिल्द २, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४७२।
३. वही, सं० ४९९, जिल्द ४, पृ० ६१६।
४. जातक, हिन्दी अनुवाद, सं० ४५८, जिल्द ४, पृ० ३०७।
५. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द, १, पृ० १३३-१३६; पेतवत्थुअट्टकथा, पाटेसो०, पृ० १०५; विनयवितक, २/१९०; डिपापाने०, जि० १, पृ० ३१-३५।

बिम्बिसार को मारकर गद्दी हथिया ली थी। उसी के उदाहरण की नकल करते हुए उसके पुत्र उदायीभद्र ने भी उसे मारकर गद्दी हथिया ली।^१ ब्रह्मदत्त नामक काशी के एक राजकुमार ने भी अपने पिता को मारकर स्वयं को राजा घोषित कर दिया था।

राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली में राजा के कुछ केन्द्रीय अधिकारियों के बारे में भी सुत्तपिटक से सूचनायें प्राप्त होती हैं। कोसल और मगध जैसे बड़े-बड़े राजतंत्रों में राजा की सहायता के लिए मंत्रिमण्डल हुआ करते थे, जिनमें अनेक मंत्री होते थे। इन्हें अमात्य अथवा महामात्य कहते थे। प्रसेनजित के मंत्रियों में श्रीवद्ध (श्रीवर्ध) आरोहन्त, उग्ग (उग्र), मृगधर, काल, जुन्ह और संतति के नाम प्राप्त होते^२ हैं। प्रसेनजित का एक मंत्री दत्त भी था, जो बाद में बौद्ध भिक्षु हो गया था। राजा इन मंत्रियों का बड़ा आदर करता था। एक जैन अनुश्रुति^३ के अनुसार प्रसेनजित तब तक कोई नया काम नहीं करता था, जब तक वह श्रीवर्ध और मृगधर नामक अपने मंत्रियों से परामर्श नहीं कर लेता था। राज्य का बढ़िया शासन मंत्रियों की ईमानदारी और उनकी कार्यकुशलता पर निर्भर करता था। इन मंत्रियों में कभी-कभी कुछ ऐसे भी होते थे, जो कूटनीतिक दूतों का काम करते थे। मगध के शासक अजातशत्रु के सुनीध और वस्सकार नामक दो ब्राह्मण मंत्री इस सम्बन्ध में उल्लिखित किए जा सकते हैं। महापरिनिब्बानसुत्त^४ से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने स्वामी की आज्ञा से वज्जि-विजय के सम्बन्ध में बुद्ध की राय जाननी चाही थी। बाद में अजातशत्रु से एक कृतक कलह के पश्चात् वज्जियों की सेवा में जाकर तथा उनमें फूट डालकर अजातशत्रु की उनपर विजय कराने में वे सफल हुए थे।

इन केन्द्रीय अधिकारियों विशेषतः मंत्रियों को, अमात्य कहा जाता था, जो राजा के मर जाने पर कभी-कभी शासन कार्य भी चलाते थे तथा यह भी निश्चय करते थे कि अगला राजा कौन होगा।^५

बंधुल और दीर्घकारायण प्रसेनजित के बारी-बारी से सेनापति रह चुके थे।

१. पीछे देखिए, पृ० ११०।

२. डिपापाने०, जिल्द १, पृ० २८८; जिल्द २, पृ० १०२३; म० नि० वाहीतिकमुत्त।

३. हॉर्नले, उवासगदसाओ, द्वितीय, परिशिष्ट, पृ० ५६; मज्झिमनिकाय, पाटोसी०, जिल्द २, पृ० २१२।

४. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ११८-११९।

५. पादञ्जलि जातक, सं० २४७, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४७२।

ये सेनापति शांति काल में न्याय-वितरण का भी काम देखते थे।^१ भद्रसाल जातक (सं० ४६५) की वर्तमान कथा से ज्ञात होता है कि एक बार प्रसेनजित के एक भ्रष्ट न्यायाधीश ने एक मुकदमे का गलत निर्णय कर दिया। उस मुकदमे की अपील उसके सेनापति बंधुल के न्यायालय में की गयी। उसने उस वाद का फिर से ठीक से निपटारा किया। परिणामस्वरूप नियमित रूप से काम करने वाले तथा पहले उस मुकदमे का गलत ढंग से निपटारा करने वाले न्यायाधीशों ने बंधुल के विरुद्ध प्रसेनजित के कान भरना शुरू कर दिया और उसे अपने पद से हटवा दिया।

सेनापति सेना का प्रधान होता था, जिसमें हस्तिसेना (हथ्यारोहा), अश्वारोही (अस्सारोहा), रथिक (रथिका) और पदाति नामक चार अंग होते थे। सेना के अभ्यास में नकली युद्ध, हाजिरी, परेड, गलियों से होकर रूटमार्च आदि सम्मिलित थे। यद्यपि क्षत्रिय लोग सैनिक कला में सर्वाधिक दक्ष होते थे, अन्य वर्णों के लोग भी सेना में सम्मिलित किये जाते थे। सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी लड़ने की जीविका (योधाजीवा) अपनाते थे। बनारस के एक राजा के पुरोहित का पुत्र धनुर्विद्या में निपुण होने के कारण उस राजा का सेनापति नियुक्त किया गया था।^२

इसी प्रकार स्थपति, महाउत, कंचुकि, अग्गासानिय अर्थात् मूल्यनियामक और भाण्डागारिक अर्थात् कोषाधिकारी नामक प्रसेनजित के अन्य प्राशासनिक अधिकारियों की चर्चाएँ प्राप्त होती हैं।^३ प्रायः प्रत्येक राजा के पुरोहित हुआ करते थे, जिनका अमात्यों के बाद सबसे प्रमुख स्थान होता था। तिलमुष्टि जातक^४ से ज्ञात होता है कि राजा अपने पुरोहित का वैसे ही अनुसरण करते थे, जैसे कि पुत्र अपने पिता का करता है। राजा और पुरोहित आपस में सखाभाव रखते थे और कभी-कभी एक साथ जुआ भी खेलते थे।^५ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजकीय लोगों में पुरोहित का स्थान मुख्य माना जाता था।^६ पुरोहित का मुख्य कार्य राजा को भौतिक और आध्यात्मिक विषयों पर परामर्श देना था। इसी कारण उसे अर्थ-धर्मशासक कहा जाता था।^७ वह प्रायः राजा का आचार्य अर्थात् गुरु भी होता।

१. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द २, पृ० १८६।
२. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ५, पृ० १२७ और आगे।
३. वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २२३-२२५।
४. हिन्दी अनुवाद, सं० २५२, जिल्द ३, पृ० ११।
५. पुरोहितेन सद्धि जूतं क्रीडति। जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० २८०।
६. वहीं, जिल्द १, पृ० ४३९।
७. वि० च० लाहा, इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, भाग २, पृ० ६१।

था और कभी-कभी उसे न्यायिक कार्य भी करने पड़ते थे।^१ पुरोहित की नियुक्ति प्रायः राजा के सहपाठियों, अध्यापकों, सखाओं अथवा क्रीडासखाओं में से की जाती थी। कभी-कभी पुरोहित वंशानुगत रूप में कई-कई पुस्तों तक अपने पद पर बने रहते^२ थे। महाकोसल और प्रसेनजित के पुरोहित अग्निदत्त^३ और राजा रेणु के पुरोहित गोविन्द की जानकारी हमें प्राप्त होती है। विनिश्चयमहामात्र न्याय सम्बन्धी अधिकारी हुआ करते थे, जो राजा को धर्म तथा विधि सम्बन्धी मामलों में परामर्श दिया करते थे।^४ एक जातक के अनुसार इनकी संख्या पाँच हुआ करती थी।^५

बौद्ध कालीन राजतंत्रों में, गणतंत्रों की भाँति ही, न्याय वितरण सम्बन्धी प्रणाली बहुत ही अधिक विकसित थी और बड़े से बड़ा व्यक्ति भी न्याय के चंगुल से मुक्त नहीं हो सकता था। राजोवाद जातक^६ में तो यहाँ तक कहा गया है कि काशी राज्य में शासन का साधारण जन के प्रति व्यवहार इतना अधिक न्याययुक्त था कि वहाँ कभी भी कोई मुकदमा अदालत में उपस्थित नहीं होता था। न्याय-भावना की प्रबलता का एक अन्य प्रभाग विनयपिटक^७ से प्राप्त होता है। तदनुसार, जब श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक नामक गृहपति (वैश्य) ने भगवान् बुद्ध को श्रावस्ती में एक ऐसा विहार बनवाकर दान देने का निश्चय किया जो नगर से न अति दूर हो, न बहुत ही करीब हो, जो न तो अत्यन्त जनसंकुल हो, न अत्यन्त एकान्त में हो आदि, तो उसकी दृष्टि जेत नामक राजकुमार के एक बगीचे पर पड़ी, जो जेतवन

-
१. जातक, फॉलबॉल, जिल्द १, पृ० २७८; जिल्द २, पृ० १८७ और आगे; जिल्द ३, पृ० ३१।
 २. जातक, फॉलबॉल, जिल्द १, पृ० ४३७; दीघनिकाय, पाटेंसो०, जिल्द २, पृ० २३० और आगे; अंगुत्तरनिकाय, पाटेंसो०, जिल्द ३, पृ० ३७३; वि० च० लाहा, इण्डिया ऐज् डिस्क्राइब्ड् इन् अर्ली टेक्स्ट्स् ऑफ् बुद्धिज्म ऐण्ड जैनिज्म, पृ० १५७।
 ३. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेंसो०, जिल्द २, पृ० २४१ और आगे; डिपापाने०, जिल्द १, पृ० १२; दीघनिकाय, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग २, पृ० १६९ और १८४।
 ४. जातक, फॉलबॉल संस्करण, जिल्द २, पृ० २८०; जिल्द ६, पृ० १०५।
 ५. वस्स पंचरञ्जो पञ्च अमच्चा..... विनिच्चये नियुत्ता। जातक, फॉलबॉल, जिल्द ५, पृ० २२८।
 ६. जातक, हिन्दी अनुवाद, सं० १५१, जिल्द २, पृष्ठ १६३।
 ७. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ४६१-४६२।

कहलाता था। अनाथपिण्डिक ने जेत राजकुमार से वह बगीचा अपने हाथों बेच देने को कहा। किन्तु राजकुमार को बगीचा अत्यन्त अधिक प्रिय था। बगीचे को बेचना नकारते हुए राजकुमार ने अनाथपिण्डिक से यह कह दिया कि यदि सोने की मुहरों से भी बगीचा पाट दिया जाय तो वह विक नहीं सकता। अनाथपिण्डिक ने तुरन्त कहा—हे राजकुमार ! तुमने बगीचे के लिए एक काल्पनिक मूल्य बताकर बगीचे को बेचना स्वीकार कर लिया है और अब तुम इससे मुकर नहीं सकते। अन्ततः वह जेत राजकुमार को विनिश्चयमहामात्र नामक उन न्यायाधीशों की अदालत में वाद करते हुए ले गया, जो बोहारिक अथवा व्यावहारिक भी कहलाते थे। इन व्यावहारिकों ने निर्णय दिया कि जेत राजकुमार ने बगीचे के लिए एक बहुत बड़े मूल्य की कल्पना करके अपने को अनाथपिण्डिक के हाथों में डाल दिया है और यदि वह गृहपति उस काल्पनिक मूल्य को दे सके, अर्थात् जेतवन को सोने की मूद्राओं से पाट दे, तो वह उसका हो जायगा। बेचारे जेत राजकुमार को यह निर्णय स्वीकार करना पड़ा। इससे उस समय की न्याय-पद्धति की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। भरी हुई वैलगाड़ी पर लायी हुई सोने की मुहरों से जेतवन का पाटा जाना, उदास खड़े हुए जेत राजकुमार का चित्र और अनाथपिण्डिक द्वारा बुद्ध को दिया जाता हुआ बगीचे का दान भरहुत स्तूप पर बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अन्यान्य चित्रों के रूप में एक स्थान पर उत्खचित है।

बौद्ध काल में न्याय पूर्णतया उचित और निष्पक्ष होता था। किन्तु दण्ड बड़े ही कठोर दिये जाते थे। कुछ जातकों से हमें इसके बारे में पता चलता है। मज्झिमनिकाय के महादुक्खसुत्त^१ में स्वयं भगवान् बुद्ध ने १२ प्रकार के अत्यन्त कठोर दण्डों का विधान बतलाया है।

बौद्धकालीन राजतंत्रों के पूरे भूक्षेत्रों के दो विभाग होते थे—पहला पुर जिसे राजधानी कहते थे और दूसरा जनपद। जनपद के अन्तर्गत सभी गाँव आते थे। इन गाँवों की चर्चियें हमें सुत्तपिटक में अनेक स्थलों पर मिलती हैं। विनयपिटक^२ में हमें विम्बिसार के राज्य में अस्सी हजार गाँवों का उल्लेख मिलता है। इनके प्रधान ग्रामिक अथवा ग्रामभोजक हुआ करते थे, जिनकी नियुक्ति सम्भवतः राजा की ओर से हुआ करती थी। ये अधिकारी ग्राम और केन्द्र के बीच की कड़ी होते

१. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ५५-५६। ये दण्ड आजकल की दृष्टि से पूर्णतः अमानुषिक थे और उन्हें दिव्य दण्डों की कोटि में रखा जा सकता है।

२. पाटोसो, जिल्द १, पृ० १८९; जिल्द २, पृ० १।

थे और ग्राम सम्बन्धी सारा शासन-संचालन वे ही करते थे । उन्हें न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे । वे शराबखोरी और पशुहिंसा को भी नियन्त्रित करते थे ।^१ किन्तु ये सारे कार्य उन्हें ग्रामवासियों की अनुमति से ही करने होते थे । पानीय जातक^२ के अनुसार एक ग्रामभोजक को अपनी पशुहिंसा और शराबबन्दी सम्बन्धी आज्ञायें वापस लेनी पड़ी थीं ।



१. पानीय जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ३१६ ।

२. वही ।

पञ्चम अध्याय

गणतंत्रात्मक राज्य और उनकी शासन प्रणाली

मुत्तपिटक से पूर्वोत्तर भारत में अनेक गणतंत्रों की स्थिति की जानकारी होती है। उन गणतंत्रों में सबसे मुख्य थे—कपिलवस्तु के शाक्य और वैशाली के लिच्छवि। किन्तु इनके अतिरिक्त रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, कुसिनारा और पावा के मल्ल, संसुमारगिरि के भग्ग अथवा भग्ग्य और अल्लकप्प के बुलिय भी गणतंत्रात्मक ही थे। इन सभी प्रसिद्ध गणतंत्रों की चर्चा हम आगे करेंगे। वस्तुतः, इनकी जानकारी प्राप्त करने के सारे स्रोत मुख्यतया बौद्ध ग्रन्थ ही हैं।

शाक्य

शाक्यों की चर्चा दीघनिकाय के अम्बष्ठसुत्त^१ और महापरिनिब्बानसुत्त^२ में मुख्य रूप से आती है। पालि ग्रन्थों की टीकाओं में चर्चाएँ और भी अधिक मिलती हैं। महापरिनिब्बानसुत्त में कहा गया है कि वैशाली के लिच्छवियों, अल्लकप्प के बुलियों, रामग्राम के कोलियों, पिप्पलिवन के मोरियों और पावा के मल्लों की तरह कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी कुसिनारा के मल्लों के पास इस संदेश के साथ एक दूत भेजा कि भगवान् बुद्ध उन्हीं के वंश के थे, अतः उनके अस्थि अवशेष स्तूप-निर्माण के लिए उन्हें मिलने चाहिए। इन सभी स्थानों पर शाक्य शब्द बहुवचनान्त रूप में प्रयुक्त हुआ है और उसे गण अथवा संघ कहा गया है। अतः देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर^३ और उ० ना० घोषाल^४ का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि शाक्य

१. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३४-३६।
२. भगवा अम्हाकं जातिसेट्ठो मयम्पि अरहम भगवतो सरीरानं भागं, मयंपि भगवतो सरीरानं धूपं च महं च करिस्सामा। दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १२७।
३. कामाङ्किल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० १६१-६२।
४. इहिव्वा०, १९४५, जिल्द २१, पृ० १ और आगे; स्टडीज् इन् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, पृ० ३९५ और आगे।

जनपद एक गणतंत्र न होकर राजतंत्र था।^१ लिच्छवि राजाओं की तरह शाक्यों का राजा भी शाक्य गणतंत्र के अन्य लोगों द्वारा गण का प्रधान चुना जाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन^२ अथवा भदिय^३ अपने-अपने समय शाक्य गणतंत्र के प्रधान रह चुके थे। उनके नामों के साथ कई स्थानों पर 'राजा' शब्द लगा होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन विशेष अवसरों पर वे शाक्य गण के प्रधान थे।

दीघनिकाय^४ में शाक्यों की उत्पत्ति सूर्यवंशीय राजा इक्ष्वाकु से बतायी गयी है। वहाँ कहा गया है कि इक्ष्वाकु के कुछ वंशज अपने पिता के द्वारा राज्य से निकाल दिये जाने पर हिमालय की तलहटियों में चले गये और वहाँ की एक झील के किनारे शाकवन में उन्होंने अपना एक नगर बसा लिया। उनकी इस सामर्थ्य या शक्यता के कारण ही उन्हें शाक्य कहा^५ गया। **दीघनिकाय** की टीका **सुमंगलविलासिनी**^६ में इस कथा को और बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है। तदनुसार, कपिल नामक ब्राह्मण ऋषि ने इन इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों को अपने आश्रम के पास ही एक नगर बसाने का परामर्श दिया और उसके नाम पर उस नगर का नाम कपिलवस्तु पड़ा। सिंहली ग्रन्थ **महावस्तु**^७ में औक्काक अथवा इक्ष्वाकु से शाक्यों की वंशावली बड़े विस्तार से जोड़ी गयी है। पुराणों से प्राप्त सूर्यवंशी वंशावली के मान्धाता, सगर, भगीरथ, दिलीप, अज, दशरथ और राम जैसे बड़े-बड़े

१. इस सम्बन्ध के पूरे विचारों के लिए देखिये, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृ० २४७ और आगे।
२. जातक सं० ४४७ की वर्तमान कथा; महापदानसुत्त, दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० ९७; ललितविस्तर, पृ० ११२-११५। लेफमानु द्वारा संपादित।
३. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो० भाग १, पृ० १३३ और आगे; विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, ७/३/१ और आगे।
४. बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग १, पृ० ३।
५. सक्का वत भो कुमार परमसक्का वत भो कुमार'ति। वहीं, पृ० १०४; सुत्तनिपात, टीका, पाटेसो०, भाग १, पृ० ३५२; रॉकहिल, लाइफ ऑफ़ बुद्ध, पृ० २७।
६. पाटेसो०, भाग १, पृ० २५८-२६०।
७. महावंश, द्वितीय, पृ० १२४।
८. विष्णुपुराण, भाग ४, अध्याय २२।

राजाओं के नाम भी बौद्ध ग्रन्थों में आते हैं। इससे यह निश्चित है कि शाक्य इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे और शाकवन अथवा शालवन में बसे होने के कारण शाक्य कहलाये। सुत्तनिपात^१ में उन्हें आदित्य गोत्र दिया गया है। कुणाल जातक (सं० ५३६) की वर्तमान कथा में शाक्यों की उत्पत्ति भाई-बहिनों के आपसी विवाह अथवा रामग्राम के कोलियों से विवाह द्वारा बतायी गयी है। सम्भव है कि पहाड़ियों में बसे होने के कारण उनमें प्रारंभ में सपिण्ड और सगोत्र विवाह होते रहे हों। किन्तु भगवान् बुद्ध का समय आते-आते उनमें यह प्रथा समाप्त हो चुकी थी और शाक्य राजकुमारों के विवाह मुख्य रूप से रामग्राम की कोलिय राजकुमारियों से होने लगे थे। तथापि उनमें सगोत्र विवाह की प्राचीन स्मृतियाँ बुद्ध-युग तक बनी हुई थीं और जब कोसलराज प्रसेनजित ने एक शाक्य राजकुमारी से विवाह करना चाहा तो इसे अपनी अप्रतिष्ठा मानकर शाक्यों ने धोखे से वासभखत्तिया नामक एक दासीपुत्री को उसकी रानी के रूप में भेंट दिया। यह छद्म अन्त में उनके विनाश का कारण बना।^२ तिब्बती अनुश्रुतियों में यह कथा कुछ दूसरे रूप में दी गयी है। वहाँ मल्लिका को ही वासभखत्तिया की जगह पर रखा गया है, जो प्रसेनजित की एक अन्य रानी थी। चूँकि मल्लिका वहाँ महानाम की दासी-पुत्री बतायी गयी है, यह स्पष्ट है कि तिब्बती अनुश्रुति भी कुणाल जातक की कथा की ओर ही निर्देश करती है।^३ शाक्यों में भाई-बहिन के विवाह की प्रचलित प्राचीन परिपाटी के कारण टॉमस् और विण्सेण्ट स्मिथ^४ जैसे कुछ अंग्रेज विद्वानों ने उन्हें मंगोल रक्त का माना है। किन्तु सारा बौद्ध साहित्य उन्हें इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय ठहराता है। महावस्तु^५ में उन्हें आदित्यबन्धु कहा

१. उज्जुं जनपदो राजा हिमवत्तस्स पस्सतो ।

धनविरियेन संपन्नो कोसलेसु निकेतिनो ॥

आदिच्चा नाम गोतेन साकिया नाम जातिया । —सुत्तनिपात, ३। १।

१८-१९।

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, भद्रसाल जातक, सं० ४६५ की वर्तमान कथा ।

३. रॉकहिल्, दि लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० ७०--७७ ।

४. थॉमस्, दि लाइफ् ऑफ् दि बुद्ध, तृतीय संस्करण, पृ० २३; का० प्र० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ० १७७ पर विण्सेण्ट स्मिथ का उद्धरण ।

५. सेनार्ट द्वारा सम्पादित, जिल्द २, पृ० ३०३ ।

गया है। महापरिनिब्बानसुत्त^१ में वे अपने को स्पष्टतः क्षत्रिय कहते हैं। क्षत्रिय होने के कारण ही उनका गौतम गोत्र था। भगवान् बुद्ध भी प्रारम्भ में गौतम नाम से ही प्रसिद्ध हुए।

शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु की पहचान के बारे में अब तक निश्चितता नहीं हो पायी थी। अब तक प्रायः इसे नेपाल में स्थित तिलौराकोट से मिलाया जाता था।^२ किन्तु इधर वस्ती जिले में पिपरहवा नामक स्थान की खुदाई से प्राप्त अभिलेखों से यह पता चला है कि पिपरहवा ही प्राचीन कपिलवस्तु^३ है। बहुत पहले फ्लीट, कनिंघम् और स्मिथ जैसे विदेशी पुरातत्त्वविदों ने अनुमान से ही पिपरहवा को कपिलवस्तु माना था।^४ इस प्रकार आधुनिक खुदाइयों से उनका अनुमान सही उतरा है।

शाक्य जनपद में कपिलवस्तु के अतिरिक्त चातुमा, सामग्राम, उलुम्प, देवदह, सक्कर, सालावती और खोमदुस्स नामक अनेक नगरों की चर्चाएँ आती हैं।^५ खोमदुस्स नगर का नाम इस नाते पड़ा कि वहाँ बहुत अच्छा मलमल अथवा दुस्सा (दुस्सा=धुस्सा=कम्बल) तैयार होता^६ था।

अंगुत्तरनिकाय^७ में कपिलवस्तु के शाक्य अपने समय के सोलह महाजनपदों में एक गिनाये गये हैं। किन्तु शुद्धोदन के पूर्व उनके इतिहास की बहुत विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती। शुद्धोदन शाक्य गण के राजा अर्थात् गणप्रमुख थे और उनके बाद भद्रिय उस पद पर प्रतिष्ठित हुआ। शाक्यगण की महत्ता उसमें भगवान् बुद्ध के पैदा होने के कारण बहुत बढ़

१. भगवा 'पि खत्तियो, दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, जिल्द २, पृ० १२७।
२. रीज्डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १२, १३; लाहा, हिस्टोरिकल् ज्याग्रफी ऑफ् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० ९०; रा० व० पाण्डेय; गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ६२।
३. कपिलवस्तु इन वस्ती डिस्ट्रिक्ट ऑफ् यू० पी, श्रीवास्तव, के० एम्० पृ० १
४. जराएसो०, १९०६ पृ० १८०; कनिंघम्, ऐं० ज्याग्रफी, पृ० ७११-१२; स्मिथ, आसरि०, इम्पीरियल् सीरीज. जिल्द २६, भाग १।
५. कैम्ब्रिज् हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १७५।
६. दि बुक ऑफ् किण्ड्रेड् सेइंग्स, भाग १, पृ० २३३।
७. अंगुत्तरनिकाय. पाटेसो०, जिल्द १. पृ० २१३; जिल्द ४, पृ० २५२-२५६. २६०।

गयी। किन्तु भगवान् बुद्ध संबंधी विवरणों के अतिरिक्त प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में शाक्य गणतंत्र का बहुत उल्लेख नहीं मिलता। जातकों से इस गणतंत्र के कोसलराज विडूडभ के हाथों क्रूर विनाश की जानकारी मात्र प्राप्त होती है। भद्रदसाल जातक (सं० ४६५) के अनुसार कोसलराज प्रसेनजित ने एक शाक्य राजकुमारी के साथ विवाह करके बुद्ध भगवान् से आत्मीयता स्थापित करनी चाही। इस संदेश को पाकर शाक्य लोग अपने संस्थागार में इकट्ठे हुए और उन्होंने विचार किया कि हम लोग कोसल के राजा के अधिकार क्षेत्र के भीतर रहते हैं। अतः अगर हम अपनी कन्या को भेजना अस्वीकार करते हैं तो वह बड़ा क्रुद्ध होगा और यदि कन्या देते हैं तो हमारे कुल की परम्परा नष्ट होगी। कुछ विचार के बाद महानाम नामक प्रमुख शाक्य की राय से उन्होंने वासभखत्तिया नामक दासी-पुत्री को धोखे से प्रसेनजित की रानी के रूप में भेज दिया। वासभखत्तिया से प्रसेनजित को विडूडभ नामक पुत्र हुआ, जो बड़ा होकर अपनी माँ को इस बात के लिए प्रेरित करने लगा कि वह उसको ननिहाल ले जाय। किन्तु कहीं रहस्य खुल न जाय, इस भय से वासभखत्तिया ने विडूडभ के ननिहाल जाने के पहले ही शाक्यों के पास सूचना भेज दी। शाक्य राजधानी की एक अतिथिशाला में उसका बड़ा आदर-सत्कार किया गया। किन्तु यह दैवसंयोग ही था कि जब विडूडभ अपने साथियों के साथ वहाँ से वापस चला तो उसके एक सैनिक की तलवार वहाँ छूट गयी। उसको लेने के लिए जब वह सैनिक उपर्युक्त अतिथिशाला में लौटा तो उसने देखा कि एक दासी उस आसन को दूध से धो रही थी, जिसपर विडूडभ बैठा था। वह यह भी कहती जा रही थी कि यहाँ दासी-पुत्र बैठा था। अन्ततः विडूडभ और प्रसेनजित को यह ज्ञात हो गया कि शाक्यों ने एक दासी-पुत्री वासभखत्तिया को प्रसेनजित की रानी के रूप में भेजकर उसे धोखा दिया था। अपने अनादर से अप्रसन्न होकर विडूडभ ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि शाक्यों ने उसके बैठने के आसन को दूध से धोकर पवित्र किया है तो वह उनके राज्य को उनके खून से धोकर उसका बदला लेगा।

भद्रदसाल जातक की आगे की कथा यह है कि राजा होने पर विडूडभ ने सबसे पहले शाक्यों पर चढ़ाई का निश्चय किया। कहा गया है कि आक्रमण की तैयारी के साथ जब वह शाक्यों के विरुद्ध चला तो रास्ते में भगवान् बुद्ध शाक्य-सीमा के भीतर स्थित एक सूखे पेड़ के नीचे बैठे हुए मिले। विडूडभ ने पूछा—भगवन् ! जब पास ही एक हरा-भरा वृक्ष है, तब आप

इस सुखे वृक्ष के नीचे क्यों बैठे हैं ! वास्तव में यह हरा-भरा पेड़ कोसल राज्य की सीमा में स्थित था। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जाति-बान्धवों की छाया ही सबसे बड़ी छाया होती है^१ और जब वे ही खतरे में पड़े हों तो उन्हें (बुद्ध को) दूसरी कौन सी छाया प्राप्त हो सकती है ? विडूडभ ने उनका तात्पर्य समझकर शाक्यों पर आक्रमण से अपने को विरत कर लिया। दूसरी बार भी उसके आक्रमण के समय बुद्ध ने वैसा ही किया और वह पुनः वापस लौट गया। किन्तु जब तीसरी बार भी उसने आक्रमण की तैयारी कर दी तो बुद्ध ने यह कहते हुए अपना हस्तक्षेप बन्द कर दिया कि शाक्यों को अपने कर्मों का भोग भोगना ही होगा। हमे यह ज्ञात होता है कि विडूडभ ने उनपर आक्रमण करके उनका पूरी तरह संहार कर डाला। चीनी यात्री श्वान्-च्वांग् का यहाँ तक कथन है कि उसने नौ करोड़ नित्यानवे लाख शाक्यों का वध किया। वह यह भी कहता है कि उसने लगभग एक हजार शाक्य राजकुमारियों को काटकर एक गड्ढे में डाल दिया।^२ किन्तु मारे जाने वाले शाक्यों की यह संख्या अतिरंजित ही है। मलालशेखर^३ ने अवदानकल्पलता और दुल्व का उद्धरण देते हुए कहा है कि सत्तर हजार, अथवा सतहत्तर हजार ही शाक्य मारे गये। सभी विवरणों से ज्ञात होता है कि विडूडभ ने शाक्य राजकुमारियों को अपने रनिवास में सम्मिलित होने को विवश करना चाहा, किन्तु इसमें वह पूरी तरह असफल रहा। शाक्यों ने आक्रमण के समय इस बात पर विचार किया था कि वे युद्ध करें अथवा नहीं और अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि वे आत्मसमर्पण कर दें।^४ विडूडभ का सबसे बड़ा क्रोध महानाम नाम के शाक्य के प्रति था, जिसे उसने कैद करके कारागार में डाल दिया। महानाम ने ही वासभखत्तिया को प्रसेनजित की रानी के रूप में भेजने में धूर्तता की थी और उस हेतु प्रसेनजित के दूतों के सामने एक ही थाली में वासभखत्तिया के साथ भोजन करने का स्वांग रचा था। अतः विडूडभ ने महानाम को अपनी थाली में एक साथ खाने को विवश करना चाहा।

१. मलालशेखर. डिपापाने०. जिल्द २. पृ० ८७६।

२. टॉमस्, वाटर्स, ऑन युआन्च्वाङ्ग्स् टैबेल्स् इन् इण्डिया, भाग १, पृ० ३९५ और आगे; भाग २, पृ० ८-९।

३. डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ८७६-८७७; राँकहिल्. लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० १२६।

४. वही।

किन्तु महानाम ने भोजन के पूर्व एक झील में स्नान करने के बहाने अपने को डुबोकर आत्महत्या कर ली और इस प्रकार विडूडभ को उससे व्यक्तिगत बदला लेने का मौका नहीं मिला^१।

भट्टसाल जातक की शाक्यों के विनाश सम्बन्धी इस कथा से तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत की राजनैतिक गतिविधियों का पता चलता है। शाक्यों के विनाश के माध्यम से विडूडभ की इच्छा व्यक्तिगत बदला लेने की तो रही ही होगी, किन्तु साथ ही, गणतंत्रों का नाश करके कोसल राजतंत्र का प्रभाव और राज्यसीमा बढ़ाना भी उसका उद्देश्य रहा होगा। यह प्रवृत्ति उस समय के राजनैतिक वातावरण में मुख्य रूप से विद्यमान थी। विडूडभ का समकालीन मगधराज अजातशत्रु भी वैशाली के लिच्छवियों की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील था, यह हम पीछे देख चुके हैं।^२

शाक्य गणतंत्र की शासन प्रणाली

शाक्य गणतंत्र का अन्य गणतंत्रों की तरह ही एक निश्चित संविधान था और उसकी एक निश्चित शासन पद्धति थी। उसकी एक केन्द्रीय सभा थी, जिसे वे **संस्थागार** कहते थे।^३ ऐसे **संस्थागार** शाक्य जनपद के अन्य नगरों में भी हुआ करते थे, जहाँ राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विषयों पर निर्णय लिये जाते थे। **ललितविस्तर** के अनुसार शुद्धोदन को जब सिद्धार्थ की उत्पत्ति हुई तो सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण और उसके भविष्य-निर्माण के पथ को निश्चित करने के लिए शाक्य राजाओं की कपिलवस्तु के संस्थागार में एक बैठक हुई।^४ इसी प्रकार चर्चा आती है कि छोटे नगरों के संस्थागारों में भी धार्मिक चर्चाएँ होती थीं।^५ कपिलवस्तु में जब एक बार बुद्ध निवास कर रहे थे तो उनके निवास स्थान निग्रोधाराम के पास ही शाक्यों ने एक नया संस्थागार बनवाया।^६ **ललितविस्तर** के

१. देखिए, मलालशेखर, डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ८७७।

२. देखिए, पीछे पृ० ११२-११३।

३. रीज्डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २०।

४. ललितविस्तर, लेफमान् द्वारा सम्पादित।

५. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जि० १, पृ० ३५३ और आगे; संयुत्तनिकाय, पाटेसो जि० ४, पृ० १८२ और आगे; बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९।

६. लेफमान् द्वारा सम्पादित, पृ० १३६-१३७।

अनुसार कपिलवस्तु के संस्थागार में पाँच सौ शाक्य राजा उपस्थित होते थे। ये राजा अर्थात् संस्थागार के सदस्य, जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते थे। अम्बष्ठ नामक ब्राह्मण भी एक बार इस संस्थागार में उपस्थित हुआ था।^१ भद्रसाल जातक से ज्ञात होता है कि जब विडूडभ ने शाक्य जनपद पर आक्रमण किया तो उन्होंने अपने संस्थागार में इकट्ठे होकर इस बात पर विचार किया कि उस आक्रमण के सम्बन्ध में क्या किया जाय। जातकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शाक्य गणतंत्र के केन्द्रीय संस्थागार में सम्मिलित होने वाले सभी सदस्य 'राजा' कहलाते थे। किन्तु इस बात की हमें कोई जानकारी नहीं मिलती कि संस्थागार के अध्यक्ष अथवा गणमुख्य अथवा सदस्य राजाओं का चुनाव किस प्रकार होता था अथवा कितने दिनों के लिए होता था। एक जातक^२ से शाक्य गणतंत्र में उपराजाओं के होने का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके आधार पर र० चं० मजूमदार^३ ने यह अनुमान लगाया है कि लिच्छवि राजाओं की तरह शाक्य राजा भी छोटी-छोटी प्रशासकीय इकाईयों के प्रधान हुआ करते थे। इस प्रकार बौद्ध साहित्य के संदर्भों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने शाक्यों को एक गणतंत्र माना^४ है।

शाक्य गणतंत्र सम्भवतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र^५ में वर्णित कृषिवाती-शस्त्रोपजीविन् प्रकार के संघों की श्रेणी में आता था। यह इस बात से स्पष्ट है कि महानाम को विनयपिटक^६ में एक स्थान पर खेती करते हुए बताया गया है। किन्तु अर्थशास्त्र में मल्लों और वज्जियों की राजशब्दी-पजीविन्^७ प्रकार के संघों में गणना के समय शाक्यों का कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मल्लों और वज्जियों के विपरीत

१. दीधनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३५।
२. फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ५, पृ० ४३९।
३. कारपोरेट लाइफ़ इन् ऐशियेंट इण्डिया, पृ० २३५-२३८।
४. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९; का० प्र० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० ४४; मजूमदार, कारपोरेट लाइफ़ इन ऐशियेंट इण्डिया, पृ० २३५-२३८; अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० ११२।
५. ग्यारहवाँ, १/५/६।
६. चुल्लवग्ग, ७/१/१।
७. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, रामतेजशास्त्री द्वारा संपादित एवं अनूदित पृ० ६७८।

हो।^१ है कि अपने समय के अन्य छह बड़े महानगरों—चम्पा, राजगृह, श्रुतिस्ती, साकेत, कोशाम्बी और वाराणसी, की अपेक्षा कुसिनारा एक अत्यन्त छोटा सा गाँव जैसा जंगली कस्बा था, जिसे बुद्ध के परिनिर्वाण हेतु उनके शिष्य आनन्द बहुत उचित नहीं मानते थे। किन्तु बुद्ध के अनुसार बोधिसत्त्व ने एक बार वहाँ चक्रवर्त्ती राजा के रूप में जन्म लिया था। बुद्धपूर्वकाल में वह १२ योजन लम्बा और ७ योजन चौड़ा था। बुद्ध के समय भी राजगृह से कुसिनारा तक एक प्रसिद्ध यात्रा-मार्ग था, जिसका बीच बुद्ध ने अपनी अन्तिम यात्रा में सहारा लिया था। राजगृह से कुसिनारा के में उस मार्ग पर अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिगाम, कोटिगाम, नादिका, वैशाली, भण्डगाम, हस्सिगाम, आम्रगाम, जम्बूगाम, भोगनगर और पावा पड़ते थे।^१ अंगुत्तरनिकाय^२ से यह स्पष्ट है कि बुद्ध के समकालीन सोलह महाजनपदों में मल्लों के जनपद का एक मुख्य स्थान था। बुद्ध ने कुसिनारा को अपने महापरिनिर्वाण के लिए चुनकर उसे अमरता प्रदान कर दी।

मल्लों की प्रसिद्ध राजधानी कुसिनारा प्राचीन काल की कुशावती थी। इसे दीघनिकाय^३ में महासुदस्सन नामक राजा की राजधानी और सोलह योजनों में विस्तृत बताया गया है। कुश जातक में इसे ओक्काक अर्थात् इक्ष्वाकु की राजधानी बताया गया है, जो सम्भवतः राजा कुश की ओर निर्दिष्ट है। यह कुश इक्ष्वाकुवंशी राजा राम का द्वितीय पुत्र होना चाहिए, जिसकी राजधानी कुशावती का विवरण पुराणों^४ और रामायण^५ में आया है। सम्भवतः जब कुशावती को छोड़कर कुश के वंशजों ने पुनः

राजगृह, सावत्थि, साकेत, कोसम्बी, वाराणसी। एत्थ भगवा परि-
निब्बायतु। दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १३०।

१. देखिए, दी० नि०, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ, अनुवाद हिन्दी पृ० १३२।

२. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो, जिल्द ४, पृ० २५३, २५६, २६०।

३. भूतपुब्बे, आनन्द, राजामहासुदस्सनो नाम अहोसि खत्तियो मुद्दावसित्तो,
चातुस्ती जनपदत्था वरियप्पत्तो। रञ्जो, आनन्द, महासुदस्सनअयं
कुसिनारा कुसावती नाम राजधानी अहोसि परत्थिमेनाच पश्चिमेन च
द्वादसयोजनानि आयामेन उत्तरेन च दक्खिणेन च सत्तयोजनानि वित्थारेन।
महासुदस्सनसुत्त, पालि प्रकाशन, नालन्दा, भाग २, पृ० १३०।

४. वायुपुराण, अध्याय, १९९-२००।

५. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, १०८.५।

अपनी प्राचीन राजधानी अयोध्या अपना ली तो मल्लों ने इसपर अधिकार कर लिया। कुसिनारा आजकल के देवरिया जिले का कसया नामक स्थान है, जो छोटी गंडक से कुछ दूर बसा है। कुसिनारा और कसया का समीकरण करने वाले सबसे पहले विद्वान् विल्सन, कनिंघम् और कार्लाइल् थे।^१ आधुनिक उत्खननों से वहाँ एक विहार प्राप्त हुआ है, जिसमें बुद्ध के परिनिर्वाण का उल्लेख है। मिट्टी की मुहरों पर महापरिनिर्वाण भिक्षुसंघ और महापरिनिर्वाणभिक्षुसंघस्य जैसे लेख^२ भी प्राप्त हुए हैं। कसया में एक ताम्रपट्ट भी मिला है, जिसपर उत्कीर्ण है 'परिनिर्वाण चैत्य ताम्रपट्ट'^३। किन्तु दीघनिकाय^४ से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध ने कुसिनारा के शाल उपवर्तन अर्थात् शालवृक्ष के वनों के क्षेत्र में अपना शरीर त्याग किया था। अतः उनका निर्वाणस्थल आधुनिक कसया से कुछ दूर होना चाहिए। इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने कसया के निकट ही अनुरुधवा^५ नामक गाँव को ही प्राचीन कुसिनारा माना है। कार्लाइल् ने कसया को बुद्ध के शिष्य महाकश्यप से और अनुरुधवा को उनके शिष्य अनुरुद्ध से मिलाया था।

मल्ल गणतंत्र की दो शाखाएँ थीं। पहली शाखा कुसिनारा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। दूसरी शाखा की राजधानी पावा थी, जिसकी पहचान के बारे में शुरू से ही विवाद रहा है। कनिंघम्^६ ने इसे देवरिया जिले के पड़रौना नगर से मिलाया है। जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वर्धमान महावीर की मृत्यु पावा में हुई थी। किन्तु जैन लोग महावीर की मृत्यु-स्थली पावा को बिहार में राजगृह के पास स्थित पावापुरी से मिलाते हैं। अतः यह स्पष्ट लगता है कि जैनों और बौद्धों की पावा एक नहीं, बल्कि दो नगरियाँ थीं। जिस पावा में बुद्ध ने अपने जीवन का

१. देखिए, पोहिएइ०, पृ० १२६; ऐशियेट् ज्योग्राफी ऑफ् इण्डिया, पृ० ७१३-१४।

२. आसरि०, १९१०-११, पृ० ६२।

३. वहीं, १९११-१२, पृ० १७, १३४।

४. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४७।

५. आसरि०, १८६१-६२, पृ० ७७ और आगे; १८७५-७७, पृ० ९२-९६; १९०५-६, पृ० ७७; और देखिए, राजबली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद, पृ० ७७।

६. कनिंघम्, ऐशियेट् ज्योग्राफी ऑफ् इण्डिया, पृ० ४३५।

अन्तिम भोजन ग्रहण किया था, वह कुसिनारा से अधिक दूर नहीं होना चाहिए, क्योंकि चुंदकम्मार के घर का भोजन (सूकरमद्व) खाकर ही बुद्ध बीमार पड़े और उनके शरीर से रक्तयुक्त अशौच निकलने लगा। उस बीमारी की हालत में ही धीरे धीरे चलते हुए तथा दसों जगह बैठते हुए वे कुसिनारा पहुँचे।^१ अतः पावा कुसिनारा के कहीं आसपास ही होनी चाहिए। कनिक्कुम्^२ इसे पड़रौना नामक आधुनिक कस्बे से समीकृत करते हैं, जो कसया से उत्तरपूर्व की ओर स्थित है। बंधी नाला (प्राचीन ककुत्था नदी) इसे कसया से अलग करती है। किन्तु कालाईल्^३ ने इसे फाजिल-नगर नामक स्थान से समीकृत किया है, जो कसया से १० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है। इसके पास के सठियाँव नामक गाँव का नाम चैत्यग्राम का अपभ्रंश हो सकता है।^४ किन्तु आधुनिकतम खोजों से पड़रौना ही प्राचीन पावा सिद्ध होता है।

अनुपिया^५ और उरुवेलकप्प^६ नामक दो और मल्ल नगरों की चर्चाएँ बौद्ध साहित्य में आती हैं। अनुपिया के एक आम्रवन में बुद्ध ने अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद सात दिनों तक निवास किया^७ था। इसके अतिरिक्त थूणग्राम, वलिहरण, कासण्ड, भोगनगर और आम्रग्राम जैसे अन्य नगर या गाँव भी पावा के मल्ल जनपद में थे। पावा के बुद्धकालीन प्रसिद्ध पुरुषों में चुंदकम्मार, खण्डसुमन, बोधिक, सुवाहु, वल्लिय, और उत्तिम अत्यन्त प्रसिद्ध थे। कुसिनारा की महाभिवृत्तियों में दम्बस्थविर, आयुष्मान्निह, यशदत्तस्थविर, बंधुल मल्ल, दीर्घकारायण, रोज मल्ल, वज्रपाणि मल्ल और प्रसेनजित की रानी मल्लिका प्रसिद्ध थी।

-
१. देखिए, दीधनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३६।
 २. ऐशियेट् ज्यॉग्रफी, १९२७, पृ० ४९८।
 ३. देखिए, कालाईल्, आसरि०, १८७५-७६; जिल्द २, पृ० ३० और आगे, पृ० १०४।
 ४. राजवली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७८।
 ५. चुल्लवग्ग, ७।१।१।
 ६. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, भाग ४, पृ० ४३८।
 ७. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, सारनाथ, भाग १, भूमिका, पृ० ४।

मल्ल गणतंत्र भी शाक्यों की तरह एक प्रसिद्ध भौगोलिक इकाई था ।^१ किन्तु उसकी शासित सीमाओं के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती । श्वान्-च्वाङ् के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि जब वह कोलियों की राजधानी रामग्राम से पूर्व की ओर चला तो उसे एक ऐसे घने जंगल से पार होना पड़ा, जिसमें हिसक पशु तो थे ही, साथ ही उसमें डाकुओं का भी बोलबाला था ।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि मल्लों का क्षेत्र पश्चिम की ओर कोलियों को क्षेत्र का छूता था । मल्लों के दक्षिण-पश्चिम में मोरिय गणतंत्र स्थित था । दक्षिण में घाघरा नदी के दोनों किनारे उसके क्षेत्र में पड़ते थे और आजकल का सम्भवतः सारा देवरिया जिला और आजमगढ़ जिले का उत्तरी भाग भी उसमें सम्मिलित था । आजमगढ़ जिले के इस उत्तरी क्षेत्र को आज भी "मलान" कहा जाता है और वहाँ के प्रधान निवासियों की पदवी 'मल्ल' है । पूर्व में वैशाली के लिच्छवियों का गणतंत्र था और सम्भवतः बड़ी गंडक नदी उन दोनों के बीच की सीमा थी ।^३ निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मल्ल गणतंत्र राजनैतिक सत्ता और प्रभाव की दृष्टि से बुद्धकालीन उत्तर-पूर्वी भारतीय गणतंत्रों में सम्भवतः वैशाली के लिच्छवियों के बाद दूसरे स्थान पर था ।

मल्लों का उल्लेख महाभारत^४ में भी आता है । बौद्ध साहित्य^५ के अनुसार मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों पर विजय के साथ ही मल्लों पर भी विजय प्राप्त की थी । किन्तु संघों अथवा श्रेणियों की गणना में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मल्लों का उल्लेख किया है ।^६ इससे प्रतीत

१. टॉमस् वाटर्स, आन् युआन्-च्वाङ्स् ट्रैवल्स् इन इण्डिया, जिल्द २, पृ० २५.
२. इस सम्बन्ध में देखिए, वि० पाठक, हिस्ट्री ऑफ़ कोशल, पृष्ठ २८५ से २८६ ।
३. दीधनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४७ ।
४. आसर्णि०, १८६१-६२, पृ० ७७ और आगे; १८७५-७७, पृ० ९२-९६; १९०५-६, पृ० ७७; और देखिए, राजबली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद, पृ० ७७ ।
५. द्वितीय, ३०, ३ ।
६. महापरिनिव्वानसुत्त, दीधनिकाय, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, भाग २ पृ० ५९ और आगे; राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० ५२० और आगे ।
७. लिच्छविक वृजिक मल्लकमद्रक कुकुरकुलपांचालयो राजशब्दोपजीविनः । रामतेजशास्त्री सम्पादित, कौटिलीय अर्थशास्त्र, हिन्दी अनुवाद सहित, पृ० ६७८ ।

किसी न किसी रूप में मल्ल गणतन्त्र मौर्य साम्राज्य के समय तक अस्तित्व में बना रहा ।

कुसिनारा और पावा के मल्लों की चर्चा को पूरा करने के लिए उन दोनों स्थानों से सम्बद्ध भगवान् बुद्ध की अन्तिम बीमारी और उनके महापरिनिब्बान की चर्चा आवश्यक है । महापरिनिब्बानसुत्त^१ के अनुसार बुद्ध की अन्तिम यात्रा वैशाली से आरम्भ हुई थी । पावा में उन्होंने चुन्दकम्मार के आम्रवन में विहार किया और उसके आमंत्रण पर उसका भोजन स्वीकार किया । उस भोजन में सूकरमद्दव अर्थात् सूअर का शोरवादार मांस भी सम्मिलित था । भगवान् उसे पचा नहीं सके और अतिसार से ग्रस्त होकर बीमार पड़ गये । वहाँ उन्होंने निश्चय किया कि वे मल्लों के शाल उपवर्तन में परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे । ककुत्था^२ नदी को पार करके, उसका जल ग्रहण करते हुए, वे कुसिनारा में हिरण्यवती अर्थात् छोटी गंडक के किनारे पहुँचे, जहाँ उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया । निर्वाण के पूर्व उन्होंने आनन्द को मल्लों के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि वे उनके पास उपस्थित होकर उनका अन्तिम उपदेश ग्रहण करें । उस अन्तिम उपदेश के बाद जब वे निर्वाण को प्राप्त हुए तो मुकुटबन्धन नामक चैत्य के पास मल्लों ने उनकी चिता लगायी और उनका दाह संस्कार किया । पश्चात् कुसिनारा के मल्लों ने भगवान् की अस्थियों (सरीरानि) को सप्ताह भर संस्थागार में शक्ति (हस्त पुरुषों के घेरे का) पंजर बनवा, धनुष (हस्त पुरुषों के घेरे का) प्राकार बनवा, नृत्यगीतवाद्य, माला गन्ध से सत्कार किया, माना = पूजा ।^३

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण की सूचना पाकर मगधराज अजातशत्रु ने, वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, वेत्थली के ब्राह्मणों ने और पावा के मल्लों ने कुसिनारा के मल्लों के पास अपना-अपना तर्क उपस्थित करते हुए यह सन्देश भेजा कि बुद्ध क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं, अथवा भगवान् हमारी जाति के थे अथवा भगवान् क्षत्रिय थे, हम ब्राह्मण हैं, हमें भी उनकी अस्थियों का भाग मिलना चाहिए, जिसपर हम स्तूप बनायेंगे और उनकी पूजा करेंगे ।^४ ऐसा सन्देश पाकर कुसिनारा के मल्लों ने उन संघों और गणों से कहा “भगवान् हमारे ग्रामक्षेत्र में

१. दीघनिकाय, २/३, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १३६ और आगे ।

२. आजकल के देवरिया जिले की घाघी नदी । देखिए, वि० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७; आसारि०, जिल्द १८, पृ० १०७; जिल्द २२, चौथा अध्याय ।

३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५० ।

४. भगवापिखत्तियो, मयंपिखत्तिया, भगवापि अम्हाकं जातिसेट्ठो, मयंपि अर-हाम भगवतो सरीरानं भागं, मयंपि भगवतो सरीरानं थूपं चमहं चकरि-स्साम । दीघनिकाय, पालि प्रकाशन, नालन्दा, भाग २, पृ० १२६-१२७ ।

परिनिवृत्त हुए हैं, हम भगवान् के शरीर का भाग नहीं देंगे। किन्तु वहाँ द्रोण नामक ब्राह्मण उपस्थित था। उसने कहा—“शान्तिवादी बुद्ध की अस्थियों के लिए लड़ना स्वाभाविक और उचित नहीं है।” मल्ल उसकी बात से प्रभावित हुए और अस्थियों के विभाजन के लिए उसे ही निर्णायक मान लिया। उसने भगवान् के अस्थि अवशेषों को सभी दावेदारों को बाँटा। उन अस्थि अवशेषों के आठ भागों में बँट जाने पर द्रोण ब्राह्मण ने उन संघों और गणों से खाली अस्थि-कलश की इच्छा प्रकट करते हुए कहा—“आप सब इस कुम्भ को मुझे दें। मैं इस कुम्भ का स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूँगा।” उन्होंने द्रोण ब्राह्मण को कुम्भ दे दिया। किन्तु पिप्पलिवन के मोरिय ऐसे थे, जिन्हें अस्थियों के बँट जाने के बाद ही भगवान् के निर्वाण की सूचना मिली, और जब उन्होंने दूत भेजा तो उनसे कहा गया—“भगवान् के शरीरों के भाग नहीं हैं, भगवान् के शरीर के भाग बँट चुके हैं। यहाँ से कोयला = (अंगार) ले जाओ। वे वहाँ से अंगार ले गये।”

बुद्ध के परिनिर्वाण की इस महत्वपूर्ण घटना और तज्जन्य प्रसंग के कारण पावा और कुसिनारा के मल्ल भारतीय इतिहास में सर्वदा के लिए अमर हो गये।

रामग्राम के कोलिय

महापरिनिब्बानसुत्त में जिन-जिन गणों के द्वारा भगवान् के अस्थि-अवशेषों के भागों के प्राप्त करने की चर्चा है, उनमें रामग्राम के कोलियों का भी उल्लेख आता है।^१ वहाँ वे अपने को क्षत्रिय कहते हैं।^२ अन्य बौद्ध ग्रन्थों से भी उनका क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है। उदाहरणस्वरूप, सुमंगलविलासिनी^३ के अनुसार शाक्य परिवार की एक कन्या कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गयी। उसकी छूत लगने के भय से उन्होंने उसे एक जंगल में गड़ढा खोदकर खाने-पीने की वस्तुओं के साथ छिपा दिया। पास ही बनारस का कोई राम नामक राजा भी उसी रोग से रुग्ण होकर उस जंगल में रहता था। किन्तु धीरे-धीरे जंगल की औषधियों से उसका कोढ़ रोग अच्छा हो गया था। अकस्मात् उसने शाक्य राजकुमारी को देख लिया और उसे भी उसने औषधियों से अच्छा कर दिया। बाद में उसने उससे विवाह

१. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५०-५१।

२. भगवापि खत्तियो, भयंपि खत्तिया, दीघनिकाय, पालि, नालन्दा, जिल्द २, पृ० १२६।

३. पाटेसो०, भाग १, पृ० २६०-२६२।

कर लिया। जंगल में रहते हुए उस राजा के पुत्रों को, जो वाराणसी में रहते थे, उसके अच्छे हो जाने की जानकारी हो गयी और उसकी आज्ञा से उन्होंने उसी जंगल में कोल के पेड़ों को काटकर उसके लिए एक निवास-स्थान बना दिया। वहाँ शाक्य राजकुमारी से इस राजा की अनेक सन्तानें उत्पन्न हुईं।

जिस स्थान पर बनारस के इस राजा ने अपना निवास स्थापित किया था, वहाँ कोल के पेड़ों के होने के कारण वह कोलनगर कहलाया और उस राजा के वंशज कोलिय कहलाये। इसे व्याघ्रपट्टा भी कहा गया है, क्योंकि वह व्याघ्रों के आने-जाने का भी मार्ग था। बाद में उस राजा के वंशजों का विवाह शाक्यों के परिवारों में होने लगा।

महावस्तु^१ में कोलियों की उत्पत्ति थोड़े भिन्न रूप में दी गयी है। तदनुसार, शाक्य राजकुमारी का कुष्ठरोग किसी औषधि के कारण नहीं, अपितु गढ़े में ढके रहने के कारण उसकी प्राकृतिक गर्मी से ठीक हो गया तथा जिस व्यक्ति ने उसका उद्धार किया था, वह बनारस का राजा राम नहीं वरन् कोल नामक एक संन्यासी था। **कुणाल जातक**^२ (सं० ५३६) में भी कोलियों का उत्पत्ति-क्षेत्र कोल के पेड़ों को तथा कोलियों के पूर्वजों का कुष्ठ रोग से पीड़ित होना बताया गया है। इन विभिन्न साक्ष्यों में जो कुछ अन्तर है, वह सम्भवतः मूल घटना के बहुत दिनों बाद उसके लिखे जाने के कारण हो गया। असम्भव नहीं है कि बनारस का रुग्ण राजा राम कोल के जंगलों में अथवा कोल के पेड़ के कोटर में रहने के कारण कोल अथवा कोलिय कहा जाने लगा हो। **दिव्यावदान**^३ में कोलियों को इक्ष्वाकुवंश से जोड़ा गया है और **महापरिनिब्बानसुत्त** में उन्हें नागवंशीय कहा गया है। इन दोनों कथाओं के मूल आसानी से खोजे जा सकते हैं। चूँकि कोलिय मातृपक्ष द्वारा शाक्यों (इक्ष्वाकुवंशजों) से सम्बद्ध थे, इन्हें इक्ष्वाकु का वंशज मानना बहुत कठिन नहीं है। दूसरी ओर, पितृपक्ष से वे बनारस के राजवंश से सम्बद्ध थे, जो नागवंशी था। नागवंश बनारस में चन्द्रवंश का राज्य

१. पाटोसो, भाग १, पृ० ३५२-३५३।

२. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ५, सं० ५३६।

३. देखिए, राजबली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ६८।

४. एकं चदोणं पुरिसवस्तमस्स रामगामे नागराजा महेति। महापरिनिब्बानसुत्त, नालन्दा, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १२९।

समाप्त हो जाने के बाद शासन करने लगा था ।^१ श्वान्-च्वाङ्ग्^२ भी कोलियों को नागवंशी बताता है ।

महापरिनिब्बानसुत्त में कोलियों की राजधानी रामग्राम बतायी गयी है । ऊपर हम देख चुके हैं कि सुमंगलविलासिनी में उसे कोलनगर अथवा व्याघ्रपद्या कहा गया है । ये तीनों ही नाम एक ही स्थान के द्योतक हैं । रामग्राम कोलियों के पूर्वपुरुष राम के नाम पर प्रसिद्ध हुआ । इसकी पहचान के बारे में विद्वानों में मतभेद है । कार्लाइल ने इसे उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में आधुनिक मुंडेरा बाजार से २ मील दक्षिण-पूर्व में रामपुर देवरिया नामक स्थान से मिलाया^३ था, जिसे कुछ अन्य विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया । किन्तु कनिंघम्^४ इसे देवकली नामक गाँव से मिलते हैं । राजबली पाण्डेय^५ ने इसे गोरखपुर नगर से सटे हुए पूर्व में रामगढ़ तालाब से मिलाया है और उनका विश्वास है कि कोलियों ने जो स्तूप बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर बनाया था वह उस तालाब के किनारे ही कहीं स्थित रहा होना चाहिए । आजकल उस स्तूप का कोई अवशेष नहीं मिलता । सिंहली अनुश्रुतियों^६ के इस कथन में सच्चाई हो सकती है कि बुद्ध के अवशेषों का वह स्तूप किसी नदी द्वारा बहा ले जाया गया । वह नदी गोरखपुर से सटकर बहने वाली राप्ती (अचिरावती) नदी ही हो सकती है ।

रामग्राम के कोलियों की एक दूसरी शाखा भी थी, जो देवदह में निवास करती थी । किन्तु देवदह की पहचान ठीक से नहीं की जा सकती । कोलियों के अनेक नगरों, गाँवों और कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों की चर्चाएँ बौद्ध साहित्य में आती हैं । किसी कोलिय राजा की सुप्रवासा नामक कन्या ने बुद्ध की एक बार रुग्ण-वस्था में सेवा की थी ।^७ पाटालिय नामक प्रधान के गाँव के उत्तर^८ में सापुग स्थित था, जहाँ एक बार आनन्द^९ ने निवास किया था । कुक्कुरपथ में दीर्घजान्हु^{१०}

१. देखिए, राजबली पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२ ।
२. टॉमस् वाटर्स, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग २, पृ० १५ ।
३. आसरि०, १८७५, जिल्द २२, पृ० ३; वि० च० लाहा, हिस्टॉरिकल् ज्याग्रफी ऑफ् ऐशियेण्ट् इण्डिया, पृ० ११९ ।
४. ऐशियेण्ट् ज्याग्रफी, पृ० ४८२-४८५ ।
५. देखिए, राजबली पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७० ।
६. महावंश, ३०.१७ और आगे ।
७. उदान, पाटोसो०, पृ० १५-१८ ।
८. संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ४, पृ० ३४० ।
९. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १९४ ।
१०. वहीँ, पृ० १८१ ।

रहता था। पुण्यकोलिय और श्रेणिय नामक भिक्षुओं के निवास-स्थान हरिद्रवसन की चर्चयें विभिन्न स्थलों पर प्राप्त होती हैं। कुक्कुरपथ में भगवान् ने मज्झिम-निकाय के कुक्कुरवातिकसुत्त^१ का उपदेश किया था।

किन्तु रामग्राम के कोलियों के बारे में सुत्तपिटक में उतनी चर्चयें नहीं मिलतीं, जितनी उनके समकालीन शाक्यों और लिच्छवियों के बारे में मिलती हैं। कोलिय गणतंत्र की शासित सीमाओं का भी निश्चित रूप से ज्ञान नहीं है। अनुमानतः, हिमालय के पर्वतीय प्रदेश उसके उत्तर में थे। उसकी दक्षिणी सीमा का निर्माण अचिरावती (राप्ती) नदी करती थी और दक्षिण-पूर्व में पिप्पलिवन के मोरिय-प्रदेशों से वह आवेष्टित था। उनके पश्चिम में शाक्यों का गणतंत्र था, और दोनों के बीच की सीमा रोहिणी नदी थी। रोहिणी नदी और उसके जल को लेकर एक बार शाक्यों और कोलियों में भीषण विवाद हो गया था। कुणाल जातक^२ से ज्ञात होता है कि एक बार जेठ के महीने में भीषण तपन के कारण रोहिणी नदी के दोनों किनारों पर स्थित शाक्यों और कोलियों के ईख के खेत सूखने लगे। दोनों पक्ष रोहिणी पर एक बाँध बनाकर पानी रोकते और सिंचाई करते थे। किन्तु इस बार पानी इतना कम था कि वह दोनों ओर की सिंचाई के लिए पर्याप्त नहीं था। कौन पक्ष उसका उपयोग करे, इस बात को लेकर पहले तो कोलिय और शाक्य कृषकों में, बाद में उनके अधिकारियों में और अन्त में उनके राजकुमारों तथा राजाओं में युद्ध की नौबत आ गयी। संयोग से यह बात बुद्ध को ज्ञात हुई, जो वहाँ उपस्थित होकर उस झगड़े को शांत करने में सफल हुए। कृतज्ञतावश दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने दो सौ पचास राजकुमारों को बुद्ध संघ में प्रवेश करने की अनुमति दी। इस घटना का उल्लेख बौद्ध साहित्य के अन्य अंशों में भी प्राप्त होता है।^३

रामग्राम के कोलियों का सबसे प्रमुख उल्लेख, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अस्थि-अवशेषों को प्राप्त करने के समय का ही प्राप्त होता है। उनके विवाह-सम्बन्ध कपिलवस्तु के शाक्यों से होते थे और शाक्यों की भाँति वे भी कोसलराज की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। किन्तु ऐसा नहीं जान पड़ता कि विडूढभ द्वारा शाक्यों की तरह वे भी समाप्त कर दिये गये।

१. मज्झिमनिकाय, सुत्तसंख्या, २/१/७; सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २३३।

२. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ५, सं० ५३६।

३. धम्मपद अट्ठकथा, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० २५४ और आगे; सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० ६७२ और आगे।

श्वान्-च्वाङ्ग^१ का कथन है कि जब अशोक ने बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर बने हुए स्तूपों को उजाड़कर उनके अवशेषों को चौरासी हजार भागों में बाँटते हुए उतने ही नये स्तूप निर्माण कराने का निश्चय किया तो रामग्राम के कोलियों ने इसका सफल विरोध किया था। अतः यह सम्भव है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र^२ में मल्लों और वज्जियों जैसे जिन राजशब्दोपजीविन् गणतंत्रों की ओर निर्देश है, उनमें कदाचित् रामग्राम के कोलिय भी एक रहे हों। किन्तु उनका महत्त्व उस समय बहुत न होने के कारण उनका उल्लेख अर्थशास्त्र में कदाचित् नहीं हुआ।

पिप्पलिवन के मोरिय

दीघनिकाय^३ में वर्णित गणों की सूची में पिप्पलिवन के मोरिय भी गिनाये गये हैं। तदनुसार, बुद्ध के अस्थि-अवशेषों में हिस्सा प्राप्त करने के लिए उन्होंने भी अपना दावा उपस्थित किया था। किन्तु उनके दूत कुसिनारा के मल्लों के यहाँ अस्थि-अवशेषों के बँट जाने के बाद ही पहुँचे और उन्हें बुद्ध की चिता वाली राख मात्र से संतोष करना पड़ा। मोरियों के बारे में इस उल्लेख के अतिरिक्त सुत्तपिटक से अन्य कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती। किन्तु महावंश^४ में प्रथम मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य को मोरियों से जोड़ा गया है और वहाँ कहा गया है कि चाणक्य ने नंदों को उखाड़कर उसे राजगद्दी पर बिठाया। महावंश की टीका^५ में मोरियों को शाक्यों से जोड़ा गया है। तदनुसार, वे भी कपिलवस्तु के रहने वाले थे और विडूडभ के आक्रमण के भय से भागकर उन्होंने पीपल के जंगलों में पिप्पलिवन नामक एक नगर बसाया और वहाँ पर बहुतायत से रहने वाले मोरों के कारण वे

१. देखिए, टॉमस् वाटर्स, ऑन् युआन्-च्वाङ्गस् ट्रेवल्स् इन् इण्डिया, जि० २, पृ० २०; और देखिए, दिव्यावदान, मिथिला इन्स्टीट्यूट प्रकाशन, पृ० २४०।

२. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, १२.५.६।

३. अस्सोसुं खो पिप्पलिवनिया मोरिया-भगवाकिर कुसिनारायं परिनिब्बुतो'ति। अथखो पिप्पलिवनिया मोरिया कोसिनारकानं मल्लानं दूतं पाहेसुं—भगवापि-खत्तियो, मयं पि खत्तिया, मयंपि अरहामभगवतो सरीरानं थूपं च महं च करिस्सामा। दीघनिकाय, पालि, नालन्दा प्रकाशन, जिल्द २, पृ० १२८।

४. मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं।

चंदगुप्तो'ति पञ्जतं चणक्को बह्मणो ततो।

महावंश, सम्पादित गायगर, पृ० २०।

५. महावंश टीका, सिंहली सम्पादन, पृ० ११९ और आगे।

मोरिय कहलाये। इस प्रकार पिप्पलिवन के मोरिय क्षत्रिय ठहरते हैं।^१ किन्तु महावंश टीका का यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मोरिय कपिलवस्तु के शाक्य गणतंत्र के ही सदस्य थे। पीछे हम देख चुके हैं कि महापरिनिब्बानसुत्त उन्हें शाक्यों की ही तरह एक स्वतंत्र गण अथवा क्षत्रिय संघ कहता है। विडूढभ ने शाक्यों का विनाश संभवतः बुद्ध के जीवन के अन्तिम वर्ष में किया था और यह असंभव लगता है कि मोरियों ने उसके दो-चार महीनों के भीतर ही पिप्पलिवन नामक अपनी राजधानी के रूप में एक अलग नगर बसाकर अपने लिए ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि वे एक स्वतंत्र क्षत्रिय गण के रूप में भगवान् बुद्ध के अवशेषों के दावेदार हो गये। वि० च० लाहा का यह अनुमान सही है कि कदाचित् विवाह-सम्बन्धों द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से मोरिय शाक्यों से सम्बन्धित एक पर्वतीय जन रहे हों और धीरे-धीरे एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में विकसित हो गये हों।^२

मोरिय राजधानी पिप्पलिवन पीपल के वनों के बीच स्थित थी, यह महावंश टीका के आधार पर पीछे हम देख चुके हैं। कार्लाइल्^३ ने गोरखपुर से दक्षिण-पूर्व में आधुनिक गुराँ नदी के किनारे 'राजधानी' नामक गाँव से पिप्पलिवन का समीकरण किया था। वहाँ अब भी एक किले जैसा स्थान है, जिसे सहनकोट कहते हैं। "राजधानी" संज्ञा से भी यह प्रतीत होता है कि वह स्थान प्राचीन काल में किसी स्वतंत्र राज्य का प्रधान नगर था। मोरियों के क्षेत्र के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में रामग्राम के कोलियों के क्षेत्र थे तथा पूर्व और उत्तर-पूर्व में कुसिनारा और पावा के मल्ल क्षेत्र पड़ते थे। दक्षिण में राप्ती के दोनों किनारों पर इसके क्षेत्र पड़ते थे और सम्भव है कि आधुनिक देवरिया जिले में स्थित रुद्रपुर नामक कस्बे से दक्षिण की ओर सरयू नदी के सारे उत्तरी किनारे के क्षेत्र तथा दक्षिण-पश्चिम में गोरखपुर में स्थित बड़हलगंज तक उसके प्रदेश फैले रहे हों। महावंश टीका के इस उल्लेख में संदेह व्यवत किया जा सकता है कि पिप्पलिवन का क्षेत्र हिमालय की तलहटियों में स्थित था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उत्तर में हिमालय की तराई पिप्पलिवन के मोरियों के अधिकार में थी।

१. इस संबंध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए, वि० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७०-२७४; रा० कु० मुखर्जी, 'चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज़ टाइम्स', द्वितीय संस्करण, पृ० १५।
२. देखिए, वि० च० लाहा, ट्राइब्स इन् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० २८८; आसरि० जिल्द १८, पृ० ३१ और आगे; जिल्द २२, पृ० ७।
३. आसरि०, जिल्द १२, टूर इन् दि गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट इन् १९७५-७६ ऐण्ड १८७६-७७।

मोरियों का इतिहास बहुत ज्ञात नहीं है। उनका महत्व केवल इस बात में निहित है कि आगे चलकर उन्हीं के वंश में चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे महान् चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न हुए, जिन्होंने गणतान्त्रिक परम्परा का त्याग करके भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित और पल्लवित करने का गौरव प्राप्त किया।

बुलिय, कालाम और भग्य

बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के दावेदार क्षत्रियगणों अथवा संघों में अल्लकप्प के बुलियों, केसपुत्त के कालामों और संसुमारगिरि के भग्यों का भी नाम आता है।^१ किन्तु इनके बारे में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। बुलियों का नगर अल्लकप्प, वि० च० लाहा के मत में, कहीं वेट्टद्वीप के पास स्थित था जहाँ का राजा अल्लकप्प के राजा का मित्र था। वेट्टद्वीप के ब्राह्मणों को चर्चा महापरिनिब्बानसुत्त^२ में बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के दावेदारों के रूप में आयी है। बुलियों ने भी उन अस्थि-अवशेषों का एक भाग पाकर अल्लकप्प में एक स्तूप निर्मित किया था।

केसपुत्त के कालामों के बारे में चर्चायें महापरिनिब्बानसुत्त के अतिरिक्त बहुत थोड़ी हैं। किन्तु वे कोसल की सीमा के भीतर स्थित थे और प्रसेनजित की अधिसत्ता स्वीकार करते थे, यह पीछे हम देख चुके हैं।^३ कालामों में उत्पन्न होने वाला सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति था आलार, जिसे गौतम ने अपने महाभिनिक्रमण के बाद ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रथम गुरु के रूप में चुना था।^४ महापरिनिब्बानसुत्त में उसकी चर्चायें अक्सर आती हैं। मल्ल क्षेत्र का पुकुस नामक एक वणिक्^५ उसका एक बड़ा भारी भक्त और प्रशंसक था। बुद्ध ने केसपुत्तों के बीच जाकर एक प्रसिद्ध उपदेश किया था।^६

संसुमारगिरि के भग्य (भग्न अथवा भार्गव) बुद्धकालीन गणों अथवा संघों में गिने गये हैं। उनकी चर्चा बौद्ध ग्रन्थों के पूर्व भी मिलती है।^७ उनका उल्लेख

१. भगवापिखत्तियो मयंपिखत्तिया, दीघनिकाय, पालि, भाग २, पृ० १२७।

२. वेट्टद्वीपकोट्ठि ब्राह्मणो वेट्टद्वीपे भगवतो सरीरान् थूपं चमहं चअंसु।

महापरिनिब्बानसुत्त, पालि प्रकाशन, भाग २, पृ० १२८।

३. पीछे देखिए, पृ० १०० दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृ० १५०।

४. देखिए कर्न्, मैन्युअल् ऑफ् इण्डियन् बुद्धिज्म, पृ० १८।

५. वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८९; दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३७।

६. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १८८ और आगे।

७. विभिन्न संदर्भों के लिए देखिए, वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९२-९३।

प्रायः वत्सों के साथ ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में हुआ है। धोनसाख जातक (सं० ३५३) से ज्ञात होता है कि वत्सराज उदयन का बोधि नामक एक पुत्र था, जिसने संसुमारगिरि पर ककोनद नामक अपना एक महल बनवा रखा था। स्पष्ट है कि संसुमारगिरि के भग्यं वत्सराज की अधीनता स्वीकार करते थे। भग्यों की चर्चायें संयुक्त और मज्झिम्मािकाय में अनेक स्थानों पर आयी हैं। उनका प्रधान नगर संसुमारगिरि एक पहाड़ी पर पूर्व में वैशाली, उत्तर में श्रावस्ती और पश्चिम में कोशाम्बी के बीच मिर्जापुर की पहाड़ियों में कहीं स्थित था। घोष ने संसुमारगिरि की स्थिति आजकल के चुनार में मानी है।^१ कुछ विद्वानों के मत में भग्यं वज्जि संघ के सदस्य थे। किन्तु यह सही नहीं प्रतीत होता। संयुक्तिकाय^२ से यह ज्ञात होता है कि एक बार बुद्ध ने भग्यों के बीच उपदेश किया था।

विदेह और लिच्छवि

वैशाली के लिच्छवि और जनकपुर के विदेह बुद्धकाल के बहुत पूर्व से ही ज्ञात होते हैं। बुद्ध के समय वज्जि, ज्ञात्रिक, विदेह और लिच्छवि आदि अनेक जनों ने मिलकर सम्भवतः एक वृहत् संघ अथवा संयोगसंघ का निर्माण कर लिया था, जिसका मुख्य उद्देश्य था मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद से अपनी रक्षा करना। इन सबको मिलाकर समवज्जि कहते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार इनकी गणना राजशब्दोपजीविन्^३ संघों में होती थी।

संस्कृत साहित्य में विदेह राज्य और उसकी राजधानी मिथिला की चर्चायें हैं। किन्तु यहाँ हमें बौद्ध साहित्य, विशेषतः सुत्तपिटक, तक ही अपने आपको सीमित रखना है। यह स्पष्ट है कि विदेह, जो उत्तरवैदिक और महाकाव्यों के काल में एक राजतंत्र था^४, गौतम बुद्ध का समय आते-आते एक गणतंत्र अथवा संघ के रूप में परिवर्तित हो गया था। उसकी राजधानी मिथिला का उल्लेख दीघनिकाय^५ के महागोविन्दसुत्त में हुआ है और यह कहा गया है कि महागोविन्द नामक

१. घोष, अर्ली हिष्ट्री ऑफ़ कोशाम्बी, पृ० ३२ की पादटिप्पणी तथा पृ० ३८।

२. पाटेसो०, भाग ३, पृ० १-५।

३. लिच्छविक वृजिक मल्लकमद्रक कुकुरकुसपांचालादयो राजशब्दोपजीविनः।

कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, हिन्दी अनुवाद, रामतेजशास्त्री, पृ० ६७८।

४. वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३५-२३८।

५. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १७१।

शासक ने उसे बसाया था। देवदत्तरामकृष्ण भण्डारकर^१ का मत है कि वत्सराज उदयन के वैदेहीपुत्र कहे जाने का कारण यह था कि उसकी माँ एक विदेह राजकुमारी थी। इसी तरह से मगधराज अजातशत्रु भी वैदेहीपुत्र कहा जाता था। रॉकहिल्ल^२ के मतानुसार अजातशत्रु की माता का वास्तविक नाम वासति था। वर्धमान महावीर की माता भी सम्भवतः विदेह राजकुमारी थीं। उन्होंने विदेह क्षेत्र में अपने जीवन के अनेक प्रारम्भिक वर्ष बिताये थे। जिन पद प्राप्त करने के बाद भी मिथिला में उन्होंने कम से कम छह वर्षों बितायीं।^३

जातकों^४ के अनुसार विदेहों की राजधानी मिथिला तीन योजनों में फैली थी। वहीं यह भी चर्चा है कि इसमें सोलह हजार गाँव और सोलह हजार नर्तकियाँ थीं। उसमें सर्वदा भरे हुए भण्डार थे तथा चार-चार घोड़ों की सवारियों में वहाँ के राजा निकलते थे। मिथिला से होकर प्राचीन काल के अनेक राजमार्ग देश के विभिन्न नगरों से होते हुए विभिन्न दिशाओं में जाते थे। चम्पा से इसके व्यापारिक सम्बन्ध थे।^५ वहाँ के लोग अत्यन्त दानी और उदार थे। जातकों^६ में वहाँ के दानी और उदार राजाओं की अनेक चर्चाएँ आती हैं।

विदेहों के अतिरिक्त पूर्वी भारत में जात्रिक एक अन्य प्रसिद्ध गण था। वर्धमान महावीर के इस गण में पैदा होने के कारण यह बहुत प्रसिद्ध हो गया। इसके प्रसिद्ध ग्राम और नगर थे—वैशाली, कुण्डकग्राम, और वाणिज्यग्राम।^७ चूँकि जात्रिकों में महावीर ने जन्म लिया था, जैन ग्रन्थों में उनकी प्रशंसाएँ बहुत बढ़ा-चढ़ाकर की गयी हैं। हॉर्नले का मत है कि जात्रिकों का नगर वैशाली एक कुलसंघ था, जिसकी सरकार एक ऐसी सिनेट द्वारा चलती थी, जिसके सदस्य क्षत्रिय परिवारों के मुखिया होते थे तथा जिसके प्रधान एक राजा और सेनापति होते थे।^८

१. कार्माइकेल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० ५८-५९।
२. लाइफ् ऑफ् बुद्ध, रॉकहिल्ल, पृ० ६१-६४।
३. जैनसूत्रज्, सेक्रेड बुक्स ऑफ् दि ईष्ट सीरिज, जिल्द २२, भाग १, पृ० २५६-२६४।
४. फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ३, पृ० ३६५।
५. महाजनक जातक, सं० ५३९।
६. फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ३, पृ० २२३; विशेष विवरण के लिए देखिए, वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४०-२४२।
७. उवासगदसाओ (हॉर्नले), जिल्द २, पृ० ४, कैम्ब्रिज हिष्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १५७।
८. उवासगदसाओ, जिल्द २, पृ० ६।

छठीं शती ईसा पूर्व में जात्रिकों का मुखिया सिद्धार्थ था, जिसने लिच्छवि-प्रमुख चेटक की बहिन त्रिशला से विवाह किया। इसी सिद्धार्थ और त्रिशला से महावीर की उत्पत्ति हुई।^१

वज्जिसंघ के अलावा समवज्जियों में लिच्छवि सर्वप्रमुख थे। अर्थशास्त्र में उन्हें वज्जि, मल्ल, मद्र, कुकुर, कुरु और पांचाल के साथ राजशब्दोपजीविन् कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि लिच्छवि संघ के सदस्यों की पदवी राजा होती थी।^२ हे० च० रायचौधुरी^३ के मतानुसार पालि साहित्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और युवान्-च्चांग् के कथनों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। उनके अनुसार वज्जि एक संयोगसंघ का नाम तो था ही, इस संयोग-संघ के एक सदस्य गण अथवा संघ का नाम भी वज्जि ही था। लिच्छवियों की तरह वज्जियों को भी वैशाली से जोड़ा गया है जिससे प्रतीत होता है कि वैशाली लिच्छवियों की राजधानी तो थी ही, साथ ही वह उनके संयोगसंघ अर्थात् समवज्जि की भी राजधानी थी।

महापरिनिब्बानसुत्त^४ से यह स्पष्ट है कि लिच्छवि क्षत्रिय थे, जिन्होंने कुसिनारा के मल्लों के पास सन्देश भेजकर गौतम बुद्ध के अस्थि-अवशेषों में अपना हिस्सा इस आधार पर मांगा कि बुद्ध की तरह वे भी क्षत्रिय थे। सुमंगल-विलासिनो^५ में लिच्छवि कुमार वंधुल भी अपने को बुद्ध की तरह क्षत्रिय बताता है। जैन साहित्य भी लिच्छवियों का क्षत्रिय होना बताता है। लिच्छवियों ने जैसे गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी अस्थियों की पूजा की और उनपर स्तूप बनवाया, वैसे ही उन्होंने वर्धमान महावीर की मृत्यु पर कासी-कोसलों और नवमल्लों के साथ दीपशिखा जलायी और व्रत रखा।^६ गौतम बुद्ध लिच्छवियों को 'वशिष्ठ' कहकर पुकारते थे जिससे यह प्रतीत होता है कि लिच्छवि

-
१. वि० च० लाहा, महावीर, हिज् लाइफ् ऐण्ड् टीचिंग्स्, पृ० ५३।
 २. लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः। रामतेजशस्त्री सम्पादित, कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, पृ० ६७८।
 ३. पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् ऐशियेंट् इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० १०१।
 ४. भगवापिखत्तियो, मयम्पिखत्तिया, मयम्पि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं, मयंपि भगवतो सरीरानं थूपं च महं च करिस्सामा इति। दीघनिकाय, पालि प्रकाशन, नालन्दा, भाग २, पृ० १२६।
 ५. पाटिसो०, भाग १, पृ० ३१२।
 ६. कल्पसूत्रज्, सैक्रेड बुक्स् आफ् दि ईष्ट सीरिज्, जिल्द २२, पृ० २६६।

वशिष्ठगोत्री क्षत्रिय थे।^१ नेपाल वंशावली में भी लिच्छवियों को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है।^२ लिच्छवियों का शाक्यों से भी सम्बन्ध था। राकहिल् के मतानुसार, शुद्धोदन की स्त्रियाँ—महामाया और महाप्रजापति-लिच्छवि राज-कुमारियाँ थीं^३।

लिच्छवि संघ की राजधानी वैशाली बौद्ध और जैन दोनों ही साहित्यों में अति चर्चित है। गौतम बुद्ध ने अपने अनेक उपदेश वैशाली में ही रहकर दिये, जहाँ पर आम्रपाली का आम्रवन नगर के किनारे स्थित था और प्रायः बुद्ध के निवास का स्थल होता था। हिमालय की तलहटियों में वैशाली से लेकर दूर-दूर तक फैले हुए महावन में कूटागारशाला नामक एक दूसरा भी स्थल था, जहाँ पर बुद्ध प्रायः निवास करते थे। बुद्ध के मन में वैशाली के लिच्छवियों के प्रति बहुत आदर का भाव था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^४ में मिलता है, जहाँ अजातशत्रु की उनपर विजय की इच्छा जानकर अपने शिष्य आनन्द से प्रश्नोत्तर करते हुए वे लिच्छवियों की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि वे अपनी पुरानी परम्पराओं और धर्मों का पालन करते हैं; अपनी सभाओं में बैठकर समवेतरूप में निर्णय करते हैं; साथ-साथ उठते-बैठते और विचार करते हैं—आदि आदि। बौद्ध धर्म के इतिहास में वैशाली का यह महत्त्व बाद में भी कई सौ वर्षों तक बना रहा, जहाँ बौद्धों ने अपनी दूसरी संगीति आयोजित की। अनेक जातक कथाएँ, बुद्धघोष की टीकाएँ, ललितविस्तर और जैन ग्रन्थ वैशाली सम्बन्धी उल्लेखों से भरे पड़े^५ हैं। वैशाली आधुनिक बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में आजकल का बसाढ़ नामक कस्बा है। यह पहचान सबसे पहले कनिष्क^६ ने की थी, जिसे आगे चलकर प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे लिच्छवियों के महत्त्व की स्पष्ट जानकारी होती है। बौद्ध साहित्य में ब्राह्मण साहित्य की तुलना में उनकी चर्चाएँ अधिक हैं। उन चर्चाओं से यह स्पष्ट है कि छठीं शती ईसा पूर्व में लिच्छवि-विदेह संयोगसंघ एक शक्तिशाली स्वतन्त्र गणराज्य था, जिसकी पूर्वी भारत के

१. वहीं, पृ० ३२१; महावस्तु अपदान, सेनार्ट द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० २८३।

२. इण्डियन् ऐंटिक्वेरी, जिल्द ३७, पृ० ७९।

३. लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० २०३।

४. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १३७।

५. देखिए, वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९५ और आगे।

६. आसरि०, जिल्द १, पृ० ५५-५६; जिल्द १६, पृ० ६।

शासकमण्डल में एक अच्छी राजनैतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा थी। लिच्छवि संघ की तुलना विद्वानों ने प्राचीन यूनान और रोम के गणतन्त्रों से की है।^१ दुर्भाग्यवश लिच्छवियों का प्रारम्भिक इतिहास बहुत ज्ञात नहीं है। किन्तु बुद्ध के समय वे बहुत अधिक प्रकाश में आये। चेटक नामक लिच्छवि राजा की पुत्री छलना मगधराज बिम्बिसार को व्याही थी।^२ सम्भवतः वही वह वैदेहीपुत्री थी, जिसका लड़का वैदेहीपुत्र अजातशत्रु था।^३ उसकी दूसरी बहिन त्रिशला से महावीर उत्पन्न हुए थे। देवदत्तरामकृष्ण भण्डारकर का मत है कि छलना का बिम्बिसार से विवाह लिच्छवियों पर उसकी विजय के फलस्वरूप मित्रता की सन्धि की एक शर्त के रूप में हुआ था। उस युद्ध के कारण वज्जियों की बिम्बिसार ने गंगा नदी के उस पार ढकेल दिया था।^४ तिब्बती अनुश्रुतियों से भी बिम्बिसार का लिच्छवियों से युद्ध होना प्रमाणित होता है।^५

बिम्बिसार से मित्रता के बावजूद, लिच्छवियों को मगध साम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति से सतत आतंकित रहना पड़ा। अजातशत्रु मगध साम्राज्य के भौगोलिक विस्तार के लिए कृतसंकल्प था। अतः वह लिच्छवि सत्ता के समापन के लिए सचेष्ट था। परिणामतः, एक ओर उसने पाटलिगाम की किलेबन्दी की तो दूसरी ओर लिच्छवियों ने अपने अन्य समकालीन राज्यों से मित्रता स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। **मज्झिमनिकाय**^६ में कोसलराज प्रसेनजिन से उनकी मित्रता का उल्लेख मिलता है। अपनी शासन-सीमा के पश्चिम में पड़ने वाले मल्लों से भी उनकी मित्रता हो गयी थी और महावीर के मरने पर मल्लों और लिच्छवियों ने समान रूप से उनके प्रति आदर भाव प्रकट किया था। किन्तु कहीं-कहीं मल्लों और लिच्छवियों के संघर्ष की भी चर्चाएँ आती हैं। **भट्टसाल जातक**^७ (सं० ४६५) के अनुसार मल्लराजकुमार बंधुल ने लिच्छवियों पर विजय पायी थी।

१. अ० स० अल्लेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ८२; बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९; वि० च० लाहा, पूर्वनिदिष्ट, पृ० ३२७, पादटिप्पणी।
२. जैनसूत्रज्, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईष्ट सीरिज्, जिल्द २२, भूमिका, पृ० १३; छलना को कहीं-कहीं श्रीभद्रा अथवा भद्रा भी कहा गया है।
३. सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जि० १, पृ० १३९; दिव्यावदान (कॉवेल और नील), पृ० ५५।
४. कार्माइकेल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० ७३-७४।
५. राकहिल्, लाइफ ऑफ़ बुद्ध, पृ० ६४।
६. पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १००-१०१; अंगुलिमालसुत्त।
७. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ३४९-३५०।

मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के कारण अजातशत्रु का लिच्छवियों से संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। महापरिनिन्दवानसुत्त में अजातशत्रु की लिच्छवियों पर विजय की कामना का स्पष्ट वर्णन मिलता है। वहाँ कहा गया है कि लिच्छवियों ने अजातशत्रु के क्षेत्र पर आक्रमण करके उसे अप्रसन्न कर दिया। पीछे सुमंगलविलासिनी^१ का यह विवरण हम देख चुके हैं कि गंगा नदी के किनारे वाले एक बन्दरगाह से प्राप्त वस्तुओं अथवा रत्नों के बँटवारे के प्रश्न को लेकर दोनों पक्षों में झगड़ा हुआ। परन्तु अजातशत्रु का लिच्छवियों पर सीधे आक्रमण करने का साहस नहीं था। अतः उसने सुनीय और वस्सकार नामक अपने दो मन्त्रियों को गौतम बुद्ध के पास उनकी राय जानने को भेजा। भगवान् बुद्ध ने आनन्द से सात प्रश्नों और उत्तरों के माध्यम^२ से उसे यह कहला भेजा कि प्रत्यक्ष आक्रमण द्वारा लिच्छवि जीते नहीं जा सकते। अतः अजातशत्रु ने भेदनीति अपनाने का निश्चय किया। वर्षकार से एक कृतक कलह उत्पन्न करके उसे अपनी सेवा से बाहर कर दिया और लिच्छवियों ने धोखे में आकर उसे अपने यहाँ शरण दे दी तथा उसने धीरे-धीरे उनमें फूट डालकर गुप्त रूप से अजातशत्रु को उनपर आक्रमण करने का संदेश भेज दिया। इस योजना के फलस्वरूप लिच्छवियों के बीच आपसी वाद-विवाद, वैरभाव और एक-दूसरे से झूठी बराबरी का जो भाव उत्पन्न हुआ, सम्भवतः उसी की ओर ललितविस्तर में एक निर्देश किया गया है। वहाँ कथित है कि “उन लोगों में उच्च, मध्यम, ज्येष्ठ और बड़ों के आदर करने के नियम का पालन नहीं होता, कोई किसी का शिष्यत्व नहीं स्वीकार करता; सब कहते हैं कि मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ।”^३

१. पाटोसो, जिल्द २, पृ० ५१६।

२. “हे आनन्द। जब तक वज्जि एक होकर परस्पर मिलते और अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं; जब तक वे ऐसा कोई नियम नहीं बनाते हैं, जो पहले से नहीं चला आ रहा है; और किसी ऐसे नियम को रद्द नहीं करते हैं, जो पहले से चला आ रहा है; तथा प्राचीनकाल में स्थापित प्राचीन वज्जियों के प्राचीन नियमों के अनुसार चलते हैं; जब तक वे वज्जि-वृद्धों का आदर-सत्कार और मान करते रहेंगे, उनका साथ देते रहेंगे, उनकी बात सुनना अपना कर्तव्य समझते रहेंगे, तब तक वज्जियों के क्षीण होने की नहीं समृद्ध होने की आशा है। सैक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईष्ट, जिल्द ११, पृ० ३-४ के उद्धरण का हिन्दी अनुवाद, मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० २१८ पर उद्धृत।

३. नोच्च मध्यमवृद्ध ज्येष्ठानुपालिता एकैक एवमन्यते अहं राजा अहं राजेति । न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति । ललितविस्तर, अध्याय ३।

अजातशत्रु वज्जि-लिच्छवि संघ पर विजयी तो हुआ, किन्तु लिच्छवि-क्षेत्रों को बहुत दिनों तक मगध में आत्मसात नहीं रख सका तथा लिच्छवि पूरी तरह समाप्त नहीं किए जा सके। सम्भवतः उन्होंने कुछ दिनों के लिए मगध की अधिसत्ता स्वीकार कर ली और अपने आन्तरिक मामलों में पूरी तरह स्वतंत्र बने रहे।^१ इसी प्रकार मौर्यों के समय भी लिच्छवि एक स्वतन्त्र संघ के रूप में बने रहे। यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रमाणित है, जहाँ उनकी गिनती राजशब्दो-जीविन् संघों में की गयी है।

लिच्छवि गणतन्त्र के संविधान के स्वरूप के बारे में बड़ा विवाद है। उस संघ का स्वरूप क्या था, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। संघों और गणों पर सबसे पहले विचार करने वाले भारतीय विद्वान् थे काशी प्रसाद जायसवाल।^२ अट्ठकथा और एकपर्णजातक के आधार पर उन्होंने लिच्छवि संघ में राजा, उपराजा, सेनापति और भांडागारिक नामक चार अधिकारियों के होने की बात कही। उनके मत में इन्हीं चारों द्वारा सर्वप्रधान शासनकारी मण्डल निर्मित होता था। चुल्लार्कालग जातक (सं० ३०१) और एकपर्णजातक (सं० १३९) से ज्ञात होता है कि लिच्छवियों में सात हजार सात सौ सात राजा होते थे।^३ इस आधार पर रमेशचन्द्र मजूमदार ने यह अनुमान लगाया कि “लिच्छविगण की सात हजार सात सौ सात इकाइयाँ थीं, जो आपस में मिलकर एक वृहद्गण अथवा संघ का निर्माण करती थीं”। उनके शब्दों में सर्वोच्च सभा के प्रत्येक सदस्य के पास राज्य के प्रशासन के लिए आवश्यक अधिकारियों का पूरा वर्ग था, जिससे यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक सदस्य प्रशासन की इकाई का प्रमुख था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण राज्य में अनेक प्राशासनिक इकाइयाँ थीं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में एक छोटा सा राज्य थी और उसमें पूर्ण प्रशासनतन्त्र विद्यमान था। सम्पूर्ण राज्य का कार्यभार चलाने के लिए एक सभा थी, जिसमें इन राज्यों के प्रमुख सम्मिलित थे। ये प्रमुख अपने मुख्य अधिकारियों की सहायता से अपने लघु राज्य का शासन करते थे। जो लोग एथेन्स के नगर राज्य वाले क्लाइस्थेनोज् संविधान से परिचित हैं, उन्हें निश्चित

१. वि० च० लाहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३२९-३०।

२. हिन्दूराजतन्त्र (हिन्दू पालिटी का हिन्दी अनुवाद, रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ० ६७।

३. सत्तसहस्रानि सत्तसत्तानि च राजानो ह्येति, तत्तकाएव उपराजानो तत्तका सेनापतिनो, तत्तका भांडागारिका। जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ५०४; जातक, जिल्द ३, पृ० १।

रूप से वैशाली नगर में उसके मूल रूप में दर्शन होंगे, क्योंकि एथेन्स में भी एक केन्द्रीय सभा थी, जिसमें डेम नामक स्थानीय लघुतम इकाइयों के प्रतिनिधियों का समावेश था। ये इकाइयाँ, जो अधिकारियों, सभाओं और सामूहिक सम्पत्ति से युक्त निगम थीं, अपने स्थानीय कार्यों का प्रबन्ध स्वयं करती थीं।”^१

चुल्लकार्लिंग जातक से यह भी ज्ञात होता है कि वैशाली गण की केन्द्रीय सभा के सदस्य अपनी सदस्यता ग्रहण करने के पूर्व वैशाली में स्थित एक सरोवर में अभिषेक स्नान करते थे।^२ इससे बड़ा स्पष्ट है कि इन सदस्यों का अत्यधिक महत्त्व और उत्तरदायित्व था। मजूमदार^३ के शब्दों में “यह धार्मिक कृत्य ही अपने आप में सदस्यों में निहित उच्चतम विश्वास तथा उनके पद से सम्बद्ध महान् उत्तरदायित्वों का एक अकाट्य प्रमाण है।” लिच्छविगण का एक केन्द्रीय संस्थागार होता था, जिसमें उसके राजा अर्थात् सदस्य इकट्ठे होकर धर्म, राजनीति और सैन्य सम्बन्धी सभी विषयों पर विचार करते थे। इन विषयों में कृषि और व्यापार भी सम्मिलित थे।^४ जब ये सदस्य संस्थागार में इकट्ठे होते थे तो उनके आगमन के लक्षणस्वरूप घण्टे और घड़ियाल बजाये जाते थे।

लिच्छवि संघ के सदस्यों में जब तक सौमनस्य बना रहा, तब तक उनके संघ का विकास और वृद्धि हुई। अजातशत्रु जैसा शक्तिशाली सम्राट् भी बहुत समय तक उनका कुछ बिगाड़ न सका। किन्तु बाद में लिच्छवियों के सभी राजा अपने को एक दूसरे के बराबर समझते हुए आपस में ही लड़ने लगे। इसी स्थिति का उल्लेख उनके गण के प्रति टीका भाव से ललितविस्तर^५ में हुआ है। उनके आपस के इस विवाद की इस बुरी स्थिति में ही वैशाली के लिच्छवियों का पतन हुआ होगा।

लिच्छविगण की सबसे बड़ी विशेषता उसके न्याय-प्रशासन में दिखायी देती है। यहाँ पर लोकतंत्र और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की हर तरह से रक्षा की सबसे

१. प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० २२१।

२. वैशाली नगरे गणराजकुलानम् अभिषेकमण्डलपोखरिणम्।

जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, पृ० १४८।

३. मजूमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२१।

४. हिन्दू राजतंत्र, पृ० ६८; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १७८।

५. नोच्च मध्यमवृद्ध ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एवमन्यते, अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति। ललितविस्तर, अध्याय ३।

उत्कृष्ट भावना का परिचय हमें मिलता है। अट्ठकथा^१ से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई अपराधी होता था तो उसके अपराध की जाँच के लिए क्रमशः कई अदालतें होती थीं। इनमें यदि कोई भी एक अदालत उसे छोड़ देती तो वह निरपराध मान लिया जाता था और आगे उसके मुकदमे की कोई कार्यवाही नहीं चलती थी। नीचे की अदालतों में अपने को दोषी ठहराये जाने पर अभियुक्त ऊपर की अदालतों में अपील कर सकता था। जब सभी अदालतें उसे एक दूसरे के बाद दोषी ठहराती जाती थीं, तभी उसे दण्ड दिया जाता था, अन्यथा नहीं। नीचे से ऊपर तक की अदालतों की अव्यक्षता क्रमशः विनिश्चयमहामच्च (विनिश्चय-महामात्य), बोहारिक (व्यावहारिक), सुत्तधर (सूत्रधर), अट्ठकुलक (अष्टकुलक), सेनापति, उपराजा और राजा द्वारा की जाती थी। राजा अर्थात् गणप्रधान के निर्णय के विरुद्ध कोई भी अपील कहीं नहीं की जा सकती थी। राजा अपना निर्णय सुनाने के पूर्व पहले की नजीरों अथवा दृष्टान्तों को देखता था, जो पवेनिपोत्थकानि (पवीन पुस्तक अर्थात् पूर्व दृष्टान्तों के ग्रन्थों) के नाम से जाने जाते थे। रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में “इस प्रकार अधिकारों की रक्षा जिस रीति से की जाती थी, इसके कम ही उदाहरण संसार में मिलते हैं। अपराधी को केवल उसी दशा में दण्ड दिया जा सकता था जबकि ऊपर गिनाये हुए सातों न्यायालय उसे एक मत होकर अपराधी पा चुके हों। उनमें से यदि एक भी न्यायालय अपराधी को निर्दोष पाता तो वह दण्ड से पूर्णतः सुरक्षित था। स्वयं जनता द्वारा शासित राज्यों में जनता के अधिकारों की रक्षा करना उचित ही है।”

गणतंत्रों की केन्द्रीय सभाओं की कार्यपद्धति

का० प्र० जायसवाल ने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया था कि बुद्ध ने अपने बौद्ध संघ के भीतर विचार-विमर्श सम्बन्धी कार्यवाही-पद्धति अपने समकालीन गणतंत्रों की केन्द्रीय सभाओं की कार्यपद्धति से यथावत् ले ली थी।^२ यह मत बाद

१. द्रष्टव्य, इस महत्त्वपूर्ण वचन का टर्नर कृत अनुवाद, जर्नल ऑफ़ एशियाटिक् सोसाइटी ऑफ़ बेंगाल, जिल्द ७, पृ० ९९३-९४। इस विषय पर सबसे पहला विचार का० प्र० जायसवाल ने किया था और कलकत्ता की माडर्न रिव्यू नामक पत्रिका में (१९१३ पृ० ६६४ और आगे) अपने शोध पत्रों के रूप में क्रमवार प्रकाशित किया था। देखिए, हिन्दू पॉलिटी, द्वितीय संस्करण की भूमिका।

२. प्राचीन भारत में संघटित जीवन, २० चं० मजूमदार, पृ० २२५।

३. माडर्न रिव्यू, १९१३, पृ० ६६४ और आगे; हिन्दू पॉलिटी, द्वितीय (अंग्रेजी) संस्करण, पृ० ९०-९१।

में देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर और २० चं० मजुमदार जैसे विद्वानों ने स्वीकार कर लिया।^१ संघों की कार्यवाही-पद्धति विनयपिटक के चुल्लवग्ग (१२/२/७) में प्राप्त होती है, जिसके आधार पर अनेकानेक विद्वानों ने उसका विवरण दिया है। वह विवरण प्रायः प्रत्येक स्थान पर एक दूसरे के पिष्टपेपण जैसा ही है। अतः यहाँ पर वह विवरण संक्षेप रूप में ही हमारे लिए पर्याप्त होगा।

केन्द्रीय संस्थागारों में सदस्यों के बैठने की जगह निश्चित होती थी। जो अधिकारी उसका नियंत्रण करता था, उसे आसनपञ्जापक (आसनप्रज्ञापक) कहा जाता था। वैशाली की बौद्ध संगीति में अजित नामक एक भिक्षु इस पद पर नियुक्त किया गया था, जिसका भिक्षु जीवन दस वर्षों से अधिक का था। बैठकें तब तक नहीं हो सकती थीं, जब तक एक निश्चित गणपूर्ति^२ (कोरम) नहीं होती जाती थी। इस गणपूर्ति के लिए भी अधिकारी होता था, जिसे गणपूरक कहते थे। यदि कोई निर्णय गणपूर्ति के अभाव में हो जाता था तो वह अवैध माना जाता था।^३ का० प्र० जायसवाल^४ के मत में कोई भी प्रस्ताव पूर्वसूचना (वाति = ज्ञप्ति) के बिना नहीं उपस्थित किया जा सकता था। प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहा जाता था। उसकी प्रक्रियाओं में कम्मवाचा (प्रस्ताव को विधिवत् उपस्थित करना) और अनुश्रावण (संघ को सुनाना) सम्मिलित होता था।^५ संघ जिस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेता था उसे धारण कहते थे। विनयपिटक^६ में बुद्ध ने स्पष्ट रूप से बताया है कि इन सम्बन्धों की कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ सही थीं और कौन-कौन सी गलत। का० प्र० जायसवाल^७ ने उस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि सभाओं में प्रत्येक प्रस्ताव के लिए चार ज्ञप्तियाँ और तीन कम्मवाचायें होती थीं। प्रस्तावों की स्वीकृति मतदान द्वारा होती थी, जिसे छन्द कहा जाता था। बौद्ध

१. कामाङ्किल् लेक्चर्स, १९१८, पृ० १८४; प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० २१९; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० १७७-१७८।
२. विनयपिटक, महावग्ग, ९/४/१।
३. वहीं; देखिए, हिन्दू पॉलिटी, द्वितीय (अंग्रेजी) संस्करण, पृ० ९३।
४. वहीं, पृ० ९१।
५. विनयपिटक, महावग्ग, ९/१/६-९ तक; सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १०५, ३०१ और आगे, ३४७।
६. विनयपिटक, महावग्ग, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०१ और आगे।
७. हिन्दू पॉलिटी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९१ और आगे।

संघ का नियम था कि उन अनुपस्थित भिक्षुओं के भी मत अथवा छंद इकट्ठे किये जायँ जो बीमारी अथवा अन्य किसी कारणवश भिक्षु सभाओं में उपस्थित नहीं हो सकते थे। ऐसा न करने पर कार्यवाही अवैध मानी जाती थी।^१ किन्तु अनुपस्थित भिक्षुओं के ये मत तभी मान्य होते थे, जब उपस्थित भिक्षुओं की सभा उन्हें स्वीकार करती थी।^२

ऐसा प्रयत्न किया जाता था कि निर्णय सर्वसम्मति से हों। किन्तु यह सर्वदा असंभव था। अतः निर्णयों के लिए मतदान की प्रथाएँ प्रचलित थीं। मतदान में बहुमत (यद्भूयसिका क्रिया^३) को स्वीकार किया जाता था। उदाहरणस्वरूप, शाक्यों पर जब विडूडभ ने आक्रमण किया तो उसने उनके पास कपिलवस्तु के किलों के द्वारों को खोल देने के लिए संदेश भेजा। शाक्यों ने यह संदेश पाने पर अपने संस्थागार में उपस्थित होकर बहुमत जानने का निर्णय लिया।^४ विभिन्न मतों अथवा पक्षों की जानकारी के लिए सदस्यों को लकड़ी की शलाकाएँ दी जाती थीं, जो विभिन्न रंगों की होती थीं। इन शलाकाओं को बटोरने वाला अधिकारी **शलाकाग्राहक** (शलाकाग्राहक) कहा जाता था, जो बड़ा ही जिम्मेदार व्यक्ति होता था। बुद्ध की आज्ञा थी कि पंचगुणों से सम्पन्न अर्थात् निष्पक्ष, ईर्ष्याहीन, बुद्धिमान्, निर्भय तथा स्मरण करने वाला और यह याद रखने वाला कि कौन सी शलाका प्राप्त कर ली गयी और कौन सी नहीं—व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्त किया जा सकता था।^५ मत व्यक्त करने के तीन तरीके होते थे—**गुल्हकम्** (गुप्त मतदान); **सकर्णजप्पकम्** (सकर्णजल्पकम्) अर्थात् धीरे-धीरे कानाफूँसी अथवा बातचीत करके और **विबटकम्** (विकृतकम्) अर्थात् खुले रूप में एक दूसरे को बताकर।^६

किसी भी विषय पर विचार करते समय प्रश्न से सम्बद्ध व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की पूरी तरह सुनवाई होती थी। कभी-कभी विषय की गम्भीरता को देखकर प्रवर समितियों को भी मामले सुपुर्द किये जाते थे। शलाकाग्राहकों की

१. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०२।

२. वहीं, पृ० ३०३।

३. वहीं, पृ० ३०४।

४. राँकहिल्, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० ११८-११९।

५. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४०२।

६. वहीं, पृ० ४१४-४१५।

ही तरह इन प्रवर समितियों के सदस्यों की भी योग्यताएँ निश्चित थीं।^१ प्रवर समितियों को उद्वाहिका कहा जाता था और आदर्श यह था कि उनमें निर्णय सर्वसम्मति से हों। किन्तु ऐसा न हो सकने की स्थिति में वहाँ भी बहुमत के निर्णय का प्रयोग होता था। जायसवाल^२ का मत है कि इन सभाओं की कार्यवाहियों को लिखने के लिए लेखक हुआ करते थे।

१. वहीं, पृ० ४१०-४१२।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५८।

षष्ठ अध्याय

सामाजिक संगठन

परम्परागत सामाजिक विभाजन

त्रिपिटक में यद्यपि वैदिक हिन्दू वर्णव्यवस्था का सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया है, तथापि व्यवहार में प्रचलित समाज के चार वर्णों और उनसे सम्बद्ध अनेकानेक जातियों को स्वीकृति अवश्य प्रदान की गयी है। मज्झिमनिकाय^१ के कण्णकथालसुत्त में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र में प्रथम दो को आसनदान, हाथ जोड़कर अभिवादन तथा संवाद के लिए अधिक योग्य कहा गया है। त्रिपिटक के प्रारम्भिक अंशों के अतिरिक्त जातकों में यह स्थिति और भी स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। एक जातक^२ के अनुसार ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को अध्ययन के लिए, क्षत्रियों को आज्ञा देने के लिए, वैश्यों को कृषि करने के लिए और शूद्रों को अन्य लोगों की आज्ञाओं को मानने के लिए ही पैदा किया है। सीलविमंस जातक (सं० २९०) के अनुसार जाति और वर्ण मनुष्य का समाज में स्थान निश्चित करने के आधार हैं। किन्तु त्रिपिटक के प्रायः सभी स्थानों पर जन्म से अधिक महत्व कर्म को दिया गया है। अंगुत्तरनिकाय^३ में कथित है “कम्मस्सकोम्हि, कम्मदायादो, कम्मयोनि, कम्मबन्धु, कम्मपटिसरणो, यं कम्म करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामीति अभिवहं पच्चवेक्खितव्वं गहट्ठेन वा पव्वजितेन वा”—अर्थात् “जो कुछ भी है, कर्म ही है, कर्म ही दायाद है, कर्म ही से उत्पत्ति है, कर्म ही बन्धु है, कर्म ही शरणस्थान है, जो भी मैं अच्छा-बुरा

१. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० ९०, पृ० ३७२; तुलनीय विनयपिटक, नवाँ, १.४; वहाँ कथित है कि जैसे गंगा, यमुना, सरयू, अचिरावती और मही जैसी महानदियाँ समुद्र में गिरकर अस्तित्व खो देती हैं, उसी प्रकार हे भिक्षुओं! क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जातियाँ गृहत्याग के बाद भिक्षु हो जाने पर अपनी जाति छोड़कर समण कहलाने लगती हैं।

२. अञ्जनेन अरिया पठवि जनिदा वस्सा कसि परिचारिक् च सुदा ।

उपागु पञ्चेकं यथा पदेसं कथा हुएते वसिना' ति आहु ॥

जातक, फॉसबॉल, जि० ६, पृ० २०७ ।

३. अंगुत्तरनिकाय, पंचक निपात, द्वितीय पण्णासक, प्रथम वर्ग, सातताँ सूत्र ।

कर्म कहेंगा, उसका मैं उत्तराधिकारी होऊँगा।” तथापि सिद्धान्त रूप में रतिलाल मेहता और हॉपकिन्स का यह निष्कर्ष स्वीकार किया जा सकता है कि “उस समय के समाज के सुधारवादी वर्ग ने चाहे जितना भी प्रयत्न किया हो, और आजकल की ही तरह जन्म, जाति, वेद और ब्राह्मणों की महत्ता को चाहे जितना भी कम आँकने का प्रयत्न किया हो, तथा मुक्ति के लिए गुण और कर्म की विशेषता के लिए चाहे जो भी जोर दिया हो, समाज का उपर्युक्त चार वर्णों में विभाजन एक वास्तविक तथ्य था।” रिचर्ड फिक्^२ के अनुसार बौद्ध लेखकों ने कहीं भी जाति (वर्ण) व्यवस्था का विरोध कर एक नये सामाजिक संगठन की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया। उनका प्रयत्न केवल इस लक्ष्य तक सीमित था कि वे यह दिखावें कि मुक्ति के लिए जाति का कोई भी मूल्य नहीं है।

इस परम्परागत सामाजिक विभाजन के अनुसार ही पालि साहित्य के अनेक स्थलों पर हम ब्राह्मणों को अपनी श्रेष्ठता का दावा प्रदर्शित करते हुए पाते हैं। मधुर अवन्तिपुत्र कहता है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, शुक्ल वर्ण है, पवित्र है। ब्रह्मा के मुख से उसकी उत्पत्ति है, वही ब्रह्मा का प्रतिनिधि है।^३ वास्तव में जातिवाद की भावना तत्कालीन समाज में इतनी बद्धमूल थी कि उसका विरोध करने वाले अनेक उच्चकुलीन भिक्षु बौद्ध संघ में सम्मिलित हो जाने पर भी अपनी उच्चकुलोत्पत्ति को भुलाने के लिए तैयार नहीं थे। अंगुत्तरनिकाय और उदान से ज्ञात होता है कि अनेक भिक्षु अपने को ब्राह्मण भिक्षु अथवा उच्चकुलोत्पन्न भिक्षु ही कहलाना चाहते थे।^४ स्वयं बुद्ध के जन्म की बातें जहाँ-जहाँ कही गयी हैं, वहाँ उनके जन्म के लिए क्षत्रिय कुल ही श्रेष्ठ बताया गया है।^५ बड़ा स्पष्ट है कि बुद्ध और उनके अनुयायियों में ब्राह्मणों की तरह ही अपने

१. हॉपकिन्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जिल्द १, पृ० २६०; रतिलाल मेहता द्वारा उद्धृत, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २४५; बहुत वर्ष पूर्व प्रायः इसी प्रकार का मत नृपेन्द्र कुमार दत्त ने अपनी पुस्तक ‘ओरिजिन् ऐण्ड ग्रीथ ऑफ़ कास्ट इन् इण्डिया’ में व्यक्त किया था। देखिए, कलकत्ता प्रकाशन, १९६२, पृ० २१५-२१६।
२. दि सोशल आर्गनाइजेशन इन् नार्थ ईष्ट इण्डिया इन बुद्ध’ज् टाइम, इण्डो-लॉजिकल् बुक हाउस, १९७२, पृ० ३१।
३. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३४३।
४. अंगुत्तरनिकाय, पाटेशो, जिल्द० १, पृ० १९; उदान, १’५, हिन्दी अनुवाद, पृ० १-६।
५. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ४९।

वर्ण अथवा जाति की विशेषता का भाव, जाति सम्बन्धी सुधारवाद की सारी बातों के होते हुए भी, बना हुआ था ।

भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का एक पक्ष यह था कि केवल जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति की विशेषता अथवा उसकी उच्चता न स्वीकार की जाय, बल्कि उसके गुण और कर्म पर विशेष बल दिया जाय । वास्तव में तत्कालीन समाज के दो ऊपरी वर्ण, ब्राह्मण और क्षत्रिय, उत्पत्ति के कारण अपने गौरव और महत्त्व को दूसरों पर लादान चाहते थे और उस आधार पर समाज में अनेक सुविधाएँ एवं महत्ताएँ प्राप्त करना चाहते थे । बुद्ध जिस शाक्य कुल में पैदा हुए थे, वह अपने को ब्राह्मणों की अपेक्षा तो अधिक उत्तम मानता ही था, क्षत्रियों में भी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझता था । इस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अपनी-अपनी श्रेष्ठता के दावे बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर दिखायी पड़ते हैं । अम्बष्ठसुत्त में ब्राह्मण विद्यार्थी अम्बष्ठ शाक्यों की इस बात के लिए निन्दा करता है कि वे उसके उनके संस्थागार में पहुँचने पर उसे बैठने के लिए स्थान देना तो दूर रहा, उससे सीधे मुँह बात तक नहीं करते । इस बात का जब वह बुद्ध से प्रतिवाद करता है तो बुद्ध भी उसकी श्रेष्ठता के दावे पर चोट करते हुए उसकी ओछी उत्पत्ति को दिखाने का प्रयत्न करते^१ हैं । इसी प्रकार जब ब्राह्मण अस्सलायन उनसे ब्राह्मणों के वर्चस्व का दावा करता है तब भी वे उस दावे का खण्डन करते हैं ।^२ तथापि अपनी श्रेष्ठता के भाव के कारण ही अनेक अवसर पर ब्राह्मण लोग बुद्ध को या तो 'भो गोतम !' कहकर सम्बोधित करते हैं अथवा कभी-कभी अप्रसन्न होने पर उन्हें 'समण' शब्द मात्र से सम्बोधित करते हैं ।^३

अपनी-अपनी सामाजिक महत्ता का ब्राह्मण-क्षत्रियों का यह भाव सारे बौद्ध साहित्य में देखने को मिलता है । इसके पीछे मूलतः केवल जन्ममात्र से प्रधान अथवा महत्त्वपूर्ण होने का भाव विद्यमान था । बुद्ध जन्म से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के इस दावे को चुनौती देते हुए कर्म की महत्ता का जहाँ उपदेश देते भी हैं, वहाँ भी वे यह कहते हैं कि जहाँ केवल जन्म से ही श्रेष्ठता का आधार माना जाय,

१. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३५-३७ ।

२. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३९०-३९१ ।

३. दीघनिकाय, पाटेशो०, जिल्द १, पृ० १०८, ११८-१२६; १३४; मज्झिमनिकाय, पाटेशो०, जिल्द २, पृ० १६५-१६८; संयुत्तनिकाय, पाटेशो०, जिल्द ५, पृ० २१७, २१९; अंगुत्तरनिकाय, पाटेशो०, जिल्द ४, पृ० ४१-४६ ।

वहाँ भी क्षत्रिय ही ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं।^१ इस सम्बन्ध में फिक् महोदय का यह मत है कि बुद्ध का यह वक्तव्य ब्राह्मणों के अपने वर्चस्व के दावे की प्रतिक्रिया के रूप में ही लिया जाना चाहिए।^२ किन्तु शाक्यों में प्रचलित अपनी जाति के वर्चस्व और श्रेष्ठता की भावना के परिप्रेक्ष्य में बुद्ध के उपर्युक्त कथन को केवल प्रतिक्रिया मात्र नहीं माना जा सकता।

तथापि बुद्ध को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने जन्मना-जाति के सिद्धान्त पर कठोर आघात किया तथा चरित्र, कर्म और गुण को महत्त्व प्रदान करते हुए ही किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार करने का उपदेश दिया। सुत्तपिटक के अनेक सन्दर्भ इस सम्बन्ध में बड़े प्रमुख रूप से सामने आते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय का वासेट्ठसुत्त, दीघनिकाय का अम्बष्ठसुत्त और अगञ्जसुत्त, सुत्तनिपात का वसलसुत्त और सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त तथा धम्मपद के अनेक स्थल इसमें प्रमुख हैं। इसी तरह उन्होंने उसी को सच्चा ब्राह्मण माना, जो तप, ब्रह्मचर्य, संयम और इन्द्रियदमन जैसे गुणों से युक्त हो।^३ उनके अनुसार, सच्चा ब्राह्मण वही है जो मातृ और पितृ दोनों पक्षों से उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो, वेदों को पढ़ाता हो, मन्त्र ज्ञाता हो, तीनों वेदों को जानता हो, सुदर्शन हो, अच्छे आचरण वाला हो, पण्डित हो, तीक्ष्णबुद्धि हो और यज्ञ की दक्षिणा प्राप्त करने वाले अधिकारी लोगों में प्रथम अथवा द्वितीय स्थान रखता

१. "इति खो अम्बट्ट, यदापि खत्तियो परमनिहीनंतं यतो होति तदापि खत्तिया एव सेट्ठा, हीना ब्राह्मणा। ब्रह्मापि एसा अम्बट्ट सनं कुमारेणगाथा भासिना खत्तियो सेट्ठो जने तस्मिं ये गोत्तपटिसारितो, विज्जाचरण सम्पन्नो सो सेट्ठो देव मानुसेति।" दीघनिकाय, जिल्द १, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० १११; प्रायः यही श्लोक संयुत्तनिकाय (पाटेसो०, २/१) और दीघनिकाय के अगञ्जसुत्त में भी प्राप्त होता है।

२. देखिए, रिचर्ड फिक्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८५।

३. न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं। भोवापि नामसो होति, सच्चे होति सकिञ्चनो॥ अकिञ्चनं अत्तादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। श्लोक सं० २७; "तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च। एतेन ब्राह्मणो होति, एवं ब्राह्मण-मुत्तमं। सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद, वासेट्ठसुत्त, पृ० १६५-१७१; इस सम्बन्ध में श्लोक सं० ६२ तथा सुत्तनिपात का ही ब्राह्मणधम्मिकमुत्त भी देखिए, हिन्दी अनुवाद, पृ० ७३-७९ तथा धम्मपद का ब्राह्मणवगो, पृ० २४७-२७६ तक।

हो।^१ उद्दालक जातक (सं० ४८७) के अनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल अथवा पुक्कुस भी दयालु हों तो निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। सोलविमंस जातक^२ के अनुसार जाति और वर्ण की भावना से केवल घमण्ड ही पैदा होता है। वास्तव में शील अथवा गुण ही सर्वोत्तम है। यदि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल और पुक्कुसों ने उत्तम शीलयुक्त व्यवहार किया है, तो वे सभी देवयोनि में उत्पन्न होने के अधिकारी हैं।

बुद्ध के उपदेशों में और सामान्य रूप से प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में, वर्ण व्यवस्था की तीन दृष्टिकोणों से आलोचना है और मनुष्य मात्र की समता का उपदेश है। प्रथम तो यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि चूँकि मनुष्यों में पशुपक्षियों और पेड़-पौधों की भाँति अलग-अलग निश्चित प्रकार नहीं होते, इसलिए मनुष्य मात्र को एक जाति का मानना चाहिए।^३ इसी तर्क का अश्वघोष की तथाकथित वज्रसूची में प्रचुर विस्तार मिलता है। वास्तव में, सम्भवतः सम्पूर्ण बौद्ध वाङ्मय में इसी ग्रंथ के सूक्ष्म तर्कों का ब्राह्मण अर्थव्यवस्था पर सबसे तीखा और आश्चर्यकर प्रहार है। ठीक इसी आलोचना का दूसरे प्रकार का उद्देश्य यह था कि सृष्टि और समाज की उत्पत्ति के विवेचन के माध्यम से यह स्थापित किया जाय कि सभी प्राणी एक ही मूल के हैं, जिनमें बाद में कर्म और आचरण के कारण अन्तर पड़ गया।

तीसरा तर्क बौद्ध धर्म के सम्पूर्ण दृष्टिकोण में लक्षित है, और वह यह है कि जीवन के चरम लक्ष्य-दुःख-निवृत्ति या निर्वाण-प्राप्त करने के सभी मनुष्य समान अधिकारी हैं और उचित मार्ग का अनुसरण कर उसे वे प्राप्त कर सकते हैं।^४

किन्तु बुद्ध के आदर्श वचनों का वर्ण और जाति के सम्बन्ध में जन्म की महत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ा अथवा सामाजिक अवधारणाओं में वे कोई गुणात्मक परिवर्तन ला सके या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है। कुछ विद्वानों के मत में उनके उपदेशों का भिक्षुसंघ के अतिरिक्त अन्यत्र कोई प्रभाव

१. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, सोणदण्ड सुत्त, पृ० ४५।

२. जातक सं० ३६२, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ३, पृ० ३५६-३५७ की गाथायें १ से ५ तक उपर्युक्त प्रकार का ही भाव प्रकट करती हैं। और देखिए, अम्बजातक, सं० ४७४, जिल्द ४, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४०१-४०२।

३. देखिए, सुत्तनिपात का वासेट्टसुत्त। मज्झिमनिकाय के वासेट्टसुत्त में भी यह उल्लेख प्राप्त होता है।

४. उद्दालक जातक, सं० ४८७।

नहीं पड़ा।^१ किन्तु इस सम्बन्ध में किसी निर्णयात्मक साक्ष्य के अभाव में कुछ निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता।

ब्राह्मण वर्ण की सामाजिक स्थिति

जनसाधारण की दृष्टि में समाज का वर्ण अथवा विभिन्न जातियों में वर्गीकरण स्वयं ब्रह्मा ने किया था। साधारणतया समाज में ब्राह्मणों का सर्वोपरि स्थान था। यद्यपि बौद्ध साहित्य वह स्थान क्षत्रियों को देता है, तथापि न तो स्वयं ब्राह्मण क्षत्रियों से अपनी हीनता स्वीकार करने को तैयार थे और न साधारण समाज ही उनके सामाजिक वर्चस्व को अस्वीकृत कर सका था। पालि साहित्य के अनेक स्थलों से यह ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण अपने प्राचीन गुणों से तथा अपने ही धर्मशास्त्रों द्वारा विहित कर्मों से च्युत हो गये थे। तदनुसार, वे अपने शरीर के अंगों को सुन्दर वस्त्रों, आभूषणों और सुगन्धियों से सुसज्जित करते थे, बहुत बढ़िया स्वाद वाला भोजन करते थे, मदिरापन भी करते थे, बड़े-बड़े रथों में बैठकर निकलते थे, नौकरों-चाकरों से घिरे रहते थे और प्रचुर धनसम्पत्ति के मालिक होते थे।^२ बड़ा स्पष्ट है कि समाज के सभी ब्राह्मण अपने आदर्शों का पालन करने में निरपवाद रूप में समर्थ नहीं थे। उनमें अनेक ऐसे थे, जो अन्य वर्णों के साधारण गृहस्थों से बहुत भिन्न नहीं थे। तथापि सुत्तपिटक के अनेक स्थलों के अनुसार अनेक वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले, तपस्यावृत्ति में लीन,^३ इतिहास, व्याकरण, लोकायत और अन्य विद्याओं के मर्मज्ञ तथा पारम्परिक ढंग से रहने वाले तथा वेदाध्ययन और अध्यापन के लिए बड़े-बड़े विद्यालयों की व्यवस्था करने जैसे ब्राह्मणों के लिए सचमुच आदर्श कर्मों में लगे हुए थे। सुनेत और सेल जैसे प्रकांड ब्राह्मण पंडितों के यहाँ विद्यार्थियों का जमघट लगा रहता था।^४ विद्यादान करने वाले, वेदाध्ययन में लीन तथा यज्ञ की अग्नि जलाने वाले ब्राह्मणों में अनेक के नाम सुत्तपिटक के प्राचीन अंशों में प्राप्त होते

१. देखिए, मदनमोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ० १४-१५।

२. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, ब्रह्मजालमुत्त, पृ० २-३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेमो०, जिल्द २, पृ० ५३-५४; जातक, फॉसबॉल, जिल्द ० १, पृ० ४२५।

३. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० ३३३, ३६१, ३७३, ४५०; जिल्द २, पृ० ८५-१३१, २३२, २६२, ३९४, ४११ इत्यादि।

४. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३८३-३८६; अंगुत्तर निकाय, महा-बोधि प्रकाशन, पृ० १७०-७१।

हैं। इन कार्यों के बदले उन्हें राजाओं से प्रभूत दान और ब्रह्मदेय ग्राम प्राप्त होते थे। चम्पाग्राम को ब्रह्मदेय में प्राप्त करने वाला ब्राह्मण सोणदण्ड, बिम्बिसार से खाणुमत ग्राम प्राप्त करने वाला ब्राह्मण कूटदन्त, कोसलराज प्रसेनजित से विभिन्न ग्रामों को प्राप्त करने वाले कसि भारद्वाज, पोक्खरसाति, तोदेय्य और तारुक्ख जैसे अनेक महाशाल विद्वान् ब्राह्मणों के उल्लेख दीघनिकाय^१ में प्राप्त होते हैं। तेविज्जसुत्त^२ में कहा गया है कि एक बार “बहुत से अभिज्ञात (प्रसिद्ध) अभिज्ञात महाघनिक (महाशाल) ब्राह्मण मनसाकट में निवास कर रहे थे, जैसे चंकि ब्राह्मण, तारुक्ख (तारुक्ष), पोक्खरसाति (पीष्करसाति) ब्राह्मण, जानु-सोणिब्राह्मण, तोदेय्य ब्राह्मण और दूसरे भी अभिज्ञात और अभिज्ञात ब्राह्मण महाशाल।” इसी प्रकार महागोविन्द सुत्त^३ में भी सात ब्राह्मण महाशालों (महाघनी) और सात सौ स्नातकों का उल्लेख है।

ब्राह्मणों के अनेक गाँवों और बस्तियों की एक सूची देते हुए नरेन्द्र वागले^४ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस प्रकार के ब्राह्मण गाँव मुख्यतः कोशल और मगध जैसे नृपतन्त्रों के अधीन थे। एकनाला, खाणुमत और पंचशाल नामक गाँव मगध में थे तथा इच्छानगल, वेणुद्वार, ओपसाद, नगरविन्द, वेनागपुर, साला और मनसाकट कोशल में स्थित थे। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे गाँव कोशल और मगध के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं थे, तथापि इन दोनों क्षेत्रों में संभवतः ब्राह्मण लोग राजनीतिक प्रभाव और संख्या दोनों ही दृष्टियों से सम्भवतः अधिक प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। वागले का यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है^५ कि ये गाँव ब्रह्मदेय थे और राजाओं की ओर से प्रमुख ब्राह्मणों को दान में मिले थे, जहाँ की सारी भूमि का स्वामित्व उनके हाथों में था। धीरे-धीरे उन गाँवों में ब्राह्मण परिवारों की बहुलता होने के कारण उन्हें ब्राह्मण ग्राम भी कहा जाने लगा। इन ब्राह्मण गाँवों में ब्राह्मण गृहपतियों की चर्चाएँ आती हैं। सम्भवतः ब्राह्मण गृहपति से ब्राह्मण गृहस्थ का बोध होता था।^६ वागले^७ का यह भी

१. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३४, ३५, ४०, ४१, ४२, ४४, ४८, ५०, ८६; कसिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात, पृ० १८-१९।

२. वहीं, सुत्त सं० १/१३, पृ० ८६।

३. वहीं, सुत्त सं० २/६, पृ० १७१।

४. सोसाइटी ऐट दि टाइम ऑफ दि बुद्ध, पृ० १८।

५. वहीं, पृ० १९।

६. वहीं; पृ० १९; देखिए, वहीं की पादटिप्पणी ६७, पृ १६५।

७. वहीं, पृ० १९।

निष्कर्ष है कि सम्भवतः अपनी धन-सम्पत्ति की प्रचुरता के कारण कुछ ब्राह्मण गाँवों ने अपनी किलेबन्दी भी कर ली थी। अम्बष्ठसुत्त में बुद्ध अम्बष्ठ से कहते हैं कि जहाँ प्राचीन ब्राह्मण जंगलों में रहते थे तथा पवित्र और दिखावारहित जीवन व्यतीत करते थे, उसके विपरीत उनके समय के ब्राह्मण ऐसे किलेबन्दी वाले स्थानों में रहने लगे, जिनकी रक्षा के लिए तलवार धारण करने वाले लोग नियुक्त थे।^१

यह भी स्पष्ट है कि इन धनी और विद्वान् ब्राह्मणों की आपसी सभायें भी होती रहती थीं। ऐसे ब्राह्मणों को “राजाओं का राजा, ब्राह्मणों का ब्राह्मण और गृहस्थों के लिए देवता स्वरूप” कहा गया है।^२ राजाओं से लेकर सारी प्रजा ऐसे ब्राह्मणों के प्रति विशेष आदर और सत्कार का भाव रखती थी! विशेष अवसरों पर उनके लिए भोजन की व्यवस्था करके उनके आशीर्वाद प्राप्त किये जाते थे।^३ ऐसे ही ब्राह्मणों में से राजपुरोहित नियुक्त हुआ करते थे, जो राजकुमारों को विद्याध्ययन कराते, उनके गुरु होते, राजव्यवस्था में न्याय विभाग का शासन संभालते, द्यूत क्रीड़ा और शोभा-यात्राओं में राजा का साथ देते और अन्य प्रकारों से राजदरबारों में महत्त्वपूर्ण स्थान धारण करते थे। जातकों^४ में सच्चे ब्राह्मणों के परम्परागत स्वरूप का विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार, वे वैदिक गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में वर्णित वर्ण और आश्रम व्यवस्था के सभी नियमों का पालन करते थे। प्रायः ऐसे ही ब्राह्मणों को धार्मिक कहा गया है।^५

समाज में अपने प्रमुख स्थान का ब्राह्मणों को स्वयं भान था और बुद्ध जैसे व्यक्तित्व के सम्मुख भी वे झुकने को प्रायः तैयार नहीं थे। सुत्तपिटक के अनेक स्थलों पर ऐसी चर्चाएँ आती हैं, जहाँ ब्राह्मण बुद्ध का उपदेश सुनकर उपासक अथवा भिक्षु होते हुए बताये गये हैं। किन्तु बौद्ध भिक्षु हो जाने के बाद भी वे

१. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ४१। वहाँ के सम्बद्ध सुत्त का हिन्दी अनुवाद है—“क्या वह ऐसे खाँई खोदे, परिध (काष्ठ प्राकार) उठाये, नगर-रक्षिकाओं (जगरूप-कारिकासु) दीर्घ आयु पुरुषों से रक्षा करवाते थे, जैसे कि तुम।”

२. दीघनिकाय, महागोविन्दसुत्त, २/६, हिन्दी अनु०, पृ० १७५।

३. देखिए, रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिष्ठ इण्डिया, पृ० २४८।

४. फॉसवॉल संस्करण, जिल्द २, पृ० ८५, ३९४, ४११; जिल्द ३, पृ० १४७, ३५२।

५. धम्मिका होन्ति ब्राह्मणा, जातक, फॉसवॉल, जिल्द ६, पृ० ५५४।

ब्राह्मण स्वयं बुद्ध के विशेष आदर के पात्र बने रहे। इस सम्बन्ध में विभिन्न वर्णों के आपस के सम्बोधनों के आधार पर वागले द्वारा निकाले गये निष्कर्ष बड़े ही रोचक हैं। उनके अनुसार जहाँ बुद्ध के बन्धु बांधव क्षत्रिय, वैश्य अथवा अन्य लोग उन्हें भन्ते और भगवा कहकर सम्बोधित करते थे और उनका अभिवादन (अभिवादेति) करते थे, वहीं ब्राह्मण गृहपति अथवा अन्य प्रकार के ब्राह्मण बुद्ध के लिए किसी लूँचे स्थान की स्वीकृति नहीं देते थे। वे उन्हें अपनी बराबरी में मानते थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्हें सम्बोधित करते हुए वे साधारण-तया 'भो गोतम' कहा करते थे। अप्रसन्न होने पर वे उन्हें केवल 'समण' कहकर पुकारते थे। समाज के साधारण लोग भी बुद्ध, ब्राह्मणों अथवा परिव्राजकों को एक समान ही आदर देते थे।^१

हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों के कार्य थे—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह। किन्तु इन्हें एक आदर्श मात्र ही मानना चाहिए। समूचे ब्राह्मण वर्ग की एक थोड़ी सी संख्या ही इस आदर्श तक पहुँच पाती थी। सुत्तपिटक से—विशेषतः जातकों से—इस बात का ज्ञान हमें प्राप्त होता है कि ब्राह्मण अनेक सांसारिक व्यवसायों में उसी प्रकार लगे हुए थे, जैसे अन्य वर्णों के लोग। दशब्राह्मण जातक^२ ऐसे दस प्रकार के ब्राह्मणों की चर्चा करता है जो 'तिकिच्छकसमा' अर्थात् चिकित्सा करने वाले वैद्यों के समान, 'परिचारिकसमा' अर्थात् सेव-काई करने वाले नौकरों के समान, 'निग्गाहकसमा' अर्थात् कर वसूलने वाले राजकीय नौकरों के समान, 'खानुमतसमा' अर्थात् लकड़ी काटने वाले लकड़हारे के समान, 'वणिजकसमा' अर्थात् वाणिज्य करने वाले व्यापारियों के समान, 'अम्बट-ठेवेस्सहिसमा' अर्थात् अम्बष्ठ और वैश्य जाति के समान, 'गोधातकसमा' अर्थात् पशुवध करने वालों के समान, 'गोपनिषादेहिसमा' अर्थात् चरवाहों और निषादों के समान, 'लुब्धकसमा' अर्थात् लुब्धकों (शिकारियों) के समान और 'मलमज्जनसमा' अर्थात् शरीर को नहलाने-धुलाने वाले हजामों के समान थे। वहाँ इन ब्राह्मणों को केवल जन्म से ही ब्राह्मण कहा गया है और उन्हें अपने विहित कर्मों से बहुत दूर हटा हुआ बताया गया है। यह असम्भव नहीं है कि ब्राह्मणों के प्रति बौद्धों के धार्मिक विद्वेष के कारण ही ब्राह्मणों की इस हीनता का प्रदर्शन किया गया हो। लेकिन यह तथ्य स्पष्टतः दिखायी देता है कि वे कर्षक, शिल्पी, आज्ञा-वाहक, वणिज, सैनिक (योधाजीवा) और बड़े-बड़े जमींदार (राजञ्जा) जैसे अनेक

१. वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७२।

२. सं० ४९५, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ५७०-५७५, गाथा संख्यायें १-४७ तक।

अन्य जातियों के कार्य भी किया करते थे।^१ भविष्यवाणी करने वाले, जादू और तन्त्र-मन्त्र करने वाले, दवादारु का व्यवसाय करने वाले, हस्तरेखा का अध्ययन करने वाले, ज्योतिषी और झाड़फूँक करने वाले, पशुपालक, कथावाचक और कथा कहानियों से अपनी जीविका का निर्वाह करने वाले ब्राह्मणों की भी चर्चाएँ प्राप्त होती हैं।^२ अन्य वर्णों की तरह अनेक ब्राह्मण खेतोबारी के काम में भी लगे हुए थे। इन्हें कर्षक ब्राह्मण कहा जाता था। इस वर्ग में अनेक ब्राह्मण इतने सम्पन्न थे कि उन्हें महाशाल कहा जाता था। सोणदण्ड, कूटदन्त, तारुक्ख, तोदेय्य, कसि-भारद्वाज और पोक्खरसाति नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण इसी कोटि में आते थे। कसिभारद्वाज^३ के अधिकार में इतनी अधिक भूमि थी कि उसे जोतने के लिए ५०० हलों की आवश्यकता होती थी। दीघनिकाय^४ के ब्रह्मजालसुत्त में निषिद्ध कर्मों में लगे हुए ब्राह्मणों की एक लम्बी सूची दी गयी है, जैसे दूतकर्म, अंगविद्या, उत्पाद-विद्या, लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, वास्तुविद्या, क्षेत्रविद्या, भिक्षु के लिए झाड़फूँक की विद्या आदि। वे अनेक प्रकार के व्यापार भी करते थे, जिनमें धूम-धूमकर अपने सामानों को बेचना, अच्छे वणिक् पुत्रों की तरह रहना और व्यापार की वस्तुओं का संग्रह करना सम्मिलित था। जातको^५ से अनेक ब्राह्मणों के ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं, जो हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा उनके लिए विहित कर्मों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के कर्म भी करते थे, जैसे ब्राह्मण वैद्य, ब्राह्मण सैनिक, ब्राह्मण व्यापारी, ब्राह्मण गड़ेरिया, ब्राह्मण बढ़ई और ब्राह्मण शिकारी आदि।

उपर्युक्त कर्म सम्बन्धी व्यतिरेकों के बावजूद, आर्यावर्त अथवा ब्रह्मर्षि देश की सीमाओं के बाहर होते हुए तथा बौद्ध और जैन धर्मों के प्रवर्तकों की शिक्षाओं की प्रतिक्रिया के होते हुए भी, कोसल, अंग, मगध और विदेह क्षेत्रों में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति की उच्चता को नकारा नहीं जा सकता। महिलमुख जातक (सं० २६) और मुदुलक्खण जातक (सं० ६६) से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्मी-नृयायी गृहस्थ भी ब्राह्मण साधुओं का बौद्ध साधुओं के ही समान आदर करते

१. देखिए, विमलचरण लाहा, इण्डोलॉजिकल् स्टडीज्, जिल्द २, पृ० ७९; सुत्तनिपात का वासेट्ठसुत्त, पृ० १५९।
२. देखिए, विमलचरण लाहा, इण्डोलॉजिकल् स्टडीज्, जिल्द २, पृ० ७९।
३. सुत्तनिपात, मूल व हिन्दी अनुवाद, पृ० १९।
४. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ४।
५. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, सं० १५५ और २२; जिल्द ४, सं० ४१३, ४७५; जिल्द ५, सं० ५२२।

थे। अशोक^१ जैसे एक अति उत्साही और धर्मभाव वाले सम्राट् ने भी अपने धर्म-लक्षणों में ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति समान आदर को प्रमुख स्थान दिया। धम्मपद^२ में कहा गया है कि एक सच्चे ब्राह्मण को कोई कलंक नहीं लगता, चाहे उसने माता-पिता और दो राजाओं का ही वध क्यों न किया हो अथवा सभी निवासियों के साथ एक राज्य का नाश ही क्यों न कर डाला हो। उस ग्रन्थ में पूरा एक अध्याय ही ब्राह्मण बनाने वाले गुणों के वर्णन में प्रयुक्त हुआ है।

ब्राह्मणों के चतुराश्रम वाले आदर्श की लोकप्रियता सुत्तपिटक के प्राचीन स्थलों में विशेष नहीं दिखायी देती है। परन्तु ब्राह्मण परिव्राजकों का उल्लेख है। अग्निपूजक जटिल ब्राह्मण अरण्यवासी वानप्रस्थियों के समान थे। इसके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण भी थे, जो तत्कालीन श्रमण आन्दोलन में गृहत्यागी होकर नये मतों के प्रवक्ता बने अथवा अन्य श्रमण आचार्यों के शिष्य। स्वयं बौद्ध भिक्षु संघ में ऐसे बहुत से ब्राह्मण परिव्राजकों का प्रवेश हो गया था।^३

क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति

सुत्तपिटक में वर्णानुक्रम में क्षत्रियों की गिनती ब्राह्मणों से पहले की गयी है।^४ यद्यपि भगवान् बुद्ध जन्म से वर्ण निश्चित करने की अपेक्षा गुण और कर्म को अधिक समीचीन मानते थे, जहाँ भी गोत्र (जन्म) से श्रेष्ठता की उन्होंने स्वीकृति दी है, वहाँ क्षत्रिय को ही उन्होंने अन्य सभी वर्णों से श्रेष्ठ माना है। इस सम्बन्ध में पीछे हम अम्बष्ठसुत्त, अगञ्जसुत्त, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त तथा अस्सलायनसुत्त के साक्ष्यों को ब्राह्मणों की सामाजिक अवस्था का विचार करते समय देखें।^५

१. य पि कंमाय साधु मातरि च पितरि च सुसूसा मित संस्तुत नातीनं ब्राह्मण-समणानं। अशोक के धर्मलेख, जर्नादिन भट्ट, पृ० १२४-१२५।
२. धम्मपद, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पालि तथा हिन्दी अनुवाद, अध्याय २६।
३. देखिए, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २७-३१।
४. गोत्र लेकर चलने वाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं। जो विद्या और आचरण से युक्त हैं, वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३९; अंगुत्तरनिकाय में भी कुछ इसी प्रकार वर्णित है—
खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मिं, ये गोत पटिसारित्तो।
त्रिज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे'ति ॥ महाबोधि प्रकाशन, जिल्द ४, पृ० ३४७।
५. सन्दर्भों के लिए देखिए पीछे पृ० १६५।

चुके हैं। स्पष्ट है कि दीघनिकाय और अंगुत्तरनिकाय जन्मना क्षत्रिय को ही श्रेष्ठ मानते थे। इस सम्बन्ध में एक रोचक वृत्तान्त यह है कि कोसलराज प्रसेनजित जब अपने ही राज्य के निवासी ब्राह्मण पौष्करसाति से बात करता था तो उसे आमने-सामने संबोधित न करके वह परदे के माध्यम से संबोधित करता था। इसका कारण यह था कि क्षत्रिय प्रसेनजित अपने को ब्राह्मण पौष्करसाति से उत्तम मानता था।^१ ब्राह्मणों से बराबरी अथवा उनसे श्रेष्ठता का क्षत्रियों का यह दावा सम्भवतः उनकी राजत्व शक्ति से प्रेरित था, जिसके कारण उनको सर्वाधिक प्रभुता, प्रतिष्ठा और सम्मान मिलता था। दोनों ही वर्ण आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में आगे थे और उनके कुमार समान गुरुओं से विद्या ग्रहण करते थे। उन्हें कोई भी साधारण व्यक्ति नाम लेकर नहीं पुकार सकता था।^२ क्षत्रियों को अपनी उच्चता का भान कभी-कभी इतना अधिक था कि उसे अतिरेक ही कहा जा सकता है। एक जातक^३ के अनुसार अरिदम नामक एक क्षत्रिय राजा अपने पुरोहित के पुत्र सोनक को हीन जाति का ब्राह्मण (ब्राह्मणो हीनजच्चो) और स्वयं को एक अटूट अभिजात परम्परा में जन्म लेने वाला कहता है। अपने रक्त की शुद्धता पर उनका इतना अधिक जोर था कि वे एक क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान को भी पवित्र क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं थे।^४

क्षत्रिय वर्ण के लोग राज्य के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त किए जाते थे।^५ वे प्रायः राजमंत्री, प्रांतपति, सेनापति अथवा महामात्य हुआ करते थे। इनका मुख्य काम युद्ध करना था। अंगुत्तरसुत्त^६ के अनुसार क्षेत्रों के अधिपति होने के कारण ये क्षत्रिय कहलाये और धर्म से दूसरों का रंजन करने के कारण राजा कहलाये। सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के अपने अध्ययन के आधार पर नरेन्द्र वागले^७ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि क्षत्रिय लोग किसी को भी अपने वर्ण का तब तक स्वीकार करने को तैयार नहीं होते थे जब तक वह माता और पिता दोनों ही

१. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ४१।
२. रतिलाल मेहता ने इसी कारण बुद्ध-युग के क्षत्रिय की तुलना वैदिक युग के राजन्य से की है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५४, पदसंकेत ६-७।
३. अंसभिन्न खत्तिय वंसे जातो। जातक फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ४५२।
४. वहीं, जिल्द ५, पृ० २९७।
५. देखिए, रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५४।
६. दीघनिकाय, सुत्त सं० ३-४, सारनाथ हिन्दी अनु०, पृ० २४०-२४४।
७. देखिए, वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०२।

पक्षों से सात पुश्तों तक पवित्र न हो। इसी आधार पर अम्बष्ठसुत्त में शाक्यों को पवित्र और ब्राह्मणों को संकर बताया गया है।

किन्तु, जैसा कि पीछे ब्राह्मणों के सम्बन्ध में देखा जा चुका है, क्षत्रिय लोग राजकर्मों के अतिरिक्त कुछ अविहित कर्मों और व्यवसायों का भी अनुसरण करते थे। इन कर्मों में खेतीबारी का काम, व्यापार, हस्त-शिल्प, कुम्भकारी, गायन, वादन तथा भोजन पकाने जैसे रोजगार सम्मिलित थे।^१ अगगञ्जसुत्त^२ के अनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लोगों में कितने ही ऐसे थे जो जीवहिंसा करते थे, चोरी करते थे, झूठ बोलते थे, मिथ्यावाद करते थे और मिथ्या दृष्टि वाले होते थे।^३

ब्राह्मण-क्षत्रियों के आपसी सम्बन्ध

बुद्ध और उनके अनुयायियों द्वारा ब्राह्मणों की तुलना में क्षत्रियों की उच्चता दिखाने के कई कारण हो सकते हैं। बुद्ध की तरह अधिकांश भिक्षु क्षत्रिय थे। क्षत्रिय अपने राजत्व के अधिकार के कारण शक्तिशाली और समाज में एक ऊँचा स्थान प्राप्त किये हुए थे। सम्भवतः त्रिपिटक से ज्ञात पूर्वोत्तर भारत की सामाजिक स्थिति में ब्राह्मण धर्म की मान्यता और ब्राह्मणों की वर्चस्व-स्वीकृति उत्तर और पश्चिम भारतीय भागों की अपेक्षा कमजोर थी। अनेक स्थलों पर ब्राह्मणों की तरह क्षत्रिय भी वेद और अन्य शास्त्रों के पढ़ाने वाले दिखाये गये हैं। क्षत्रिय राजकुमार सुदूर तक्षशिला विश्वविद्यालय तक अनेक शास्त्रों को पढ़ने के लिए जाते थे, जिसकी चर्चियाँ हमें दुस्मेधजातक (सं० १२२) और तिलमुष्टि जातक (सं० २५२) में प्राप्त होती हैं। गामणीचंद जातक (सं० २५७) से तो यहाँ तक पता चलता है कि कुछ राजे वेदों के अध्यापक भी थे। मखादेव जातक (सं० ९), चुल्लसुतसोम जातक (सं० ५२५), गांधार जातक (सं० ४०६) और खुदल जातक (सं० ७०) से यह पता चलता है कि ब्राह्मणों की तरह क्षत्रिय भी अन्त में सन्यासी होकर जंगलों में चले जाते थे। अतः जैसा कि वैदिक उपनिषदों में दिखायी पड़ता है, बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक संस्कृति में क्षत्रिय ब्राह्मणों से पीछे नहीं थे। अतः जैन और बौद्ध धर्म के गढ़ों—पूर्वोत्तर भारत—में वे ब्राह्मणों की अपेक्षा वरीयता और वर्चस्व का दावा करते हों, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

१. जातक, फ़ॉक्सबॉल संस्करण, जिल्द ४, पृ० ८४, १६९; जिल्द ५, पृ० ९०-९३।

२. दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० २४१।

३. अगगञ्जसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० २४।

तथापि अपने पौरोहित्य कर्मा के कारण और उन पर प्रायः अपने एकाधिकार और तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञान के कारण ब्राह्मण क्षत्रियों से पीछे नहीं थे और क्षत्रियों को भी उनका नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता था। बुद्ध द्वारा यज्ञवाद के सारे विरोध के बावजूद भी साधारण समाज अपने नित्य-प्रति के क्रिया-कलापों, धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञीय विधियों के सम्पादन में ब्राह्मणों का मुँह देखता था। सुसोम जातक (सं० २२३) से ज्ञात होता है कि पुरोहित का पद प्रायः आनुवंशिक हो गया था और वह राजकुमारों का शिक्षक तथा गुरु बन गया था। अतः क्षत्रिय राजत्व के द्वारा पुरोहित की उपेक्षा असंभव थी। सुत्तनिपात^१ के वसलसुत्त में बुद्ध ने प्रायः समान रूप से ब्राह्मणों और क्षत्रियों को एक स्थान देते हुए कहा है कि वह कृपण है, जो ब्राह्मण, श्रमण अथवा अन्य किसी भी भिखारी को झूठ बोलकर धोखा देता है, जो भोजन के समय आये हुए ब्राह्मण या श्रमण से क्रोधपूर्वक बोलता है और जो उसे कुछ भी नहीं देता।

वैश्यों और शूद्रों की तुलना में बौद्ध साहित्य भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों को ऊँचा स्थान देता है। मज्झिमनिकाय^२ के कण्णक्यालसुत्त में कहा गया है कि वैश्य और शूद्रों की अपेक्षा क्षत्रिय और ब्राह्मण अग्रिम पंक्ति में आते हैं और अभिवादन, आसन, आदर और सेवा में उन्हें प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ बुद्ध के जन्म की बात आयी है, वहाँ, उदाहरणस्वरूप ललित-विस्तर^३ और निदानकथा की भूमिका में, उन्हें या तो ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता बताया गया है।

वैश्यों की सामाजिक स्थिति

सुत्तपिटक में वैश्य शब्द का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थानों पर हुआ है, जहाँ चार वर्णों की गिनती की गयी है, अन्यथा, उन्हें या तो श्रेष्ठ गृहपति (गृहपति) अथवा कुटुम्बिक कहा गया है। गृहपति अथवा गृहपति का साधारण अर्थ गृहस्थ होता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त खेतीबारी करने वाले, धनधान्य से पूर्ण एवं व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए लोगों अथवा गृहस्थों को गृहपति कहा

१. यो ब्राह्मणं वा समणं वा अञ्जं वा'पि बनिब्बकं ।

मुसावादेन वञ्चेति, तं जञ्जा वसलो इति ॥

यो ब्राह्मणे वा समणे वा, भत्त काले उपदिठ्ठे ।

रोसेति वाचा न च देति, तं अञ्जा वसलो इति ॥

सुत्तनिपात, मूल तथा हिन्दी अनुवाद, पृ० ३२, श्लोक १४-१५ ।

२. सारनाथ प्रकाशन, सुत्त सं० ९०, पृ० ३७२ ।

३. अध्याय ३ ।

जाता था। कभी-कभी ब्राह्मणों और क्षत्रियों को भी गृहपति कहा जाता था। किन्तु उन्हें सम्बोधित करते हुए प्रायः उन्हें क्षत्रिय गृहपति अथवा ब्राह्मण गृहपति^१ कहकर पुकारा जाता था। गृहपति लोग अमात्यों और ब्राह्मणों की तरह राजाओं की सेवा में लगे रहते थे।^२

इन गृहपतियों का एक विशेषण सेट्ठि होता था। इस विशेषण से उनके वैभव-सम्पन्न होने का परिचय मिलता है। सुत्तपिटक के प्रसिद्ध श्रेष्ठियों में चम्पा के श्रेष्ठिपुत्र सोणकोटविंश, कोसल के अनाथपिण्डक, साकेत के धनञ्जयसेठ, विशाखा के श्वसुर मृगार श्रेष्ठि आदि के नाम बार-बार आते हैं। ये गृहपति बैंक चलाते थे, दूसरों को आवश्यकता होने पर ऋण-स्वरूप द्रव्य देते थे, देश के भीतर और बाहर का व्यापार नियन्त्रित करते थे,^३ खेती, शिल्प और उद्योगों का काम करते थे और प्रायः नगरों में बने बड़े-बड़े महलों में निवास करते थे। इस सम्बन्ध में एक रोचक विवरण यह है कि मगधराज बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने राज्य के निवासी श्रेष्ठि जोतिक के सप्तरत्नमय महल को देखकर अपने पिता के लकड़ी के बने महल की भव्यता के अभाव की विचित्र स्थिति का अनुभव किया।^४ इस आधार पर वि० च० लाहा^५ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि “सेट्ठि लोग सम्मानित व्यापारी प्रतीत होते हैं, जो व्यवसाय करने वाले अपने सदस्यों के बीच एक आदर का स्थान प्राप्त किए हुए थे।” श्रेष्ठि का पद वंशानुगत होता था।^६ सेट्ठि गृहपतियों की चर्चा प्रायः नगरों के सम्बन्ध में आती है जो अपने

१. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १०१-१२४; अंगुत्तर निकाय, पाटेसो० जिल्द ४, पृ० २०१-२३५।
२. जातक, फाँसबॉल, जिल्द १, पृ० १५२, ४७०; जिल्द २, पृ० २४१, २४४; जिल्द ४, पृ० २२७, गाथा ६३।
३. संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १७१; विनयपिटक, षष्ठ, ४.९; जातक, फाँसबॉल, जिल्द ४, पृ० २७; बावेध जातक, सं० २७ में एक श्रेष्ठि द्वारा बाबुल (बेबिलोन) से व्यापार की चर्चा है। पण्डर जातक, सं० ५१८, में समुद्र में एक जहाज के मारे जाने से ५०० व्यापारियों की हानि का उल्लेख है।
४. अहो अन्धवालो मम पिता। गृहपतिका नाम सप्तरत्नमयेपासादेवसति। एसो राजा हूत्वा दारुमये गेहे वसति। उद्धृत बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५३४।
५. इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, जिल्द २, पृ० ६३।
६. जातक, फाँसबॉल, जिल्द १, पृ० २३१; जिल्द ३, पृ० ४७५; जिल्द ४, पृ० ६२।

सगे-सम्बन्धियों की चिकित्सा के लिए जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य को प्रभूत धन-राशि देने में समर्थ थे।^१ चम्पा के एक गृहपति के सम्बन्ध में चर्चा है कि उसने अस्सी गाड़ियों पर लादे जाने लायक स्वर्ण (असीतसकट वाह हिरण्णम्) को छोड़कर बौद्ध संघ में प्रवेश किया^२। सयुत्तनिकाय^३ में एक स्थान पर कहा गया है कि श्रावस्ती में अनेक क्षत्रिय, ब्राह्मण अथवा गृहपति महाशाल, अधिकार-नियुक्त, काफी धनसम्पत्ति वाले, खाने-पीने की वस्तुओं से पूर्ण तथा सभी जानन्द की वस्तुओं का भोग करने वाले लोग थे, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति लिए झूठ तक बोलते थे।

भगवान् बुद्ध ने गृहपतियों के कर्तव्यों में माता-पिता की सेवा, आचार्य की सेवा, पत्नी की सेवा, मित्रों की सेवा, सेवक की सेवा, और साधु-ब्राह्मणों की सेवा को गिनाया है।^४ जातियों की सूचियों में गृहपतिओं का उल्लेख ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों के बाद ही हुआ है। इनकी परम्परा जन्म और वंश के आधार पर चलती थी और ये प्रायः अपने पैतृक कर्म ही करते थे। किन्तु परिस्थितियों से विवश होने पर ये शाक-सज्जी बेंचने का काम अथवा मजदूरी भी करते थे।^५ किन्तु इस प्रकार के विपद्ग्रस्त वैश्य भी गृहपति ही कहलाते थे और उनके विवाह-सम्बन्ध आदि गृहपति कुलों में ही होते थे। इस प्रकार यह निश्चित है कि गृहपति वर्ग पिता-पुत्र की परम्परा से एक निश्चित वर्ग के रूप में समाज में स्थापित था। इसका सामाजिक स्थान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद था। किन्तु ये अपने को शूद्रों अथवा अन्य हीन जातियों से ऊँचा समझते थे।^६

गृहपतिओं को जातकों में इम्भ अथवा इम्भ्य भी कहा गया है। यह शब्द एक उपनिषद् और अशोक के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है।^७ इसके अतिरिक्त जातकों में गृहपतिओं को कुटुम्बिक भी कहा गया है। कुटुम्बिक गृहस्थ कुल के मुखिया को एक संज्ञा थी, जो प्रायः गाँवों में रहता था।

१. विनयपिटक, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, जीवक का वृत्तान्त, पृ० २६६-२७३।
२. वहीं, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १८५।
३. संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ७५।
४. सिगालोवादपुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन पृ० २७५-७६; अशोक के धर्मलेख से इस सूची की तुलना की जा सकती है जहाँ वह 'मातरि पितरि सुसूसा गुरुणा अपचिति, दास भटकं सम्पत्तिपत्ति' आदि का उपदेश देता है।
५. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० २१ और ३२५।
६. फिक्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५५।
७. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृ० १८०; दे० रा० भण्डारकर, अशोक, प० १८३।

नगरों के प्रमुख नागरिकों को नगरवासिक कुलपुत्र कहकर पुकारा जाता था। नगर के रहने वाले ये कुटुम्बिक सम्पन्न व्यापारी होते थे और गाँवों में रहने वाले कुटुम्बिक प्रायः सम्पन्न खेतिहर होते थे।^१

शूद्रों की सामाजिक स्थिति

धर्मसूत्रों में जैसे वैश्यों और शूद्रों के, ब्राह्मण और क्षत्रियों की भाँति, अलग-अलग वर्णों के रूप में उल्लेख मिलते हैं, वैसे अलग वर्ण के रूप में शूद्रों का सुत्त-पिटक में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। तथापि वहाँ स्थूलरूप में शूद्र शब्द का उल्लेख जब कई स्थानों पर आता है तो उसका अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों की वर्ण परम्परा के अनुरूप ही है। किन्तु साधारणतया सुत्तपिटक में ऐसी अनेक पेशेवर और हीन जातियों के उल्लेख हैं, जिन्हें कम्मकर अथवा भत्तक अर्थात् भूतक कहा गया है। उन्हें शूद्र वर्ण का ही समझा जाता है। सुत्तपिटक में उल्लिखित शिल्पी लोगों को भी शूद्र वर्ण में ही गिना जा सकता है। ऐसे शिल्पियों में तन्तुवाय (बुनकर) तच्चक (बढ़ई), कम्मार (लोहार), कुम्भकार (कुम्हार), मालाकार (माला बनाने वाले) आदि के नाम आते हैं।^२ दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त^३ और मज्झिमनिकाय के महासुकुलुवायिसुत्त^४ में अनेक विद्याओं और शिल्पों से अपनी जीविका चलाने वाले लोगों के उल्लेख हैं। उदाहरण के लिए, हस्ति-आरोहक (हाथी की सवारी करने वाले), अश्वारोहक, रथिक, धनुग्रहि, चेलक, चलक, पिण्डदायिक, महानाग, दासपुत्र, आलारिक (भोजन बनाने वाले), कप्पक (हजाम), नहापक (नहलाने-धूलाने वाले), सूद (भोजन पकाने वाले), रजक (धोबी) पक्षकर (रंगरेज), नलकार, कुम्भकार, गणक, मुद्रिक (हाथ से गिनने वाले), दंतकार और सुवर्णकार। इनमें से कुछ लोग जन-जाति या प्रजाति के हो सकते हैं। इन शिल्पों में लगे हुए लोग प्रायः अपनी-अपनी जाति बना चुके थे और कई जातकों में उनके गाँवों की चर्चाएँ प्राप्त होती हैं।^५ अपने शिल्प और व्यापार की रक्षा के लिए उन्होंने

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० २६७; जिल्द ४, पृ० ३७०।

२. दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ५१, ७८; मज्झिमनिकाय, जिल्द २, पृ० १२, ४६; जिल्द ३, पृ० ११२; जातक फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० ७९, जिल्द ३, १६२, ३७६, ४०५।

३. सारनाथ प्रकाशन, पृ० १९।

४. सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३१४।

५. उदाहरण के लिए कुम्भकारग्राम (जा० सं० ४०८); बड्ढकिगाम (जा० सं० १५६), निसादग्राम (जा० सं० ५४०); कम्मारग्राम (जा० सं० ३८७); नलकारग्राम, मज्झिमनिकाय, पृ० ४२२ (हिन्दी अनुवाद)।

संघों का भी निर्माण किया था ।^१

इन संघटित शिल्पी वर्गों के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी जातियाँ थीं, जिनका जीवन न तो बहुत संघटित था और न जो एक स्थान पर निवास ही करती थीं । ये जातियाँ धूम-धूमकर जनता का मनोरंजन करती थीं । इनमें नट (नाचने और गाने-बजाने वाले), लंघनटक (करिश्मा और खेल दिखाने वाले), मायाकार (जादू-गर), अहिगुण्डक (सपेरे), नेवला पालने वाले, गन्धर्व (गाने-बजाने वाले), भेरी-वादक, शंखवादक, त्रिसवेज्जा (साँप के विष को दूर करने वाले) जैसे लोगों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।^२ इसी प्रकार गोपालक, पशुपालक, तृणहारक (घास काटने वाले), वनकम्मिक (बनों में काम करने वाले), आरामगोपक (बगीचों की रखवाली करने वाले) और कटुहारक (लकड़हारों) का उल्लेख किया जा सकता है ।^३ धीरे-धीरे इन विभिन्न पेशेवर लोगों की भी अपनी-अपनी जातियाँ बन गयीं और उनमें से कई एक स्थान पर निश्चित निवास भी करने लगीं ।

केवट्ट^४ मछली मारने वाले लोगों की संज्ञा थीं, जो कई नामों से पुकारे जाते थे, जैसे 'जालकमिनानि' अर्थात् जाल से मछलियों को पकड़ने वाले और 'बालसिक' अर्थात् बंशी के सहारे मछली पकड़ने वाले ।

चण्डाल, पुक्कुस और निषाद तथा अन्य हीन जातियाँ

सुत्तपिटक में चण्डाल, वेसार, पुक्कुस (पौल्कष), येस तथा रथकार को पाँच हीन अथवा परिगणित जातियों में गिना गया है ।^५ सम्भवतः सर्वाधिक हीन चण्डाल थे, जो नगरों या गाँवों से बाहर रहने के लिए विवश थे ।^६ संख्या में अधिक होने पर ये कभी-कभी अपने लिए अलग गाँव भी बसा लेते थे ।^७ ये वाँसुरी अथवा तुरही बजाते हुए गाँवों और नगरों के बाहर लोगों को प्रसन्न कर अपनी जीविका

१. रतिलाल मेहता, पूर्वानिदिष्ट, पृ० २५७ ।
२. जातक, फाँसबाँल, जिल्द १, पृ० २८३, २८४, ३१०, ३७०, ४१०; जिल्द २, पृ० १६७, २४९, २६७, ४२९; जिल्द ३, पृ० १९८, ३४८ ।
३. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ७९; जातक, फाँसबाँल, जिल्द ५, पृ० ४१७ ।
४. जातक, फाँसबाँल, जिल्द २, पृ० १७८ ।
५. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० १५२, १८३-८४; जिल्द ३, पृ० ६९; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो० जिल्द २, पृ० ८५; जिल्द ३, पृ० ३८५ ।
६. वहीँ, जिल्द ४, पृ० ३७६, तुलना के लिए देखिए, मनुस्मृति १०. ५१ ।
७. वहीँ, जिल्द ४, पृ० २००, ३७६, ३९० ।

चलाते थे। सेतकेतु जातक (सं० ३७७) से प्रतीत होता है कि चण्डाल के शरीर से स्पर्श की हुई हवा का लग जाना भी ब्राह्मण अपने लिए अपवित्रता का कारण मानते थे। इसी प्रकार मातंग जातक (सं० ४९७) और सतधम्म जातक (सं० १७९) से ज्ञान होता है कि चण्डालों का छुआ हुआ भोजन करने से ब्राह्मण वंशच्युत कर दिये जाते थे और कभी-कभी आत्महत्या तक कर लेते थे। चाण्डालों के प्रति अस्पृश्यता का भाव केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, बल्कि क्षत्रियों और वैश्यों में भी विद्यमान था।^१ जातकों^२ से यह प्रतीत होता है कि चाण्डालों की एक अपनी भाषा (चाण्डाल भाषा) होती थी और उनके पहनावे-ओढ़ावे का भी अलग ही ढंग होता था। उनके वस्त्रों में एक अधोवस्त्र, लाल रंग का दुपट्टा (रत्न-दुपट्टा), कमर में एक पेटी (कायबंधनम्) और एक गंदा उत्तरीय (पंसुकूलसंधाटिम्) होता था। इन चाण्डालों के बालक-बालिकाएँ चीथड़ों में लिपटे, हाथ में भिक्षा पात्र लेकर नगर में प्रवेश करते^३ थे। चाण्डालों के व्यवसायों में तुरही बजाना, सड़ी-गली चीजों को बृंहारना तथा शवों को जलाना मुख्य थे। कभी-कभी वे कुछ शिल्पकारी भी करते थे। तथापि वे अपनी चाण्डाल जाति से मुक्त नहीं हो पाते थे।^४

यद्यपि चाण्डाल लोगों का समाज में एक तिरस्कृत स्थान था, कभी-कभी किसी ज्ञानी पुरुष के चण्डाल-पुत्र होने पर भी समाज में उसे समुचित प्रतिष्ठा मिलती थी, विशेषतया बौद्ध समुदाय में। मातंग एक ऐसे ही चाण्डाल जाति के सत्पुरुष थे, जो अपने तपोबल से पूज्य बन गये थे और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने उनकी सेवा की थी।^५

दूसरी हीन जाति को पुक्कुस कहा जाता^६ था, जो ब्राह्मण साहित्य के पौल्कस से मिलायी जा सकती है। सम्भवतः यह एक अनार्य जाति थी, जिसे मनुस्मृति^७ में निषाद पिता और शूद्र माता से उत्पन्न बताया गया है। मंदिरों से सूखे हुए फूलों को बटोरना इनका एक काम बताया गया है। पुक्कुसों को भी निम्न स्तर

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ३७६, ३९०-९१, १।

२. वहीं, जिल्द ४, पृ० ३७९-८०, गाथासंख्या १, पृ० ३९१-९२।

३. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो, जिल्द ३, पृ० ३७६।

४. रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६३।

५. ऐण्डर्सन् और स्मिथ द्वारा सं०, मुत्तिनापात, १७२२-३।

६. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० १९४-५; जिल्द ४, पृ० २०५-३०३।

७. मनुस्मृति, १०.१८।

८. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ५ पृ० ४०५ गाथा ३३५।

के कर्मों में नियुक्त किया जाता था और सम्भवतः चाण्डालों की भाँति ये भी समाज में तिरस्कृत थे।

निषाद एक अन्य हीन जाति थी, जो प्रायः जंगलों में पशुओं का शिकार करती थी।^१ मनुस्मृति^२ में इन्हें शूद्राओं से उत्पन्न ब्राह्मणों की सन्तान कहा गया है और इनके कार्यों में मछली पकड़ना मुख्य बताया गया है। रिचर्ड फिक्^३ के अनुसार, जीवित पशुओं, मछलियों अथवा पक्षियों को मारने में जो हिंसा होती थी, उसी के कारण इन्हें हीन अथवा नीच जाति का माना गया। चण्डालों की तरह निषाद लोग भी प्रायः नगरों और गाँवों के बाहर निवास करते थे।^४ मातंग जातक (सं० ४९७) के अनुसार हीन जातियों में 'सपाक' अर्थात् श्वपच की भी गिनती की गयी है। मनुस्मृति^५ में इन्हें उग्र नामक संकर जाति की कन्या से उत्पन्न क्षत्रिय का पुत्र बताया गया है।

इन हीन जातियों के सम्बन्ध में नीचता अथवा हीनता के आरोपण का भाव धीरे-धीरे प्रबल होता गया। गाली के रूप में कभी-कभी हीन अपवा निन्दित आचरण वाले लोगों को चण्डाल अथवा चण्डाली कहा जाने लगा।^६

स्त्रियों की दशा

सुत्तपिटक कालीन समाज का समग्र रूप से अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत में स्त्रियों की दशा न तो बहुत खराब ही थी, न बहुत अच्छी। बुद्ध ने केवल नर-नारी के धार्मिक समानाधिकार मात्र की ही चर्चा नहीं की, अपितु उन्होंने नारी की उपेक्षा का विरोध भी कहीं-कहीं किया। तथापि तत्कालीन समाज में उनके इस दृष्टिकोण का प्रभाव नगण्य ही रहा। सम्भवतः इसका प्रधान कारण यह था कि स्वयं बुद्ध ने भी नारी जीवन की धार्मिक रुझान के प्रति बहुत उत्साह नहीं प्रदर्शित किया। साधारणतया समाज में पुत्रियों की उत्पत्ति से उत्तनी प्रसन्नता नहीं होती थी, जितनी लड़कों की उत्पत्ति से। परन्तु बुद्ध के राजा प्रसेनजित को दिये गये इस उपदेश से कि

१. जातक, जिल्द, ५, पृ० ११०, ३३७।

२. मनुस्मृति, १०. ८।

३. देखिए, फिक्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३२२।

४. नगरतो अविदूरे एकस्मिन् नेषाद गामके। जातक, फांसबॉल, जिल्द २, पृ० ३६; जिल्द ४, पृ० ४२२।

५. मनुस्मृति, १०, १९-९१।

६. जातक, फांसबॉल, जिल्द ४, पृ० २४२।

‘कोई-कोई स्त्रियाँ पुरुषों से भी बड़ी-चढ़ी हुई, बुद्धिमती, शीलमती और पतिव्रता होती हैं’ और उन्हीं से पुत्ररत्नों की प्राप्ति होती है’, यह स्पष्ट होता है कि समाज का उद्बुद्ध वर्ग लड़के और लड़कियों में कोई अन्तर नहीं मानता था। पुत्रियों को परिवार में वही स्नेह, अपनापन और संरक्षण प्राप्त होता था, जो पुत्रों को।^१ कन्या को पवित्र माना जाता था। दीघनिकाय^२ में उसके लिए ‘कुमारिपण्ड’ शब्द का उल्लेख आया है, जिसका तात्पर्य कुमारी के शरीर में देवता का अवतरण कर उससे प्रश्न पूछने से है।^३ माता के रूप में भी स्त्री अपने पुत्र-पुत्रियों द्वारा श्रद्धाभक्ति, संरक्षण और सद्व्यवहार का पात्र मानी जाती थी। इसी तरह माता-पिता अपनी पुत्री का विवाह^४-सम्बन्ध भी अच्छे वर के साथ ही सम्पन्न करते थे, जो उनकी पुत्री के मनोनकूल होता था।

आई० बी० हार्नर^५ ने बुद्धकालीन भारतवर्ष की स्त्रियों की दशा के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि बुद्ध युग के पूर्व स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में वे सम्मान, बराबरी, आदर और अधिकार नहीं प्राप्त थे, जिनका भोग वे बुद्ध-युग में करती थीं। किन्तु विशुद्धानन्द पाठक^६ ने इस मत को अस्वीकृत करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वैदिक युग की अपेक्षा बुद्ध-युग में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी होने का कोई प्रमाण पालि निकायों से नहीं प्राप्त होता। यह सत्य है कि बुद्ध की दृष्टि में एक लड़की भी उतनी ही बढ़िया, महान् और लाभप्रद हो सकती है, जितना एक पुत्र अथवा उसमें भी वही शक्ति है, जो एक पुत्र में। किन्तु इस बात पर हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए कि

१. अथ खो अञ्जतरो पुरिसो.....रञ्जो पसेनदिस्स कोसलस्स उपकण्णके आरो-
चेसि—‘मल्लिका देव ! देवी धीतरं विजाता’ति । एवं वुत्ते राजा पसेनदि
कोसलो अनत्तमनो अहोसि । संयुत्तनिकाय, प्रथम १/८५; सारनाथ हिन्दी
अनुवाद, जिल्द १, पृ० ७८ ।
२. मज्झिनिकाय, पियजातिक सुत्त, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ३६१-६३ ।
३. दीघनिकाय, १/१२ ।
४. कुमारिपण्ड’ति कुमारिकाय सरीरे देवतं ओतरेत्वा पण्डहंपुच्छनं । सुमंगल-
विलासिनी, १/९७ ।
५. विवाह के संबंध में विस्तृत सूचना के लिए देखिए, विवाह एवं पारिवारिक
जीवन सम्बन्धी अध्याय ।
६. वीमेन् इन् प्रीमिटिव्ह् बुद्धिज्म, पृ० १-२ ।
७. हिस्ट्री ऑफ् कोशल, पृ० ३९४ ।
८. विशारदसुत्त, संयुत्तनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, जिल्द २, पृ० ५५६-५५७ ।

बौद्ध धर्म भारतवर्ष के अनेक निवृत्तिपरक धर्मों में से एक था । बौद्ध संघ वैदिक धर्ममतावलम्बियों के विपरीत इस बात पर जोर नहीं देता था कि वही व्यक्ति बौद्ध भिक्षु हो, जो अपना वैवाहिक जीवन या गृहस्थ आश्रम समाप्त कर चुका हो । स्वयं बुद्ध को बौद्ध संघ में भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियों के रहने से उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं के प्रति आशंका थी ।^१ किन्तु इसका कारण बुद्धत्व प्राप्ति के बाद स्त्रियों के सम्बन्ध से उनके चरित्र हनन का उनके शत्रुओं द्वारा अनेक बार प्रयत्न किया जाना ही था ।^२ तथापि श्रमण संस्कृति में धार्मिक दृष्टि से नारी को पुरुष के समकक्ष माना गया । नर एवं नारी दोनों ही को अनागारावस्था में साधना कर समान रूप से मुक्ति या अर्हत् पद को प्राप्त करने में समर्थ बताया गया है ।^३ कोमलचन्द्र जैन^४ के मत में बुद्ध ने स्त्रियों के वृणित रूपों से प्रव्रज्या की अन्तिम प्रेरणा पायी थी, तथा प्रव्रज्या हेतु जाते समय इस बात में सतर्कता अपनायी थी कि उनकी पत्नी को उनके गृहत्याग की जानकारी न हो । अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्ध स्त्रियों को न केवल सांसारिक दुःखों का मूल कारण मानते थे, अपितु उन्हें दुःख-विनाश में बाधक भी मानते थे । इसलिए उन्होंने सम्यक् प्रकार से दुःखों का नाश करने में स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का विकार बतलाया ।^५ परिणामतः स्त्रियों के सम्बन्ध में बुद्ध के वचन सर्वत्र प्रशंसात्मक नहीं हैं । अंगुत्तरनिकाय^६ में बुद्ध यह बताते हैं कि अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की स्त्रियाँ कैसी होती हैं । वे नकुलमाता गृहपत्नी से एक स्त्री के आठ गुणों के बारे

१. रॉकहिल, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० ६१, १५२ ।

२. इध, गृहपतयो सामिको होति ... भरिया खस्स होपि पावातिपाताप द्विविरता ... सीलवती कल्याणधम्मा ... । अंगुत्तरनिकाय, २/६१-६२ ।

३. उदाहरण के लिए देखिए, मणिसूकर जातक सं० २८५ का वर्तमान कथा । इन स्थलों पर बुद्ध ने आनंद की इस बात के लिए भर्त्सना की है कि वे बार-बार स्त्रियों के संघ में प्रवेश के लिए बुद्ध पर दबाव डाल रहे थे ।

४. देखिए, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, १९६७ ।

५. इत्थोमल ब्रह्मचरियस्स, एत्थाय सज्जेते पजा । संयुत्तनिकाय, १/३६ ।

६. यो नं भरति सब्बदा, निच्चं आतापि उस्सुको, तं सब्बकामदं पोसं, भत्तारं नातिमञ्जति । न चा पिसोत्थि भत्तारं, इस्सावादेन रोसये । भन्तु च गुरुनो सब्बे, पटिपूजने पण्डिता । उट्ठाहिका अनलसा, संगहितपरिज्जना, भत्तु, मनापं चरति, सम्भते अनुरक्खति । या एवं वत्तति नारी; भत्तु छन्दवसानुगा, मनापा नाम तेदेवा, यत्थ सा उपपज्जति । हिन्दी रूपान्तर के लिए देखिए, अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, जिल्द ३, पृ० ३३९-३४० ।

में कहते हैं, जो शरीर छूटने पर मरने के अनन्तर मनापकायी देवियों की संगति में उत्पन्न होती है। वहीं^१ के एक स्थल पर वे विशाखा मृगारमाता से कहते हैं कि विशाखे ! जिस स्त्री में ये चार बातें होती हैं, यथा—स्त्री अपने कर्मान्त की सम्यक् व्यवस्थापक होती है; अपने स्वामी की इच्छा के अनुकूल आचरण करने वाली होती है तथा कमाये हुए की रक्षा करने वाली होती है, वह इस लोक के मार्ग पर आरुढ़ होती है। इस तरह वे स्त्री को श्रद्धायुक्त, सदाचारिणी और प्रज्ञावान भी कहते हैं। वहीं वे विशाखा को धर्मस्थित, सत्यवादी, शीलवती नारी की परिभाषा देते हुए उसके आठ गुणों का वर्णन करते हैं। इसके विपरीत अंगुत्तर निकाय^२ के सप्पसुत्त में वे स्त्री की तुलना काले नाग से करते हैं और कहते हैं कि जिस तरह से काले नाग में पाँच प्रकार के दोष होते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों में भी ये दोष होते हैं। वे बुराई की गंध देने वाली, डरपोक, आँसू बहाने वाली और मित्रों को धोखा देने वाली होती हैं।^३ इस सम्बन्ध में विनयपिटक^४ का वह उल्लेख बड़ा समीचीन है, जिसमें बुद्ध ने आनंद के बार-बार कहने पर स्त्रियों को बौद्ध संघ में प्रवेश की आज्ञा तो दे दी, किन्तु साथ ही अपनी आशंका भी व्यक्त कर दी। उन्होंने कहा था—‘यदि स्त्रियों ने गृहस्थों का जीवन छोड़कर संघ में प्रवेश करने की आज्ञा न पायी होती तो हे आनंद ! यह सद्धर्म बहुत दिनों तक जीवित रहता; इसकी आयु एक हजार वर्ष तक चलती। किन्तु हे आनंद ! चूँकि यह आज्ञा अब स्त्रियों को मिल गयी है, सद्धर्म अब इतने दिनों तक नहीं चलेगा, वह केवल ५०० वर्षों तक ही टिकेगा।’ यद्यपि बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षुणियों के रूप में संघ में प्रवेश की आज्ञा दे दी, उन्होंने भिक्षुणियों के लिए आठ ऐसी कठोर और गम्भीर शर्तों को मानना आवश्यक कर दिया, जिन्हें स्वीकार करने पर ही उनकी उपसम्पदा संभव थी।^५

१. वहीं, पृ० ३४३-३४५।

२. पाटोसो, जिल्द ३, पृ० ३६०।

३. वहीं, रॉकहिल्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६१, पदसंकेत २। उसमें कहा गया है कि पाँच प्रकार के भयानक साँप होते हैं, क्रुद्ध, बदला लेने वाला, घृणा करने वाला, क्रुतघ्न और जहरीला और इसी तरह पाँच प्रकार की स्त्रियाँ भी होती हैं। उनमें भी यही दोष होते हैं।

४. संदर्भ के लिए देखिए, कोमलचन्द्र जैन, पूर्वनिर्दिष्ट, पाँचवाँ अध्याय, ‘भिक्षुणीजीवन’।

५. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, जिल्द ३, पृ० ३४७।

बुद्ध द्वारा आनंद से स्त्रियों के प्रति कहे गये शब्दों का एक मात्र कारण यह था कि वे स्वयं प्रव्रजित सन्यासी थे और ज्ञान की खोज में लगे हुए निवृत्ति-परक साधु थे। उनकी दृष्टि में स्त्रियों और पुरुषों का साहचर्य संघ की चारित्रिक पवित्रता के लिए खतरे से भरा हुआ था, विशेषतः ऐसे संघ में जहाँ इस बात की कोई पाबंदी नहीं थी कि वे ही लोग उसमें प्रवेश करें, जो गृहस्थाश्रम के वैवाहिक धर्म का भली प्रकार पालन कर चुके हों। अतः यह प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध के स्त्रियों के सम्बन्ध में दो प्रकार के मूल्यांकन थे। जहाँ वे बौद्ध संघ के संदर्भ में स्त्रियों के प्रति सशक्त थे, वहीं साधारण गृहस्थ जीवन के संबंध में स्त्रियों के प्रति वे उदार, सम्मानजनक और उच्च भाव से युक्त थे।

सप्तम अध्याय

सामाजिक संस्थाएँ

विवाह एवं पारिवारिक जीवन

भारतवर्ष में कुटुम्ब अथवा परिवार सदा समाज की इकाई होता था। कुटुम्ब अथवा परिवार में उसका प्रधान, उसकी स्त्री, अविवाहित कन्याएँ, पुत्र, पुत्र-बहुएँ और उनके बच्चे सम्मिलित माने जाते थे। इनमें परिवार का प्रधान सबसे बड़ा वह वृद्ध व्यक्ति माना जाता था, जिससे अथवा जिसके पुत्र-पौत्रों से अन्य सभी उत्पन्न हुए रहते थे। बच्चे परिवार के केन्द्रबिन्दु थे, जिनकी उत्पत्ति, नामकरण (नामगृहण) और अन्य संस्कारों के उपलक्ष्य में अनेक उत्सव मनाये जाते थे।^१ संयुक्तनिकाय^२ के धीतसुत्त (३/२/६) में कोसलराज प्रसेनजित, कट्टहार जातक में एक राजा एवं उद्दालक जातक (सं० ३४३) की एक पुरोहित से सम्बन्धित कथाओं से यह प्रतीत होता है कि परिवार में कन्या की उत्पत्ति उतनी सुखदायक नहीं मानी जाती थी, जितनी पुत्र की। किन्तु बुद्ध के प्रसेनजित को दिये जाने वाले उपदेश से स्पष्ट है कि "कोई-कोई स्त्रियाँ भी पुरुषों से बड़ी-चढ़ी, बुद्धिमती, शीलमती, और पतिव्रता होती हैं। उन्हीं से पुत्र रत्नों की प्राप्ति होती है"^३। इस प्रकार पुत्रियों और स्त्रियों के आदर में कहीं कमी नहीं दिखायी देती। निकायों से माता-पिता का पुत्र-पुत्रियों के प्रति स्नेह सम्बन्ध, पारस्परिक सौहार्द और एक-दूसरे के प्रति निकटता का बड़ा अच्छा परिचय प्राप्त होता है। पुत्र-पुत्रियों के प्रति माता-पिता के प्रेम का उदाहरण सोणनन्द जातक^४ (सं० ५३२) से बड़े अच्छे रूप में प्राप्त होता है। पिता की वृद्धावस्था अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर परिवार की प्रधानता और उसके भरण-पोषण का भार जेठे (जेठुक) लड़के पर होता था। यदि वह अल्पवयस्क हुआ तो माता घर की सम्पत्ति की देखभाल करती थी, जिसमें सभी

१. देखिए, प्रो बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २६६।
२. अथ खो अञ्जतरो पुरिसो रञ्जो पसेनदिस्स उपकण्णके आरोचेसि—
मल्लिका, देव ! देवी धीतरं विजाता'ति । एव वुते राजा पसेनदि कोसलो
अनत्तमनो अहोसि । संयुक्तनिकाय, नालदा, पालि प्रकाशन, १/८१।
३. वहीं।
४. फॉसवॉल संस्करण, जिल्द ५, पृ० ३१२ और आगे।

भाइयों का बराबर का भाग होता था। किन्तु पुत्रों के विवाह के साथ संयुक्त परिवार विभक्त भी हो जाते थे। तथापि ऐसे सभी परिवार प्रायः एक-दूसरे के आसपास रहते थे और उनका कुल-सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हुआ करता था।^१

परिवार के बाद समाज की दूसरी इकाई जाति थी। एक जाति के लोगों के एक स्थान पर रहने और आपस में एक-दूसरे के प्रति बहुत सहायक होने का उदाहरण तच्छसूकर जातक (सं० १२६) से प्राप्त होता है। माता, पिता, मित्र, सुहृद् और जाति (मातापितृमित्रसुहृज्ज जाति वगो) का उल्लेख प्रायः एक साथ प्राप्त होता है। रतिलाल मेहता के मत में यहाँ जाति से मतलब सम्भवतः जाति से नहीं, अपितु उन सभी परिचित लोगों से है जो एक-दूसरे के साथ मिलकर एक एक स्थान पर रहते थे।^२ इन वर्गों में आपसी प्रेम, एक दूसरे की सहायता, विपत्ति के समय एक दूसरे के साथ खड़े होने का भाव और परस्पर मित्रता की स्थिति के उल्लेख अनेक जातकों में पाये जाते हैं। अपने कुल और जातियों के प्रति प्रगाढ़ रूप से बंधे होने का भाव भद्रसाल जातक (सं० ४६५) के उस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ बुद्ध विडूडभ के आक्रमण से शाक्यों को बचाने का प्रयत्न करते हुए कोसल राज्य की सीमा में स्थित एक हरे-भरे पेड़ की घनी छाया को छोड़कर शाक्य सीमा में स्थित एक ठूँठे और छायाविहीन पेड़ के नीचे बैठे हुए दिखाये गये हैं।^३ वहाँ बुद्ध यह कहते हुए प्रदर्शित हैं कि जातिबान्धवों की छाया ही सबसे बड़ी छाया होती है।

विवाह

प्राचीन भारतीय समाज में विवाह की संस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की धुरी के रूप में थी। पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के बिना अपूर्ण माने गये हैं। अंगुत्तरनिकय^४ तथा एक जातक^५ कथा के अनुसार पुरुष ही स्त्री का वास्तविक आच्छादन और आभूषण होता है। पुरुष के अभाव में स्त्री सभी आभूषणों को पहनने के बाद भी निर्वस्त्र समझी जाती थी। अतः अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना परिवार के प्रधान का एक विशेष उत्तरदायित्व होता था। इस उत्तर-

१. देखिए, रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६८-२७०।

२. वहीं, पृ० २६९-२७४।

३. देखिए, जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ३५३।

४. पाटोसो, जिल्द ४, पृ० ५७।

५. इत्थिया हि सामिको अच्छादन नाम, सामिकाग्निह असीत सहस्रमूलं पि साटकं निवत्था इण्णा एव नाम। जातक, फॉसदॉल, जिल्द १, पृ० ३०७।

दायित्व के निर्वाह की चिन्ताएँ बौद्ध साहित्य के अनेक स्थलों से बड़ी स्पष्ट रूप में सामने आती हैं। जातकों^१ से यह प्रतीत होता है कि विवाह सम्बन्ध तय करने के लिए माता-पिता उपयुक्त कन्या अथवा वर की खोज में दूतों को भेजा करते थे। वरों द्वारा कन्याओं के न पसन्द किए जाने, सुरूप कन्याओं को अनेक वरों द्वारा पसन्द किए जाने तथा वर-कन्या की इच्छाओं की ओर विशेष ध्यान देते हुए उनके माता-पिता द्वारा उनके विवाह तय करने के उदाहरण प्राप्त होते हैं।^२

सुत्तपिटक से विवाह के सम्बन्ध में कुछ निश्चित प्रथाओं के प्रचलन का ज्ञान होता है। बौद्ध आगम में इस सम्बन्ध में दो शब्द—आवाह^३ और विवाह मिलते हैं। आवाह शब्द का अर्थ उत्तम कुल से शुभ नक्षत्र में लड़की को ले आना था तथा विवाह का अर्थ किसी उत्तम वर के लिए किसी शुभ नक्षत्र में लड़की को दे आना था।^४ स्पष्ट है कि वैवाहिक प्रथाओं में लड़की को लाने के लिए लड़के का जाना तो प्रचलित था ही, लड़की के माता-पिता भी कभी-कभी लड़की को स्वयं लड़के के घर विवाह हेतु पहुँचा देते थे। इस सम्बन्ध में जाति, कुल और गोत्र का बड़ा विचार किया जाता था।^५ कच्छप जातक (सं० २४) से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धका शीन समाज में भी असगोत्र विवाह ही प्रचलित थे।^६ सजाति विवाह सर्वोत्तम माना जाता था। कन्या अथवा वर के कुल पर पूर्ण विचार किया जाता था। कोई भी कन्या अथवा वर खोजते समय समान अथवा उत्तम कुल सबसे श्रेयष्कर माना जाता था।^७ अपनी ही जाति में विवाह करने का

१. वहीं, जिल्द ४३, पृ० ९३।

२. वहीं, जिल्द ४, पृ० २१९; जिल्द २, पृ० १३८; थेरीगाथा, पृ० १५२।

३. आवाह विवाहकानं अपस्थितो होति—दीघनिकाय, तृतीय, पाटेसो०, पृ० १४२; आवाहनं विवाहनं... वहीं, जिल्द १, पृ० १२।

४. आवाहनं नाम इमस्स दारकस्स असुककुलतो असुकनक्खत्तेन दारिकं आनेथां 'ति। विवाहनं ति इमं दारिकं असुकस्स नाम दारकस्स असुकनक्खत्तेन देश एवं अस्सा बुद्धिं भविस्सती'ति विवाहकरणं। सुमंगलविलासिनी, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ९६।

५. यत्थ खो, अम्बट्ठ, आवाहो वा होति विवाहो वा होति आवाह विवाहो वा होति, एत्थेतं वुच्चति जातिवादो वा इति पि गोत्तवादो वा इति पि मानवादो वा इति पि... दीघनिकाय, पाटेसो०, प्रथम, पृ० ८६-८७।

६. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० ३६०।

७. वहीं जिल्द १, पृ० १९९, ४७७; जिल्द २, पृ० २२५, २२९; जिल्द ३, पृ० १६२, ४२२; जिल्द ४, पृ० २२। थेरीगाथा, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ४२।

कारण सम्भवतः यह था कि बुद्ध का समय आते-आते जातिगत भावनाओं में काफी तेजी आ गयी थी और अपनी जाति से बाहर विवाह करके लोग अपनी जाति का रक्त अशुद्ध नहीं करना चाहते थे। जातकों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण,^१ क्षत्रिय,^२ श्रेष्ठि^३ और भांडागारिक^४ लोग अपनी ही जाति और अपने ही समाज के आर्थिक प्रतिष्ठा वाले कुलों में विवाह-सम्बन्ध करते थे। इस प्रकार वंशाली के लिच्छवियों में एक नियम सा बन गया था कि 'प्रथम श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह केवल प्रथम श्रेणी के परिवारों में हो सकता है। मध्यम श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह प्रथम और मध्यम श्रेणी (वर्ग) में हो सकता है। लेकिन तृतीय श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह किसी भी श्रेणी (वर्ग) के परिवार में हो सकता^५ है।'

जहाँ तक गोत्र का सम्बन्ध है, गौतम बुद्ध के समय में भी प्रायः असगोत्र विवाह ही होते थे। मज्झिमनिकाय के अंगुलिमालसुत्त^६ से ज्ञात होता है कि जब कोसलराज प्रसेनजित ने अंगुलिमाल की कुलोत्पत्ति पूछी तो उसने अपने पिता को गर्गगोत्री और माता को मंत्रायणी गोत्री बतलाया।^७ मज्झिमनिकाय^८ में भी यह कहा गया है कि यदि कोई पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करे तो उसके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वह स्त्री ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्रा है और उसका नाम तथा गोत्र क्या है।

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० १६२; जिल्द ४, पृ० १२२।
२. थेरीगाथा, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० २२।
३. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० २२५। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि श्रेष्ठि और भांडागारिक नाम की दो अलग-अलग जातियाँ नहीं थीं। प्रत्युत् ये दोनों वर्गविशेष अथवा पदविशेष का संज्ञायें थीं और इन पदों पर रहने वाले लोगों की संख्या भरपूर होने के कारण ये धीरे-धीरे जाति जैसे ही वर्ग बन गये।
४. थेरीगाथा, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ४२।
५. रॉकहिल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२; इहिववा० जिल्द २३, मार्च १९४७, पृ० ५८; घोषाल, स्टडीज् इन् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, पृ० ३८९।
६. गगो खो महाराजपिता, मन्ताणा माताति। मज्झिमनिकाय, द्वितीय, पृ० १०२।
७. अम्मो पुरसि यत्वं जनपदकल्याणि इच्छसि, कामेसि जानासि तं जनपद-कल्याणी, खत्तिया वा ब्राह्मणी वा वेस्सी वा सुदी वा'ति। एवं नाम एवं गोत्ता इति वा'ति। वहीं द्वितीय, पृ० ४०।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सुत्तपिटक में असगोत्र विवाहों को ही साधारणतया मान्यता दी गयी है। किन्तु अपवादस्वरूप वहीं स्वभगिनियों से भी विवाह के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे लिच्छवियों ने अपनी वंश-रक्षा के लिए अपनी भगिनियों से विवाह किया था।^१ लगभग इसी प्रकार की सूचना परमत्थ-जोतिका से भी प्राप्त होती है, जहाँ पर लिच्छवियों की उत्पत्ति की चर्चा की गयी है और उन्हें भाई-बहिन के साथ विवाह करता हुआ दिखाया गया^२ है। अम्बष्ठसुत्त में राजा ओक्काक के चार पुत्रों द्वारा अपनी ही सगी छोटी बहनों से विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसकी स्मृति कुणाल जातक (सं० ५३५) और भट्टसाल जातक (सं० ४६५) में भी मिलती है। भट्टसाल जातक से यह स्पष्ट है कि शाक्यों ने प्रसेनजित को अपनी कन्या इस कारण नहीं दी कि उससे उनके वंश का गौरव समाप्त हो जाने का भय था और अन्ततः उन्होंने महानाम के सुजाने पर वासभखत्तिया नामक दासीपुत्री को प्रसेनजित के यहाँ उससे विवाह हेतु भेज दिया, जो आगे चलकर शाक्यों के विनाश का कारण बना।^३ इसी प्रकार बुद्धघोष^४ लिच्छवियों में भी भाई-बहिन के विवाह का उल्लेख करते हैं। किन्तु शाक्यों में प्रचलित यह प्रथा किसी अतीत काल की स्मृति मात्र थी। वास्तव में शाक्य स्वयं भी बुद्ध के समय कोलिय गणतंत्र की राजकुमारियों से विवाह किया करते थे। प्रसेनजित की पुत्री वाजिरा से अजातशत्रु का विवाह ममेरी बहन से विवाह करने का एक प्रमुख बुद्धकालीन उदाहरण है।^५ उसके समान ही काशी और शिवि देश के राजकुमारों में भी मातुल कन्याओं से विवाह की चर्चाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये विवाह केवल राजकुलों में ही सम्पन्न

१. डायलॉग्स ऑफ बुद्ध, जिल्द २, पृ० ११५; जातक, हिन्दी अनु०, जिल्द ५, पृ० ४१३।
२. देखिए वि० च० लाहा, क्षत्रिय क्लान्स इन् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० १७-२१। इसी से मिलती-जुलती एक कथा सिंहली पुस्तक 'पूजावालिये' में भी वर्णित है। देखिए, हाडी, ए मैन्युअल् ऑफ बुद्धिज्म, द्वितीय संस्करण, १८८०, पृ० २४२-४३।
३. ते जाति सम्भेदभय सकाहि भगिनीहि सद्धि संवासं कम्पेन्ती'ति। दीघनिकाय, प्रथम, पृ० ८०-८१।
४. इस सम्बन्ध में देखिए, भट्टसाल जातक सं० ४६५।
५. अंगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा, पाटोसो, जिल्द १, पृ० १५८ और आगे।
६. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २; जातक, फाँसबॉल, जिल्द १, पृ० ४५७। अपर भागेभागिनेयस्य रज्जं दत्त्वा धीतरं महादेवि अकासि। वहीं, जिल्द २, पृ० ३२७; जिल्द ४, पृ० ४८६।

होते थे। इस प्रकार की कतिपय अन्य वैवाहिक प्रथाओं का वर्णन जातकों^१ में भी मिलता है।

अन्तर्जातीय विवाह के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में अनुलोम विवाहों की आज्ञा दी गयी है। किन्तु ये सारे उदाहरण अपवादस्वरूप ही माने जा सकते हैं। दीघनिकाय से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह सूचक उल्लेख प्राप्त होते हैं।^२ अहिपारक नामक एक क्षत्रिय सेनापति ने एक श्रेष्ठि की कन्या से विवाह कर लिया और एक राजा ने शाक-सब्जी बेचने वाले की कन्या पर आसक्त होकर उससे विवाह कर लिया।^३ प्रसेनजित की रानी मल्लिका भी इसी कोटि में आती है। वह एक मालाकार की पुत्री थी, जो अपनी बुद्धिमत्ता एवं अन्य गुणों के कारण धीरे-धीरे उसकी पटरानी बन गयी।^४ प्रसेनजित ने अनेक स्त्रियों से विवाह किया था और उसके रनिवास की संख्या कभी-कभी पाँच सौ बतलायी गयी है।^५ प्रसेनजित की तरह कुछ अन्य राजकुमारों द्वारा भी अनेक स्त्रियों से विवाह करने के अपवादी उदाहरण प्राप्त होते हैं। सुसचि नामक राजकुमार राजदरबारों की प्रथा के अनुरूप सोलह हजार स्त्रियों (रखेलियों) को अपने रनिवास में रखने के लिए अपनी रानी और अपनी प्रजा द्वारा विवश किया गया था।^६ किन्तु उसे वह स्वयं ही आदर्श नहीं मानता था। रट्ठपाल-सुत्तन्त^७ के अनुसार एक ब्राह्मणगृहस्थ के पुत्र रट्ठपाल की कई स्त्रियाँ थीं। इसी प्रकार अंगुत्तरनिकाय^८ से ज्ञात होता है कि एक अन्य ब्राह्मण अपनी चार-चार स्त्रियों के साथ सुखपूर्वक रहता था। एक जातक में एक ब्राह्मण को अपनी चार पुत्रियों को एक ही वर से व्याहते हुए दिखाया गया है।^९ बहुपत्नीत्व के इन गिने-चुने उदाहरणों की तुलना में बहुपत्नित्व का भी एक उदाहरण एक राज-

१. फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, पृ० ४८६।

२. इधखत्तियकुमारो ब्राह्मणकञ्जाय सद्धि संवांस केप्पेय..... ब्राह्मण कुमारो खत्तिय कञ्जाय सद्धि। दीघनिकाय, १/८४/८६

३. वहीं, पाटेसो०; जिल्द २, पृ० ५; जिल्द ३, पृ० २१।

४. कुम्मासपिण्ड जातक (सं० ४१५) की वर्तमान कथा।

५. हार्डी, ए मैनुअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० २९७।

६. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ३१६-३२०; गाथाएँ १०७-१०८।

७. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३३३।

८. अंग्रेजी अनुवाद, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० १२०।

९. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २ पृ० १३२।

कुमारी कन्या के सम्बन्ध में एक जातक से प्राप्त होता है^१, जो महाभारत में द्रौपदी (कृष्णा) के पाँच पतियों (पाण्डवों) की स्त्री होने से तुलनीय है।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साधारणतया एक विवाह करने वाले सभी लोग अपनी ही जाति अथवा वर्ण में विवाह करते थे और समान शील, समान कुल, समान आचार, और समान गुण वाले परिवारों का ही विवाह-सम्बन्ध उचित माना जाता था। अन्तर्जातीय विवाह साधारणतया उन्हीं लोगों में प्रचलित थे, जो बहुविवाह करते थे। किन्तु ऐसे बहुविवाह भी अनुलोम कोटि के ही होते थे। बुद्ध के समय या उसके बाद प्रतिलोम विवाह बौद्ध धर्म से प्रभावित समाज में भी वर्जित और अस्वीकृत थे। एक जातक के अनुसार एक लिच्छवि कन्या पर आसक्त एक नाई के लड़के को उसका पिता समझाते हुए कहता है कि “पुत्र ! तुम हीनजन्मा नापितपुत्र हो और अनुरक्त हो गये हो जाति-सम्पन्ना क्षत्रिय-दुहिता लिच्छवि-कुमारी पर। यह तुम्हें उपयुक्त नहीं है। मैं तुम्हारे लिए सजातीय तथा सगोत्र कन्या का प्रबन्ध करूँगा।”^२ बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों के ब्राह्मण कन्याओं से विवाह के बहुत ही कम उदाहरण हैं।

विवाह निश्चित करते समय अनेक बातों का ध्यान रखा जाता था। विवाह प्रायः अभिभावकों अथवा मध्यस्थों द्वारा तय किए जाते थे। किन्तु विशेष परिस्थितियों के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें पूरी तरह से वयस्क पुरुष और स्त्रियों ने एक-दूसरे को स्वयं भी चुन लिया। ये सभी गान्धर्व विवाह की कोटि में आते हैं। वत्सराजकुमार उदयन का वासवदत्ता से तथा प्रसेनजित का मल्लिका से विवाह गान्धर्व विवाह के तत्कालीन प्रमुख उदाहरण हैं।

विवाह के सम्बन्ध में वर-वधू की समान आयु पर ध्यान रखा जाता था और सोलह वर्ष की अवस्था विवाह के लिए आदर्श मानी जाती थी।^३ तुल्यवया और ‘सादिसी’ कन्या का उल्लेख एक जातक^४ में हुआ है। गोकुलदास^५ ने इन दोनों शब्दों को समानार्थी माना है, जिसका अर्थ है कि वर और कन्या दोनों की अवस्था समान होनी चाहिए। बीस अथवा उससे अधिक की अवस्था तक अवि-

१. देखिए, रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८३।

२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० ५।

३. थेरीगाथा, १२.४६ और ४४५; धम्मपदटीका, पाटेसो०, जिल्द २, पृ० २१७; जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ४५६; जिल्द ३, पृ० ५९३; जि० ४, पृ० ४८४; जिल्द ५, पृ० २१०।

४. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ७६।

५. कलकत्ता रिव्यू, अक्टूबर १९३१, पृ० ११०।

वाहित रहने वाली कन्याओं के उदाहरण अपवादस्वरूप ही प्राप्त होते हैं।^१ मदनमोहन सिंह^२ ने जातकों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर बालक-बालिकाओं के विवाह की उम्र प्रायः सोलह वर्ष की बतायी है। किन्तु जातकों में विवाह के लिए सोलह वर्ष की आयु को आदर्श बताये जाने के तथ्य को स्वीकार करते हुए भी रतिलाल मेहता ने यह अनुमान लगाया है कि सम्भवतः ब्राह्मण और क्षत्रिय परिवारों में विवाह वय लगभग २० वर्ष हुआ करती थी। उनके मतानुसार विद्याध्ययन में रत इन दोनों उच्च वर्णों के बालक उस अवस्था तक अपनी विद्या पूर्ण कर चुके होते थे और उसके बाद ही उनका विवाह होता था।^३ इनसे स्पष्ट होता है कि बाल-विवाह प्रथा बुद्धकालीन समाज में अप्रचलित थी। वेसन्तर जातक (सं० ५४७) से एक वृद्ध पुरुष से एक नवयुवती के विवाह का उदाहरण प्राप्त होता है। किन्तु वहाँ भी ऐसे विवाहों को अनुचित बतलाया गया है। सुत्तनिपात^४ में वृद्ध विवाह का स्पष्टतः विरोध किया गया है। इस प्रकार के विवाह अनमेल विवाहों की श्रेणी में आते हैं। कुछ जातकों से ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ वृद्ध लोग भी विवाह के लिए लालायित दिखायी देते हैं। एक जातक^५ की कथा में यह बताया गया है कि एक बूढ़े सेठ ने एक नवयुवती से विवाह किया था और सर्वदा इस बात से चिन्तित रहा करता था कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी किसी दूसरे से विवाह करके उसकी कमाई को उड़ा डालेगी। वेसन्तर जातक (सं० ५४७) की कथा में अमिततापना नामक युवती का उल्लेख आता है, जिसे अन्य स्त्रियाँ यह ताना सुनाती हैं कि उसके माता-पिता ने उसका विवाह जुजुक नामक वृद्ध व्यक्ति से कर उसके साथ सचमुच शत्रुता की थी। इस तरह वेसन्तर जातक की इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में वृद्ध विवाह होते थे, परन्तु उन्हें हेय दृष्टि से ही देखा जाता था।

१. रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७७-२७८।
२. देखिए, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ० ४६-४७; धम्मपद अट्ठकथा, पाठेसो०, पृ० १२० में भी एक जगह कन्या की सोलह वर्ष की अवस्था ही विवाह योग्य बतायी गयी है। वहाँ कथित है—राजगहेल एका सेट्ठिधीता सोलस्सवस्स देसिका अभिरूपा अहोसि दस्सनाम। तस्मि चवयेपिता परियो-पुस्सझासाय होति पुरुषलोला।
३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७८।
४. सुत्तनिपात, १/६/२०।
५. फाँसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० २२५।

विवाह निश्चित करते समय वर और वधू के गुण-दोषों पर भी विचार किया जाता था। कन्या के गुणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान उसके रूप पर दिया जाता था। जो कन्याएँ सुन्दर नहीं होती थी, उन्हें वर पसन्द नहीं करते थे। अतः वे अपने माता-पिता की चिन्ता का कारण बन जाती थीं।^१ किन्तु वरों के सम्बन्ध में उनका सन्चरित्र और बुद्धिमान् होना ही पर्याप्त माना जाता था। एक जातक^२ कथा के अनुसार एक कुल का पुरोहित कन्या के पिता को यह परामर्श देता है कि वह शीलसम्पन्न वर को ही दी जाय। लड़कों में जुआ खेलने की दुष्प्रवृत्ति उनके विवाह के लिए एक बड़ा भारी अवगुण समझी जाती थी। यह माना जाता था कि अपनी उस दुष्प्रवृत्ति के कारण वह कन्या के भरण-पोषण में असमर्थ रहेगा।^३ मज्झिमनिकाय^४ में तो यहाँ तक शंका व्यक्त की गयी है कि ऐसा वर कहीं अपनी पत्नी को ही जुए में दाँव पर न लगा दे।

मुत्तपिटक के प्रारम्भिक अशों के अपने अध्ययन के आधार पर नरेन्द्र वागले ने बुद्धकालीन विवाह प्रथा के संबंध में कुछ रोचक निष्कर्ष निकाले हैं। “तदनुसार, कुछ बातें मुख्य रूप से दृष्टव्य हैं। प्रथमतः, कन्या और बालक की व्यक्तिगत रुचि अथवा राय का बिल्कुल कोई विचार नहीं था, यद्यपि दोनों में समान गुणों पर जोर दिया जाना उनमें हर तरह के मेल होने की ओर दृष्टि का द्योतक है। द्वितीयतः, दोनों ही पक्षों के परिवार एक-दूसरे को अच्छी तरह से जानते रहते थे। तीसरे, दोनों परिवारों की सामाजिक स्थिति और उनके उच्च स्थान को प्रमुखता दी जाती थी। तथ पि जब विवाह तय किया जाता था तो दोनों पक्ष बराबर की स्थिति के नहीं होते थे और वर के परिवार का स्थान ऊँचा होता था, यद्यपि यह मान्यता थी कि दोनों ही परिवार समान स्थिति के होने चाहिए।”

पुनर्विवाह और विवाहविच्छेद के भी कुछ उदाहरण मुत्तपिटक से प्राप्त होते हैं। नन्दजातक (सं० २०२) में एक बूढ़े सेठ को इस चिन्ता से ग्रसित दिखाया गया है कि कहीं उसकी मृत्यु के बाद उसकी नवयुवती स्त्री किसी दूसरे पुरुष से

१. धीता वयप्पता न चनं केपि वारेति । वहीँ, जि० ४, पृ० २१९ ।

२. वहीँ, जिल्द २, पृ० १३८ ।

३. खो मे गहपतिमुत्त, आदीनावा जूतप्यमादट्ठानानुयोगे...आवाह विवाहकानं अपत्थितोहोति-अक्खधतो अयं पुरिस पुग्गलो नालं दारभरणाया' ति । दीध-निकाय, जिल्द ३, पृ० १४१-१४२ ।

४. ...अक्खधुतो पठमेनेव कलिग्गहेन पुत्तपियजीयेथदारं पि जीयेथ । मज्झिम-निकाय, पाटोसो, जिल्द ३, पृ० २४० ।

५. सोसाइटी ऐट दि टाइम् ऑफ बुद्ध, पृ० ९७ ।

विवाह करके उसकी सारी संचित धन-सम्पत्ति उड़ा-पड़ा न डाले। अंगुत्तरनिकाय^१ के एक स्थल पर एक स्त्री अपने मरणासन्न पति को पुनः विवाह न करने का आश्वासन देती हुई दिखायी गयी है। दीघनिकाय^२ के महागोविन्दसुत से ज्ञात होता है कि महागोविन्द ने बौद्ध संघ में प्रव्रज्या लेते समय अपनी स्त्रियों को पुनर्विवाह की छूट दे दी थी। किन्तु उस छूट का किसी भी स्त्री ने लाभ नहीं उठाया। किन्तु इसके विपरीत एक उदाहरण अंगुत्तरनिकाय^३ से प्राप्त होता है, जहाँ पर उग्र नामक गृहपति की चार पत्नियों में सबसे बड़ी पत्नी ने उग्र की प्रव्रज्या के बाद पुनर्विवाह कर लिया। स्पष्ट है कि पुनर्विवाह स्त्री की इच्छा पर निर्भर था और सिद्धान्ततः स्वीकृत होते हुए भी प्रायः समाज में अपवादरूप में ही प्रचलित था। सम्भवतः पुनर्विवाह की प्रथा के अन्दर पुत्र का न होना मुख्य निर्णायक तत्त्व हुआ करता था। कोमलचंद्र जैन^४ का निष्कर्ष है कि पुनर्विवाह की प्रथा प्रायः श्रेष्ठि अथवा निम्न वर्ग में ही प्रचलित थी। विधवाएँ प्रायः द्वितीय विवाह नहीं करती थीं। अंगुत्तरनिकाय^५ के एक स्थल पर नकुल नामक व्यक्ति की माता अपने मरणासन्नपति को यह आश्वासन देती है कि उसकी मृत्यु के बाद वह सूत कातकर तथा ऊन बेंचकर अपने बच्चों का पालन पोषण करती हुई अपनी घर गृहस्थी चला लेगी, किन्तु पुनः विवाह नहीं करेगी। बुद्ध, सुदीन और रट्टपाल जैसे अनेक भिक्षुओं की स्त्रियों में से किसी ने भी अपना घर परिवार नहीं छोड़ा।^६

पुनर्विवाह की ही तरह यत्र-तत्र विवाह-विच्छेद के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। दीघनिकाय^७ में इसे विवदन कहा गया है। थेरीगाथा^८ में विवाह-विच्छेद के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं।

बुद्धकालीन विवाह संस्था की चर्चा करते समय उस समय प्रचलित विवाहों के विभिन्न प्रकारों की ओर भी संक्षिप्त निर्देश किया जाना चाहिए। यद्यपि इस सम्बन्ध में मुत्तपिटक में सैद्धान्तिक रूप की कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती, उसके विभिन्न अंशों-विशेषतः जातकी से-विवाह के विभिन्न प्रकारों के उदाहरण संकलित

१. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० २९५।
२. दीघनिकाय, पाटोसो०, जिल्द २, पृ० १८५।
३. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० ३१६।
४. देखिए. बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ६७।
५. पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० २९६।
६. बागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८९।
७. पाटोसो०, जिल्द १, पृ० २१२।
८. थेरीगाथा, १५/१/४२२-४२५।

किये जा सकते हैं। तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उन विवाह प्रकारों की वैसी विशद चर्चा सुत्तपिटक में नहीं प्राप्त होती जैसी ब्राह्मण परम्परा के सूत्र ग्रन्थों में अथवा स्मृतियों जैसे हिन्दू धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में मिलती है। संयोग से विनयपिटक^१ में विवाह के दस प्रकारों का एक साथ विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार, प्रथम प्रकार का विवाह वह था जिसमें स्त्री को धन देकर खरीदा जाता था^२ (धनकलीता)। इसे हम धर्मशास्त्रों में वर्णित आसुर विवाह से मिला सकते हैं। द्वितीय प्रकार में स्त्री स्वेच्छा से किसी पुरुष के साथ रहने (छन्द-वासिनी) लगती थी। यह गन्धर्व विवाह से लगभग मिलता-जुलता प्रतीत होता है। तीसरे प्रकार में पुरुष स्त्री को धन देकर अपनी वासना पूरी (भोगवासिनी) करता था। इसे हम विवाह का कोई प्रकार न मानकर वेश्यावृत्ति के नजदीक की स्थिति मान सकते हैं। चौथे प्रकार में इसी तरह स्त्री को त्रस्त्र देकर ग्रहण (पटवासिनी) किया जाता था। पांचवें प्रकार में जल छिड़ककर पवित्रतापूर्वक स्त्री को ग्रहण (औदपट्टकानि) किया जाता था। इसे हम हिन्दू धर्मशास्त्रों का ठीक-ठीक ब्राह्मविवाह तो नहीं स्वीकार कर सकते, किन्तु उसकी कुछ विशेषताएँ इसमें प्राप्त होती हैं। छठे प्रकार में स्त्री अपने सिर का वस्त्र हटाती थी (ओमतचुम्म-बय)। सातवें प्रकार में स्त्री दासी होती थी। (दासीनाम)। आठवें प्रकार में वह एक सेविका (कम्मकारि) थी। नवें प्रकार में वह किसी पुरुष के साथ थोड़े ही समय तक निवास (मुहुत्तिका) करती थी। दसवें और अन्तिम प्रकार में वह किसी धावे में जीतकर (धानहरा) स्त्री बना ली जाती थी। विवाह के इन विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष निकालते हुए नरेन्द्र वागले^३ ने यह कहा है कि अन्तिम चार को पूरी तरह से विवाह की संज्ञा नहीं दी जा सकती, अपितु समाज द्वारा स्वीकृत स्त्री-पुरुष का एक साथ रहना मात्र माना जा सकता है। धनकलीता, पटवासिनी और भोगवासिनी स्त्रियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि ऐसे विवाहों में कुछ आर्थिक आदान-प्रदान सन्निविष्ट था, जिसके कारण ऐसे सम्बन्धों में कुछ स्थायित्व प्रतीत होता है। वास्तव में विवाह के ऊपरी दस प्रकारों में किसी को भी हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों में किसी एक के भी पूरी तरह नजदीक नहीं स्वीकार किया जा सकता।

१. पाटोसो, जिल्द ३, पृ० १३९-१४०।

२. उदाहरण के लिए देखिए, जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० १८५; जिल्द ३, पृ० ३४२; जिल्द ४, पृ० १२२ और जिल्द ५, पृ० १६९।

३. सोसाइटी ऐट दि टाइम् ऑफ बुद्ध, पृ० ९८।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित गान्धर्व विवाह (विवाह के आठ प्रकारों में से एक), सिद्धान्तरूप में तो नहीं किन्तु प्रयोग रूप में, जातकों में अनेक स्थलों पर प्रचलित दिखायी देता है। यहाँ उसके सभी उदाहरणों को इकट्ठा करना बहुत आवश्यक नहीं है। केवल संक्षेप में कुछ उदाहरणों की ओर इंगित किया जा सकता है। महाउम्मग जातक (सं० ५४६) में मिथिला के राजकुमार महोसध का एक ग्रामणी युवती से विवाह, कट्टहार जातक (सं० १२) में वाराणसी के एक राजा का एक बगीचे में फूल बिनने वाली सुन्दर नवयुवती से विवाह और बनारस के ही एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य के शिष्य का विवाह गान्धर्व विवाह के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। कोसलराज प्रसेनजित के द्वारा मल्लिका तथा वत्सराज उदयन द्वारा वासवदत्ता से विवाह गान्धर्व कोटि के विवाहों में अत्यन्त प्रमुख थे, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।^१

इसी प्रकार राक्षस विवाह के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। चोरो के एक मुखिया ने एक ग्रामीण बालिका का अपहरण कर उसे व्याह लिया तथा एक राजा ने अपने शत्रु राजा की हत्या कर उसकी स्त्री का हरण करके उसे अपनी रानी बना लिया।^२

दासता और दासों की स्थिति

वर्ण व्यवस्था के समान ही दास प्रथा भी भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रही।^३ चन्द्रगुप्त मौर्य के समय उसके दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मेगास्थनीज का यह कथन है कि भारतवर्ष में दास प्रथा नहीं थी।^४ रीज्डेविड्स ने इस कथन की व्याख्या करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में दासता का वह कठोर स्वरूप नहीं था, जो यूनान अथवा रोम में था।^५ अधिकांश विद्वान् इस मत को मानते हैं। किन्तु साक्ष्यों के सूक्ष्म अध्ययन से यह मत पूर्णतया ठीक नहीं लगता। भरतसिंह^६ उपाध्याय ने इसका विरोध करते हुए यह स्वीकार किया है कि बौद्ध साक्ष्यों के आधार पर भी प्राचीन

१. देखिए, पीछे पृ० १९१।

२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० २९६; जिल्द ५, पृ० २२-२६।

३. देखिए, देवराज चानना, स्लेवरी इन् ऐशियेंट इण्डिया, पृ० ४५।

४. मिक्त्रिण्डल्, ऐशियेंट इण्डिया ऐन्ड डेस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज् ऐण्ड एरियन्, पृ० ३८ और २११।

५. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ५५। इस मत की पुष्टि नलिनाक्ष दत्त और कृष्णदत्त वाजपेयी भी करते हैं। देखिए, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास।

६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५१६।

भारतवर्ष में कठोर दासता का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। देवराज चानना^१ ने दासता के संबन्ध में विशेष विस्तार से विवेचन किया है और उनका मत भी इसी के समकक्ष है।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि प्राचीन भारतवर्ष में दास प्रथा थी, फिर भी प्राचीन यूनान अथवा रोम में हिल्ट अथवा सर्फ कहे जाने वाले सभी राजनीतिक और बहुत बड़ी मात्रा में नागरिक अधिकारों से वंचित जो दास थे, उनकी तुलना में भारतीय दासों की स्थिति बहुत अच्छी थी। भारतीय दास घर-गृहस्थी में काम करने वाले नौकरों अथवा भूतकों में सम्मिलित थे। मोटे रूप में वे शूद्र वर्ण में सम्मिलित थे। **सज्जमनिकाय**^२ से ज्ञात होता है कि योन, कम्बोज और गांधार क्षेत्रों में आर्य और दास नामक दो ही वर्ग थे, किन्तु ये वर्ग परिवर्तनशील थे।^३ **विधुर पंडित जातक**^४ (सं० ५४५) में दासों के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, यथा—अंतोजाता अर्थात् दास स्त्रियों से उत्पन्न; **धनक्कीता** अर्थात् द्रव्य देकर खरीदे हुए; **कर्मरानीता** अर्थात् डाकुओं द्वारा जबरदस्ती बनाये हुए दास और **सयम्दासव्यमुपगता** अर्थात् स्वेच्छा से बने हुए दास। इसके अतिरिक्त युद्ध में जीत, कर्ज के बदले अथवा प्रणदण्ड से बचने के लिए या किसी अन्य प्रकार के अपराध के दण्डस्वरूप अथवा भय के कारण भी दासता हो जाती थी। कभी-कभी स्वतः भी लोग दास हो जाया करते थे।^५ दास-दासियों से उत्पन्न पुत्र-पुत्री भी दास-दासी ही होते थे। इस सम्बन्ध में **भट्टसाल जातक** (सं० ४६५) से एक प्रसिद्ध उदाहरण वासभक्तिया का प्राप्त होता है, जो महानाम नामक शाक्य राजकुमार की नागमुण्डा नामक दासी स्त्री से उत्पन्न हुई थी और जिसे शाक्यों ने घोखे से अपनी कन्या कहकर प्रसेतजित से व्याह दिया था। दासों के

१. स्लेवरी इन् ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० ४५।
२. दासता के अन्य सन्दर्भों के लिए दे०, कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्—सम्पादित रामतेज शास्त्री, पृ० २९८ और आगे, तृतीय, १३.६५; ऋग्वेद, तृतीय, ३६.१२; अष्टम, ५६.३; दशम ६२.१०; वेदिक इंडेक्स, जिल्द १, पृ० ३५४; जगदीश चंद्र जैन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०७।
३. अइयो हूत्वा दासो होति, दासो हूत्वा अइयो होति। पाटोसो०, जिल्द २, पृ० १४९।
४. देखिए, नृपेन्द्रकुमार दत्त, ओरिजिन् ऐण्ड ग्रीथ ऑफ् कास्ट इन् इण्डिया, पृ० २२७ से २२८; वि० च० लाहा, इण्डोलॉजिकल् स्टडीज्, जिल्द २, पृ० ७८, और खण्डहाल जातक, सं० २३५।
५. विनयटेक्ट्स, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० १९१।

खरीदने और बेचने के अनेक उदाहरण जातकों^१ से प्राप्त होते हैं। अंगुत्तर-निकाय^२, सन्तवनिज्जा और मनुस्सविक्कय का उल्लेख करता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यों का भी व्यापार होता था। यह निश्चय ही दासों के बेचे और खरीदे जाने का द्योतक है।^३

दास लोग प्रायः घर-गृहस्थी के कामों में ही नियुक्त किए जाते थे, जहाँ उन्हें पेसिसक, दास, कम्मकर अथवा भत्तक कहा जाता था। इस प्रकार की दासता करने वाले पुस्तदरपुस्त दासता करते थे और घर-गृहस्थी में सफाई से लेकर सभी छोटे-बड़े और सभी हीन काम उन्हें करने पड़ते थे। अलग-अलग कार्यों के लिए उनकी अलग-अलग संज्ञायें हो जाती थीं, जैसे—कम्मन्नदास^४ (खेत, दुकान अथवा कर्म-शाला में काम करने वाले दास), पेसकेर दास (वस्त्र बुनने वाले दास), रजक दास (कपड़ा धोने वाले दास) आदि।^५ इसी तरह स्त्री दासियों के भी कई प्रकार होते थे, जैसे—दासी, कुम्भदासी, वन्नदासी, वीहिकोट्टिक दासी आदि।^६ ये सभी प्रायः घर-गृहस्थी की सेवकाई में नियुक्त रहती थीं। दासियों के शरीर पर उनके स्वामियों का पूरा अधिकार रहता था। स्वामी द्वारा किये गये किसी भी व्यवहार या आचरण के विरुद्ध दासी कुछ भी नहीं बोल सकती थी। दासी से नाराज होने पर स्वामी दण्डस्वरूप उसका वध तक कर सकता था।^७ दासियों को खरीदा एवं बेचा भी जा सकता था।^८ दासी से उत्पन्न पुत्र को दासो पुत्र^९ जैसे अपशब्द से सम्बोधित किया जाता था, और समाज तथा परिवार में उसे कोई वैधानिक अधिकार नहीं प्राप्त होता था। अपवादस्वरूप कटाहक जातक (सं० १२५) से यह

१. जातक, संख्याएँ, ३९, ४०२ और ५३२।
२. पाटोसो, जिल्द ३, पृ० २०८।
३. इस संबंध में देखिए नन्द जातक, सं० ३९; सनुमस्त जातक सं० ४०२ आदि।
४. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ४६८।
५. देवराज चानना, स्लेवरी इन् ऐंशियेट् इण्डिया, पृ० ६९-७०।
६. वही, पृ० ७०-७२। किन्तु देवदासी शब्द का प्रयोग बुद्धघोष अपनी अट्ठ-कथा में करते हैं।
७. देखिए, अंगुत्तरनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, ३/२२५; थेरीगाथा, नालंदा, पालि प्रकाशन, १२१/२३६।
८. सचे मे दासं दासि वा नानीयस्ससि ब्राह्मण।
एवं ब्राह्मण जानाहि न ते वच्छामि सन्तिके॥
महावेसन्तर जातक, गाथा सं० २९४।
९. मा भवं गोतमो अम्बदुट्ठं अति बाल्हं दासिपुत्तवादेन निम्नादेसि।
दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, १/८१

ज्ञात होता है कि अपने दास पर प्रसन्न होकर एक स्वामी ने उसे अपना भाण्डा-गारिक नियुक्त कर दिया था। तब भी उसे सर्वदा इस बात का भय रहता था कि छोटी सी भी गलती हो जाने पर वह पुनः पहले की ही तरह पीटा जायगा। दास कर्मों में गृहकार्यों और स्वामी की सेवा के अतिरिक्त रसोइये का काम, जलाशयों से जल लाना, बर्तन धोना, अन्नशालाओं की देखरेख करना, धूप में अन्न सुखाना, अपने कृषक स्वामियों के मजदूरों के लिए खेतों में भोजन पहुँचाना अथवा अपने स्वामियों के लिए मजदूरी करके धन इकट्ठा करने के लिए बाहर जाना सम्मिलित था।^१

दास-दासियों को दान अथवा उपहार में भी दिया जाता था।^२ साकेत के एक सेठ की पत्नी के सात वर्ष पुराने सिर के दर्द को ठीक करने के लिए जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य को उस सेठ ने सोलह हजार अश्वार्थियों के साथ एक दास और दासी भी उपहार में दिया^३ था। किन्तु यह अतिरंजित प्रतीत होता है।

राजाओं, बड़े-बड़े ब्राह्मणों अथवा अन्य महाशाल लोगों के घरों में तो विभिन्न प्रकार की सेवकाई के लिए दास होते ही थे, कभी-कभी साधारण लोग भी दास रखते थे।^४ भरतसिंह उपाध्याय और राहुल सांकृत्यायन का मत है कि बुद्ध-युग में दासों की संख्या बहुत कम नहीं थी।^५ उदाहरणस्वरूप, वे विशाखा और वत्स-राज उदयन के ५००-५०० दास-दासियों की चर्चा करते हैं। पिप्पलिमाणवक के पास तो दासों के चौदह गाँव ही थे। अपने दासों की बहुत अधिक संख्या का निर्देश करते हुए स्वयं माणवक कहता है कि “यदि तुममें से एक-एक को पृथक्-पृथक् दासता से मुक्त करूँ तो सौ वर्षों में भी वह न हो सकेगा।”^६

१. चुल्लवग्ग ४/४/७; ७/४/१; मदन मोहन सिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७; जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ४४५।

२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ४६३-५०३; कुलावक जातक और जूह जातक (सं० ४५६) से ज्ञात होता है कि एक राजा से एक ब्राह्मण को अन्य बहुत सों सामग्रियों के साथ १०० दासियों का भी दान प्राप्त हुआ था।— ददामि ते गामवरानि पञ्च दासीसतंगवं सतानि।

जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ९९।

३. विनयपिटक, सारनाथ अनुवाद, पृ० २६२।

४. जातक, हिन्दी अनुवाद जिल्द ५, पृ० १९१-९२; सं० ५४१, पृ० १३२।

५. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १; बुद्धचर्या, पृ० ३०८।

६. उद्धृत, बुद्धचर्या, पृ० ४१।

दासों पर होने वाले अत्याचारों को देखकर बुद्ध भगवान् बहुत द्रवित हुए थे । एक अवसर पर कोसलराज प्रसेनजित ने एक महायज्ञ के लिए पाँच-पाँच सौ बैलों, बछड़ों, बछड़ियों, बकरियों और भेड़ों को बलि देने के लिए खम्भों में बंधवा रखा था तथा जो दास नौकर और मजदूर थे वे भी लाठी और भय से धमकाये जाकर याँसू गिराते-रोते तैयारियाँ कर रहे थे ।^१ स्पष्ट है कि दासों के प्रति व्यवहार अच्छा नहीं होता था ।

बुद्ध ने दास-शोष पर जोर दिया और दास-दासी प्रतिग्रहण को अनुचित बतलाया । बौद्ध संघ में सम्मिलित हो जाने पर दास-दासी मुक्त हो जाते थे । दास-दासियों को अपने घरों में नौकरों और सेवकों की तरह रखने वाले धनी लोगों के मन पर बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा । अंगुत्तरनिकाय^२ से ज्ञात होता है कि उन्होंने बौद्ध उपासकों के लिए मनुष्यों का व्यापार अथवा दास-दासियों का व्यापार निषिद्ध कर दिया । बुद्ध ने गृहस्थों के लिए यह नियम बना दिया कि यदि वे दास और कम्मकरों को नियुक्त करते हों तो काम लेते समय उनके सामर्थ्य पर ध्यान देना, उन्हें उचित भोजन और मजदूरी देना, बीमारी के समय उनका उपचार कराना-करना, यदि घर में खाने-पीने की अच्छी वस्तुएँ बनी हों तो उन्हें भी खिलाना और उन्हें समय-समय पर छुट्टी देना उन मालिकों के लिए उचित है ।^३ संघ में किसी भी ऐसे व्यक्ति का प्रवेश उन्होंने वर्जित कर दिया जो किसी का दास हो अथवा किसी का कर्ज खाये हुए हो ।^४ किन्तु इसे दासों के प्रति उनकी हीनता के भाव का द्योतक नहीं मानना चाहिए । वास्तव में वे दास्य को, ऋणत्व को, रोग को, और जंगली मार्गों से गुजरने को घोर कष्टकारक स्थिति मानते थे । संघ को दासों के जीवन के हीनभाव और बुरी स्थिति से बचाने के लिए ही उन्होंने पुरुष और स्त्री दासों का उसमें सम्मिलित किया जाना निषिद्ध किया था ।^५

१. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ७२ ।

२. इमाखो भिक्खवे पञ्च वणिज्जा उवासकेन अकरणीयानि सत्तवणिज्जा, दास-वणिज्जा । अंगुत्तरनिकाय०, पाटोसो०, जिल्द ३, पृ० २०८ ।

३. दीघनिकाय, सिगालोवादसुत्त, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९०; और देखिए, अंगुत्तरनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन; ३/१८७ और ३/३६१ ।

४. न भिक्खवे इणीइको पब्बाजेतब्बो.....न भिक्खवे दासो पब्बाजेतब्बो ।

विनयपिटक, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ७६ ।

५. दासीदास परिगाहव पटिविरती । दीघनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ५ ।

अनेक दास-दासी बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओं की सेवा करके दास भाव से मुक्त हो जाने का प्रयत्न करते थे और कभी-कभी बुद्ध के उपदेशों को सुनकर अपने दुर्गुणों से मुक्त हो जाते थे। वत्सराज उदयन की रानी सामावती की खज्जुवरा नामक दासी रानी के लिए फूल खरीदते समय उसके कुछ सिक्के चुरा लिया करती थी। किन्तु बुद्ध का उपदेश सुनकर उसने चोरी छोड़ दी और अपनी स्वामिनी को भी बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए उत्साहित किया। रानी उससे प्रसन्न होकर उसे अपनी शिक्षिका और माता के समान मानने लगी।^१ विरणी नामक एक दूसरी दासी अपनी स्वामिनी की आज्ञा से भिक्षु-संघ को रोज भोजन देने के कारण स्वर्ग में उत्पन्न हुई।^२

दास-मुक्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। अनाथपिण्डिक की दासी पुणिका अपनी दासता से मुक्त होकर उसकी पुत्री के रूप में हो गयी। सोणनन्द-जातक (सं० ५३२) से ज्ञात होता है कि जब एक ब्राह्मण गृहपति ने स्वयं बौद्ध संघ में प्रवेश किया तो उसके पूर्व उसने अपने सभी दास-दासियों को मुक्त कर दिया। वसन्तर जातक (सं० ५४७) से ज्ञात होता है कि सोने के सिक्के अथवा धन देकर दास और दासी मुक्त हो सकते थे।^३ मज्झिमनिकाय^४ के रट्ठपालसुत्त^५ से ज्ञात होता है कि अपने स्वामी-स्वामिनियों को कोई सुखद समाचार देने पर पुरस्कारस्वरूप भी दास-दासी मुक्त कर दिये जाते थे। नारदस्मृति जैसे हिन्दू धर्मग्रन्थों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार दासता की जो भी मूल शर्तें होती थीं, उनके पूरी हो जाने पर दासता से मुक्ति मिल जाती थी। उदाहरण के लिए ऋण के बदले दासता स्वीकार कर लेनेवाला ऋण चुका देने पर और युद्ध में विजित होकर दासता में बँध जाने वाला पुनः अपने पक्ष की विजय हो जाने पर दासता से मुक्त हो सकता था।^६ इसी प्रकार दण्डस्वरूप भी दास बनने वाला पूरा दण्ड भोग लेने पर दासता से मुक्त हो जाता था।

गणिकाएँ

विश्व के इतिहास में प्रायः प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में गणिका जीवन समाज में स्वीकृत रहा है। इसका सम्बन्ध नगर जीवन से अनेक कारणों से अपरिहार्य रूप में दिखायी देता है। बुद्ध-युग इसका अपवाद

१. धम्मपद अट्ठकथा, पाट्टेसो०, जिल्द १, पृ० २०२ और आगे।

२. महावंश, पृ० २१४।

३. देखिए, राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० ४१।

४. सचे, जे सच्चं भणसि, अदासि तं करोमि। नालंदा, पालि प्रकाशन, २।२८।

५. अर्थशास्त्र, ३.१३; नारद स्मृति, ५।२९।३४।

नहीं था। पीछे सुत्तपिटक से ज्ञात भौगोलिक स्थिति की चर्चा करते समय हम यह देख चुके हैं कि बुद्ध के जीवन काल में बड़े-बड़े नगरों और नगर-सभ्यताओं का विकास हो चुका था। महापरिनिब्बानसुत्त में चम्पा, राजगृह, साकेत, श्रावस्ती, कोशाम्बी और वाराणसी नामक छह महानगरों के उल्लेख हैं। किन्तु उनके अतिरिक्त भी अनेक नगर थे, जिनके नगर-जीवन का समुचित विकास हो चुका था। वैशाली, पावा, कपिलवस्तु, कुसिनगर, मिथिला, पाटलिपुत्र और गया ऐसे अन्यान्य नगरों में गिने जा सकते हैं। इन नगरों की प्रतिष्ठा, समृद्धि और ऐश्वर्य के साथ गणिकावृत्ति जुड़ी हुई थी। समृद्ध वर्ग अथवा स्वभाव से सनत्तल-वर्ग इन गणिकाओं का ग्राहक, पोषक और संवर्द्धक था। समाज में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न लोगों के द्वारा संरक्षित होने के कारण गणिकाओं का जीवन अपेक्षाकृत बहुत हेय नहीं माना जाता था।

गणिकाओं के लिए सुत्तपिटक में 'जनपदकल्याणी' शब्द का प्रयोग हुआ है।^१ महापण्डित राहुलसांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश कश्यप ने 'जनपदकल्याणी' का अर्थ सबसे सुन्दर स्त्री बतलाया है।^२ वास्तव में जनपदकल्याणी का शाब्दिक अर्थ सम्पूर्ण जनपद का कल्याण करने वाली अथवा प्रत्येक व्यक्ति के सुख के लिए उपलब्ध होने वाली महिला से प्रतीत होता है। जो भी हो, गणिका के लिए इस शब्द का प्रयोग कुछ मनोहर ही लगता है। वास्तव में बुद्ध के समय के सम्भवतः सभी नगर जनपदकल्याणियों से युक्त प्रतीत होते हैं। वैशाली की अम्बपाली, पाटलिपुत्र की सालवती और वाराणसी की सीमा (श्यामा), मुलसा और काली नामक गणिकाएँ बुद्ध के समय के कुछ प्रमुख व्यक्तियों में थीं। इन्हें नगरशोभनीवर्णवासी^३ भी कहा गया है और इनके जीवन से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। विनयपिटक के महावग्ग^४ में अम्बपाली नामक गणिका अभिरूप, प्रासादिक अर्थात् अत्यन्त दर्शनीय और चित्त को प्रसन्न रखने वाली परम रूपवती तथा नृत्य, गायन और वादन में चतुर कही गयी है। वहाँ इसके एक रात का मूल्य पचास कार्षापण बताया गया है और कहा गया है कि वैशाली नगर उसके कारण अत्यन्त प्रसन्न और शोभित था। वहाँ यह भी उल्लेख है कि एक बार राजगृह का एक नेगम किसी काम से वैशाली जाने पर अम्बपाली के बारे में

१. देखिए, पीछे, तृतीय अध्याय।

२. देखिए, दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८८; मज्झिम निकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३२२।

३. देखिए, रतिलाल मेहता, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९४-९५।

४. देखिए, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६६।

जानकर अपने नगर राजगृह के लिए भी वैसी ही गणिका की कामना करने लगा। लौटकर राजा बिम्बिसार से उसने अपनी इच्छा प्रकट की। राजा ने उससे वैसी ही सुन्दर, नयनाभिराम, सर्वग्राही और दर्शनीय कुमारी ढूँढ़ने को कहा। परिणाम-स्वरूप सालवती नामक कुमारी चुनी गयी, जो थोड़े ही समय में नृत्य, वादन और गायन में इतनी निपुण हो गयी कि उसके एक रात का मूल्य सौ कार्षापण तक पहुँच गया। यही सालवती आगे चलकर प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक की माता बनी।

उपर्युक्त विवरण से कुछ बातें बड़ी स्पष्ट हैं। अम्बपाली अथवा सालवती जैसी जनपदकल्याणी गणिकाएँ राजाओं, नेगमों, श्रेष्ठियों, राजकुमारों और धन-सम्पत्ति वाले व्यक्तियों के द्वारा ग्राह्य और आदर पाने वाली होती थीं। उनकी सफलता का सबसे मुख्य कारण उनका रूप होता था, जिसे नगर के लोग नगर की शोभा (नगरशोभनी) के रूप में देखते थे। उनके शरीर का मूल्य भी सम्भवतः उनके रूप के कारण ही निश्चित किया जाता था। जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं, पचास अथवा सौ कार्षापण वैशाली और राजगृह की गणिकाओं का प्रति रात्रि का मूल्य हुआ करता था। एक गणिका को एक श्रेष्ठि-कुमार द्वारा प्रति रात्रि एक हजार कार्षापण दिये जाने की बात भी ज्ञात होती है^१, जो सम्भवतः अतिरंजित प्रतीत होती है। तथापि भिन्न-भिन्न नगरों की सम्पत्ति की विशालता अथवा न्यूनता, गणिका के सौन्दर्य और नृत्य, वाद्य अथवा अपने गायन से अपने ग्राहकों को प्रसन्न करने की गुणवत्ता की कमी अथवा अधिकता उसके शुल्क में कमी अथवा आधिक्य की स्थिति का कारण मानी जा सकती है। किन्तु यह निश्चित प्रतीत होता है कि उस समय की सभी गणिकाओं का न तो समाज में एक समान आदर और आकर्षण रहा होगा और न उनकी एक समान पूछ ही रही होगी। “नगरशोभनी” और “जनपदकल्याणी”, परमसुन्दरी अथवा अपूर्व दर्शनीया गणिकाएँ कम ही रही होंगी। उनकी विशेष पूछ का कारण केवल उनका रूप ही नहीं, अपितु नृत्य, वाद्य और संगीत में उनका पारंगत होना भी रहा होगा।

बुद्धकालीन गणिकाओं में वैशाली की अम्बपाली का एक विशेष उल्लेख दीर्घनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्तन्त^२ में उस अवसर पर आता है, जब भगवान् बुद्ध ने उसका एक दिन का भोजन भिक्षुसंघ के साथ स्वीकार किया था। अम्बपाली ने अपने आराम (वगीचे) में उत्तम खाद्य और भोज्य तैयार कराकर

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ४७५-७६।

२. देखिए, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १२८-२९।

भगवान् को आमन्त्रित किया और भगवान् ने स्वयं भिक्षुसंघ के साथ वहाँ पहुँचकर वहाँ बिछे आसन पर बैठकर उसका भोजन ग्रहण किया। बुद्ध और उनके संघ को भोजन करा लेने के बाद अम्बपाली ने उस प्रसिद्ध उद्यान को भी बौद्ध-संघ को दान कर दिया। इसी प्रकार सालवती के पुत्र जीवक ने तक्षशिला विश्व-विद्यालय में अध्ययन करके अपने समय के सबसे बड़े वैद्य बन जाने की प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। उसे एक वैश्य गणिका का पुत्र होते हुए भी बिम्बिसार जैसे प्रसिद्ध सम्राट् अथवा गौतम बुद्ध जैसे सर्वप्रमुख धर्मोपदेशक का वैद्य बनने का गौरव प्राप्त हुआ और सारे समाज से उसको आदर-सत्कार, यश और धन मिला।

किन्तु उपर्युक्त दोनों उदाहरण अपवादस्वरूप ही स्वीकार किए जा सकते हैं। गणिकावृत्ति समाज में हमेशा से प्रचलित रहने वाली एक संस्था होते हुए भी साधारण समाज द्वारा न तो कभी आदर्श रूप में स्वीकार की गयी और न तो इसे कभी विशेष आदर ही मिला। जातकों में कुछ स्थानों पर गणिकावृत्ति को **नीचकम्म**,^१ उनके निवास स्थान को गणिकाघर^२ अथवा नीचस्थान और उन्हें बुरी स्थिति में पड़ी हुई स्त्रियाँ (दुरित्थीकुम्भदासी^३) कहा गया है। रतिलाल मेहता^४ और मदन मोहन^५ सिंह ने जातकों से गणिकाओं के आचरण, उनके आहार-विहार और उनके शूलक तथा उनमें स्त्रियोचित गुणों अथवा अवगुणों से सम्बन्धित अनेक उदाहरणों का संकलन किया है। उन्हें दुहराने से यहाँ कोई लाभ नहीं होगा। संक्षेप में केवल इतना मात्र कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत अधिक रूपवती गणिकाएँ अपने विलासमय जीवन के लिए प्रचुर आय प्राप्त कर लेती थीं। सामा, सुलसा और काली की प्रति रात्रि की अलग-अलग आय एक हजार कार्षापण बतायी गयी है, जो अत्यन्त अतिरंजित प्रतीत होती है। ये तीनों गणिकाएँ वाराणसी की थीं और सम्भवतः वाराणसी नगर की तत्कालीन भौतिक सुख-सम्पत्ति का एक प्रमुख हिस्सा वहाँ के धनिक वर्ग के माध्यम से इनके हाथों में जाता रहा होगा। इसकी तुलना में राजगृह की सालवती को प्राप्त होने वाले केवल सौ कार्षापण और वैशाली की अम्बपाली को प्राप्त होने वाले केवल पचास कार्षापण, काशी की अपेक्षा इन दोनों नगरों की आर्थिक हीनता के परिचायक

१. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ६०।

२. वही, जिल्द ४, पृ० २४९।

३. वही, जिल्द ६, पृ० २२८, गाथा १००१।

४. देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९४-२९६।

५. देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६१-६४।

प्रतीत होते हैं।^१ गणिकाओं का वर्णदासी कहा जाना इस बात का परिचायक है कि वे अपने-अपने वर्ण अर्थात् रूपरंग के मूल्य से अपना जीवन निर्वाह करती थीं। धनी-मानी पुरुष, राजा और राजकुमार, श्रेष्ठ और श्रेष्ठपुत्र उनके ग्राहक हुआ करते थे। उनसे प्राप्त होने वाली आय से वे अत्यन्त सम्पन्न जीवन व्यतीत करती थीं, जिनमें नौकर-चाकर, अच्छे भवन और अच्छे वाहन सम्मिलित थे। काशी की काली नामक गणिका का केवल अंगराग और माला में खर्च किया जाने वाला दैनिक व्यय पाँच सौ कार्षापण बताया गया है।^२ यह अतिरंजन और अपवाद ही प्रतीत होता है। तथापि इस कथन से उसके पास भोगविलास की प्रचुर सम्पत्ति होने का परिचय तो प्राप्त होता ही है।

शव विसर्जन

एक निवृत्तिपरक धर्म होने के कारण तथा ज्ञान-साधना और निर्वाण के मूल प्रश्नों तक ही प्रायः सीमित होने के कारण बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में तत्कालीन समाज में प्रचलित संस्कारों अथवा वैसी अनेक संस्थाओं के कहीं भी विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होते हैं, यद्यपि बुद्ध जन्म, मरण अथवा विवाह से सम्बन्धित अनेक संस्कारों अथवा प्रथाओं की व्यर्थता की ओर कुछ अस्पष्ट निर्देश अवश्य करते हैं। ऐसी स्थिति में सुत्तपिटक के आधार पर, समाज में प्रचलित, जीवित व्यक्ति के संस्कारों आदि का कोई व्योरेवार विवरण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। किन्तु कुछ स्थल ऐसे अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनसे मृत्यु के उपरान्त शवक्रिया किस प्रकार की जाती थी, इसकी थोड़ी बहुत जानकारी सुत्तपिटक से हमें उपलब्ध होती है।

प्राचीन भारत में मृत शरीर का विभिन्न प्रकारों से संस्कार किया जाता था, जैसे उसे या तो जला दिया जाता था, अथवा जमीन के भीतर गाड़ दिया जाता था, या नदी-नालों में बहा दिया जाता था, या बगीचों और मैदानों में खुले ही फेंक दिया जाता था, अथवा उसे जला दिये जाने के बाद उसके अवशेषों को चुनकर या तो नदी आदि में प्रवाहित कर दिया जाता था या गाड़ दिया जाता था और उनपर स्तूप जैसे स्मृति भवनों का निर्माण किया जाता था।^३ सुत्तपिटक से इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।

१. विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६६।

२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० २४९।

३. इन विभिन्न प्रकार के उदाहरणों के लिए देखिए, पिगॉट, प्री हिस्टॉरिक इण्डिया, पृ० ६५; हिन्दू सभ्यता, पृ० १९; ज० ना० तिवारी, डिसपोजल् ऑफ़ दि डेड इन् दि महाभारत, पृ० १२, १३ और उनके पदसंकेत।

दीधनिकाय^१ के महासतिपट्ठानसुत्त में कायानुपश्यना (स्वयं अपने शरीर की वास्तविक स्थिति क्या है इसे ध्यानपूर्वक समझने का प्रयत्न) का उल्लेख करते हुए बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को श्मशान में मरे हुए शरीरों को देखकर अपने शरीर की वास्तविक व्यथता का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय बतलाया है। भिक्षुओं को वे उपदेश देते हुए कहते हैं कि वे, अर्थात् भिक्षु, श्मशान योग को अर्थात् श्मशान में जाकर वहाँ फेंके हुए मृतकों को देखें, ऐसे मृत शरीर एक दिन के, अथवा तीन दिन के हो सकते हैं, जो फूले हुए, नीले पड़े हुए, पीव भरे हुए, कौओं, गिद्धों, चीलों, कुत्तों और अनेक प्रकार के जीवों द्वारा खाये जाते हुए, मांस सहित और कुछ मांसरहित हड्डी कंकाल वाले हो सकते हैं। सुत्तनिपात^२ का विजयसुत्त भी मरे हुए शरीर की श्मशान में पेंकी हुई इस स्थिति को देखकर भिक्षु को अपने शरीर की नश्वरता के सम्बन्ध में विचार करने की ओर संकेत करता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से रीज़डेविड्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धन, उत्पत्ति अथवा अपने विशेष आधिकारिक पद के कारण शास्ता और उपदेशक लोग अपनी मृत्यु के बाद या तो जलाये जाते थे और उनके अस्थि-अवशेषों पर स्तूप (थूप) जैसे कोई स्मारक चिन्ह बना दिये जाने थे^३। किन्तु साधारण लोगों के मृत शरीर कुछ विशेष प्रकार से समाप्त किये जाते थे—वे या तो ऐसे ही फेंक दिये जाते थे, सम्भवतः मृत शरीरों को जलाया नहीं जाता था, क्योंकि बचे खुचे शरीर या तो पशु-पक्षियों द्वारा खाकर समाप्त कर दिये जाते थे या तो ऋतु के प्रभाव से

१. पाटोसो, जिल्द २, पृ० २९५-७; और देखिए, डाइलॉग्स ऑफ दि बुद्ध, जिल्द २, पृष्ठ ३३१-३।
२. यदा चलो मतो सेति, उद्धुमातो किवनीलको ।
अपविद्धो सुसानस्मि, अनपेक्खाहोन्ति आतयो ॥८
खादन्ति नं सुवानां च सिगाला च बकाकिमि ।
काका गिज्झा च खादन्ति, ये यज्जे सत्ति पाणिनां ॥९
सुत्वान बुद्धवचनं भिक्खु पञ्जाणवा इध ।
सोखोनं परिजाना तथार्हं हि पस्सति ॥१०
यदा इदं तथा एतं यथा एतं तथा इदं ।
अज्झतं च बहिद्धं च, काये छन्द विराजये ॥११
सुत्तनिपात, ११.८.११; और आगे देखिए, अंगुत्तर निकाय, महाबोधि प्रकाशन; हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १४३।
३. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ ७८-८०।

नष्ट हो जाते थे। अतः हम यह कह सकते हैं कि शायद ऐसे ही स्थान का प्रयोग अभियुक्तों को बधदण्ड, विशेषतः सूली पर भी चढ़ा देने, के कार्य में भी होता था।^१ जिन स्थानों पर इस प्रकार शव विसर्जित किए जाते थे, उनके लिए आमक सुसान^२ और सीवत्थिका^३ जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि सीवत्थिका की व्युत्पत्ति अनिश्चित है, आमक सुसान से तो स्पष्टतः ही उपयुक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है, क्योंकि आमक (विशेषण) का शाब्दिक अर्थ होता है बिना पका अर्थात् कच्चा, और इस प्रकार भावार्थ होता है बिना जलाये हुए शवों को फेंकने का स्थान। हम यह बात अच्छी तरह समझ सकते हैं कि ऐसे स्थानों पर भूतप्रेतों के रहने का विश्वास था और केवल घोर तपस्यावृत्ति वाले भिक्षु ही वहाँ जाते थे।

रीङ्गेविड्स^४ के शवों को फेंक दिये जाने अथवा जला दिये जाने संबंधी निष्कर्षों का प्रबल समर्थन हमें दीघनिकाय के महापरिनिब्बानमुत्त से प्राप्त होता है। उस मुत्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद कुसिनारा में उनके शरीर का अत्येष्टि संस्कार किया गया। तदनुसार, सर्वप्रथम कुसिनारा के मल्लों ने गन्धमाला, सभी वाद्यों और पाँच हजार थान = दुस्स जोड़ों (थान) को लेकर जहाँ उपवर्तन = उपवत्तन में भगवान् का शरीर था, वहाँ प्रस्थान किया। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् के शरीर को नृत्य, गीत, माला, वाद्य, गन्ध से सत्कार करते = गुरुकार करते = मानते = पूजते कपड़े का वितान = चँहवा करते, मंडप बनाते उस दिन को बिता दिया। इस तरह करते-करते सात दिन व्यतीत कर दिया। फिर कुसिनारा के मल्लों ने भगवान् के शरीर को देवताओं के सहयोग से उठाकर नृत्यगीत से सत्कार करते नगर के दक्षिण से ले जाकर बाहर से बाहर नगर के दक्षिण में भगवान् का दाह संस्कार करने का निश्चय किया। तत्र देवताओं और कुसिनारा के मल्लों ने भगवान् के शरीर को दिव्य और मानुष नृत्य के साथ सत्कार करते, नगर के उत्तर से ले जाकर (जहाँ) मुकुटबन्धन नामक मल्लों का चैत्य था, वहाँ भगवान् का शरीर

२. दीघनिकाय, पाटोसो, जिल्द २, पृ० २९५-९७; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द १, पृ० २६४; जिल्द ३, पृ० ३२३; जिल्द ५, पृ० ४५८।

३. देखिए, पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पाटोसो, सन्दर्भ, सुसान और आमक-सुसान; ज० ना० तिवारी, डिस्पोजल ऑफ़ दि डेड इन दि महाभारत, पृ० ३९।

४. सारत्थप्पकासिनी, ३/१७।

५. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ७८-८०।

रखा और एक चक्रवर्ती राजा के शरीर के समान भगवान् के शरीर का दाह संस्कार किया। तब प्रथमतः कुसिनारा के मल्लों ने “भगवान् के शरीर को कोरे वस्त्र में लपेटा। कोरे वस्त्र में लपेटकर धुने कपास से लपेटा। धुने कपास से लपेट कर, कोरे वस्त्र में लपेटा। इस प्रकार पाँच सौ जोड़े से लपेटकर तबि = लोहे की तेल वाली कड़ाही = द्रोणी में रखकर सारे गन्ध (काण्ठों) की चिता बनाकर भगवान् के शरीर को चिता पर रखा।” जब भगवान् का शरीर जल गया तो मल्लों ने उनकी अस्थियों = सरीरानि, को सप्ताह भर संस्थागार में शक्ति (हस्त पुरुषों के घेरे का) पञ्जर बनवा, धनुष (हस्त पुरुषों के घेरे का) प्राकार बनवा, नृत्य, गीत, वाद्य, माला, गन्ध से सत्कार किया = गुरुकार किया, माना = पूजा और भगवान् के शरीर = अस्थियों पर स्तूप निर्मित किया। मल्लों की ही तरह भगवान् के अस्थि अवशेषों पर मगधराज अजातशत्रु और अन्य तत्कालीन गणों-सधों ने भी बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को बाँटकर उनपर स्तूप निर्मित किया।”^१

बुद्ध ने सम्यक् सम्बुद्ध, अर्हत्, तथागत और चक्रवर्ती राजा के स्तूप (थूप) को पूज्य बताया है।^२ विशिष्ट जनों की मृत्यु होने पर स्मृति स्वरूप इमशानों में गोल रूप के स्तूप कभी कभी निर्मित किये जाते थे। किन्तु मुख्य रूप से ये स्तूप या तो नगरों के बाहरी भागों में अथवा व्यक्तिगत खेतों में अथवा सड़कों के चौराहों पर निर्मित किये जाते थे।^३ दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त^४ से यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के जीवन के पूर्व भी स्तूपों का निर्माण होता था और उनकी पूजा की जाती थी। बौद्ध धर्म से उनको विशेषरूप से सम्बद्ध किये जाने का कारण मात्र इतना प्रतीत होता है कि बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर स्तूप निर्माण के साथ ही स्तूपों का निर्माण बौद्ध संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग बन गया। स्तूप-निर्माण में बौद्धों ने केवल इतनी विशेषता लायी कि वैदिक युग में जहाँ स्तूप मिट्टी के ढेरों और पत्थरों को मिट्टी से ढँककर एक टीले के रूप में निर्मित किये जाते थे,^५ वहाँ बौद्धों ने उन्हें इंटों से निर्मित करना प्रारम्भ किया।

१. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४९-१५०।
२. अंगुत्तर निकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, जिल्द १, दूसरा निपात, पृ० ७९।
३. विनयपिटक, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० ३०८; और देखिए, सुजात जातक, सं० ३५२।
४. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, पृ० ११०; तित्तिर जातक, सं० ४३८, में बालू से बने स्तूप का उल्लेख मिलता है।
५. देखिए शुक्लयजुर्वेद का अध्याय ३५।

गांधार कला में न केवल बुद्ध के शरीर को जलाये जाने का उदाहरण है, बरन् उस पेटिका का भी चित्रण मिलता है, जिसमें दाह से पूर्व, परिनिर्वाण के बाद, भगवान् का शरीर सुरक्षित रखा गया था।^१

शिक्षा व्यवस्था

सुत्तपिटक से बुद्धकालीन शिक्षा व्यवस्था का एक अत्यन्त साधारण रेखाचित्र मात्र उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु सुत्तपिटक के साक्ष्यों से यदि विनय-पिटक के साक्ष्य जोड़ दिये जाँय तो शिक्षा के एक द्वैध स्वरूप का चित्र प्रस्तुत होता है, जो क्रमशः ब्राह्मण शिक्षा पद्धति और बौद्ध संघ की शिक्षा पद्धति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति का स्वरूप भौतिक और गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध था। किन्तु बौद्ध शिक्षा पद्धति संघ और भिक्षु जीवन से सम्बद्ध थी, और साक्ष्यों को देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि गृहस्थों से उसका कोई सम्बन्ध था। किन्तु दोनों पद्धतियों में एक बात समान रूप से दिखायी देती है। यद्यपि प्रस्तुत शोध विषय के काल (छठवीं-पाँचवीं ईसवी शती पूर्व से तीसरी-दूसरी ईसवी शती पूर्व तक) के पहले ही भारतीयों को लिपिज्ञान हो चुका था, तथापि ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उस समय साहित्य को लिखकर सँजोने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी। अशोक के अभिलेखों अथवा उसके थोड़े दिनों बाद ताम्रपत्रों पर लिखे जाने वाले छोटे-छोटे दानपत्रों की बात यदि छोड़ दी जाय तो लिखित साहित्य का कोई निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त होता। चाहे ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था हो अथवा बौद्ध, दोनों ही जगह विद्या और शिक्षा का परम्परागत अग्रसारण स्मृति के माध्यम से शास्त्रों को निर्दोष रखने के लिए एक दूसरे के साथ बैठकर सुनने और सुनाने से, और शास्त्रार्थ की पद्धति से किया जाता था।

ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में सबसे विशेष बात यह ज्ञात होती है कि वैदिक साहित्य में निष्णात, वैदिक अग्नि जलाने वाले, यज्ञ और बलि की प्रथा में लगे हुए अनेक विद्वान् ब्राह्मण अपने घरों में बैठकर अपने यहाँ जिज्ञासु विद्यार्थियों को एकत्र कर लिया करते थे। इन विद्यार्थियों की संख्या निश्चित नहीं होती थी। किन्तु महागोविन्द जैसे बड़े-बड़े विद्वानों के यहाँ यह संख्या सात सौ ब्राह्मणों तक पहुँच जाती थी।^२ कुछ जातक^३ कथाओं से भी ब्राह्मण आचार्यों के गुरुकुलों के

१. देखिए, अलबर्ट गुण्डवेल की कृति, बुद्धिष्ट आर्ट इन् इण्डिया, पृ० ११८-१२४, प्लेट सं० ७०-७६।

२. महागोविन्दसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १७१।

३. देखिए, जातक कथाएँ, क्रमशः दुराजान जातक सं० ६४ और संजीव जातक, सं० १५०।

बारे में सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनके यहाँ के शिष्यों की संख्या सैकड़ों में बतायी गयी है। ऐसे प्रकाण्ड ब्राह्मणों में मज्झिमनिकाय^१ सुनेत्र और सेल का उल्लेख करता है और वहाँ के ब्रह्मायुसुत्त^२ में ब्रह्मायु नामक विद्वान् ब्राह्मण और उसके उत्तर नामक माणवक (शिष्य) का उल्लेख आता है, जो पाँचवें इतिहास, निघण्टुकुतुभ (कल्प) और अक्षरप्रभेद (शिक्षा, निरुक्त) सहित तीनों वेदों का पारंगत था। वे पदज्ञ वैयाकरण लोकायत (शास्त्र) तथा महापुरुषलक्षण (सामुद्रिक शास्त्र) के ज्ञान में परिपूर्ण थे। दीघनिकाय^३ में ऐसे विद्वान् ब्राह्मणों की चर्चाएँ अनेक स्थानों पर आयी हैं, जहाँ कहा गया है कि ये प्रसेनजित और बिम्बिसार जैसे महाराजाओं से दान में प्राप्त ब्रह्मदेय गाँवों का भोग करते हुए, अपने उत्तम चरित्र और प्रभूत विद्या के द्वारा विद्या दान करते हुए, समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित और सम्पन्न स्वीकार किये जाते थे। इन्हें अभिज्ञात, महाघनिक और महाशाल के विशेषण प्राप्त थे, जो इनकी भौतिक धनसम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के द्योतक हैं। ऐसे ब्राह्मणों में प्रमुख थे चम्पाग्राम को प्राप्त करने वाला सोणदण्ड और खानुमत ग्राम प्राप्त करने वाला कूटदन्त। प्रसेनजित से ऐसे ही ग्राम प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों में कसिभारद्वाज, लोहिच्च, पोक्खरसाति, तोदेय्य और तारुक्ख के नामों पर दीघनिकाय^४ में अनेक सुत्त प्राप्त होते हैं। मज्झिमनिकाय^५ में प्रसेनजित से ओपसाद नामक ग्राम ब्रह्मदेय में प्राप्त करने वाला ब्राह्मण चंकि उल्लिखित है, जो अपने माणवकों अर्थात् विद्यार्थियों के साथ बुद्ध के दर्शन को गया था।

इन प्रसिद्ध ब्राह्मणों से सम्बद्ध संदर्भों से कुछ बातें बड़ी स्पष्ट होती हैं, जैसे उनके घर अथवा निवास स्थान ही उनके गुरुकुल या पाठशालाएँ हुआ करती थीं, जहाँ उनसे विद्याग्रहण करने के लिए विद्यार्थी स्वयं आते थे। दीघनिकाय^६ के तेविज्जसुत्त से ज्ञात होता है कि पठनपाठन के विषयों पर एक दूसरे से वार्तालाप, एक दूसरे से विचार-विमर्श करने के लिए ये बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण कभी-कभी एक स्थान पर इकट्ठे भी हुआ करते थे। इस सुत्त में चंकि ब्राह्मण, पोक्खरसाति, जानुसोणी और तोदेय्य जैसे अभिज्ञात और महाशाल ब्राह्मणों के मनसाकट गाँव

१. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३८३-३८६।

२. वहीँ, पृ० २७६।

३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ४४-४८।

४. देखिए, क्रमशः सुत्त संख्यायें—१/३; १/४; १/५; १/१०; १/१३; पृ० ३४, ४४, ४८, ८२, ८५।

५. सारनाथ (हिन्दी अनुवाद) सुत्त सं० : ५/५, पृ० ३९७।

६. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ८६।

में एकत्रित होने का उल्लेख है। इन्हें त्रैविद्य ब्राह्मण = तीनों वेदों का ज्ञाता कहा गया है। तथ्य निरूपण के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छान्दोग्य ब्राह्मण, छन्दोवा ब्राह्मण और ब्रह्मवृच ब्राह्मण के वहाँ हवाले दिये गये हैं, जिन्हें हम तत्कालीन पाठ्यक्रम के विषयों में स्वीकार कर सकते हैं। सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त और दीघनिकाय के तेविज्जसुत्त से लगभग एक ही रूप में यह ज्ञात होता है कि इन विद्वानों के विद्यार्थी आपस में तर्क और शास्त्रार्थ की पद्धति से ज्ञान-निरूपण में लगे रहते थे।^१ वासेट्ठसुत्त^२ वशिष्ट और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण माणवकों को इस प्रश्न पर वाद-विवाद करते हुए दिखाता है कि वर्ण का निर्धारण जन्म से होना चाहिए अथवा कर्म से। अन्ततः अपना विवाद न त्यज कर पाने पर वे बुद्ध के पास निर्णय के लिए जाते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पठन-पाठन और विद्या के अग्रसारण में शास्त्रार्थ और प्राचीन साहित्य के ऊहापोह की यह विधि ब्राह्मण माणवकों अर्थात् विद्यार्थियों को अपने गुरुओं से ही प्राप्त हुई होगी।

कुछ इसी प्रकार की पद्धति बौद्ध संघों में भी रही प्रतीत होती है। प्रत्येक नवदीक्षित भिक्षु को कम से कम दस वर्षों तक भिक्षु रूप में प्रतिष्ठापित एक उपाध्याय के अधीन भिक्षु-नियमों (विनय और धम्म) की जानकारी के लिए रहना पड़ता था। प्रशिक्षण की इस अवधि को निस्सय कहा जाता था। वहाँ वह स्मृति और पाठ की पद्धति से अपने भिक्षु गुरु के उपदेशों को धारण करता था। विनय और धम्म के सूत्रों के सही-सही ज्ञान के लिए संगायन अर्थात् साथ-साथ गाने की प्रथा भी प्रचलित थी।^३ बुद्ध के उपदेशों की शुद्धता को बनाये रखने के लिए इस संगायन की पद्धति को अपनाते हुए अनेक संगीतियों का आयोजन हुआ, जिनमें प्रथम तो बुद्ध के निर्वाण के एक महीने बाद ही आयोजित हुई थी। महावग्ग धम्म के उच्चारण, सुत्तन्तिकों द्वारा सुत्तन्तों की व्याख्या, विनयधरों द्वारा विनय का विश्लेषण और धम्मकथिकों द्वारा धम्म सम्बन्धी वाद-विवाद का उल्लेख करता है, जो बौद्ध संघ की शिक्षा व्यवस्था की ओर निर्देश करता है। वहाँ स्वतंत्र चिन्तन को बढ़ावा दिया जाता था, यहाँ तक कि भिक्षु-शिष्यों को अपने उपाध्याय भिक्षुओं को भी टोकने का अधिकार था, यदि वे सिद्धान्तों की गलत

१. वासेट्ठसुत्त की विषयवस्तु प्रायः तेविज्जसुत्त की विषयवस्तु से मिलती-जुलती हैं। यह सुत्त मज्झिमनिकाय के २/५/८ में भी आया है।

२. सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद; पृ० १६९ और आगे।

३. सन्दर्भ के लिए देखिए महावग्ग, चतुर्थ १५/४।

व्याख्या कर रहे हों।^१

अध्ययन-अध्यापन से जीविका चलाने वालों के उल्लेख जातकों में प्राप्त होते हैं और आजीविका के अन्य साधनों की तुलना में इसे बड़ा प्रतिष्ठित माना गया है। आचार्यों और उनके अन्तेवासी (शिष्यों) के संबंध बहुत मधुर होते थे। इसका अनुमान आलार कालाम के उस समय के वचन से लगता है जब स्नातक बोधिसत्त्व से उन्होंने कहा था—“भंते। आप जैसे आदरणीय और मित्र यदि को पाकर हम कितने प्रसन्न हैं। जो मुझे प्राप्त है, वही आपको है, जो ज्ञान आपको प्राप्त है, वही मुझे, जैसा मैं हूँ, वैसे आप हैं। जैसे आप हैं वैसे मैं हूँ। भंते कृपया इस गुरुकुल के संचालन में आप मेरे सहायक हों”।^२ वाराणसी अध्ययन-अध्यापन करने वाले ब्राह्मण शिक्षकों के केन्द्र के रूप बड़ा प्रसिद्ध था। एक औदिच्य ब्राह्मण के सभी विद्याओं में निष्णात होकर तथा सारे देश में विद्वान् के रूप में प्रमुख होकर वाराणसी में रहते हुए पाँच सौ विद्यार्थियों को पढ़ाने का उल्लेख है।^३ गाँवों और नगरों के निकट जंगलों में भी ऐसे विद्वानों और उनके शिष्यों के रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आसपास के लोगों की निःशुल्क सहायता पर निर्भर रहते थे।^४ वाराणसी की ही तरह तक्षशिला भी शिक्षा का बड़ा भारी केन्द्र था। किन्तु इस कृति की भौगोलिक परिधि के बाहर होने के कारण उसकी विशेष चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते। तिलमुष्टि जातक^५ (सं० ५२) से यह ज्ञात होता है कि दुर्वृत्त, नटखट और शरास्ती विद्यार्थियों को गुरु शारीरिक दण्ड देते हुए कभी-कभी डंडे से पीटा भी था।

१. वहीं, प्रथम, २५/२०; इस सम्बन्ध में और देखिए, सुकुमार दत्त का लेख, उद्धृत, ट्रेन्टीफाइड्व हंड्रेड ईयर्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० १५९-६०, सं० बापट, १९४१।
२. देखिए, फर्दर डायलॉग्स ऑफ दि बुद्ध, अरियपरियेसणसुत्त, पृ० ११६, उद्धृत अ० सं० अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० ४२।
३. बोधिसत्तोउदिच्च ब्राह्मण कुलेनिब्बट्त्वा तयपत्तो सब्बसिधं पारंगत्वा वाराणसीयम् दिसापामोक्ख उनचारिया इत्वापयसतेमानसे सिप्पम् वासेसि। जातक, फॉसफॉल, जिल्द १, पृ० ४३६।
४. वहीं, जिल्द ३ पृ० ५३७; जातक सं० ४३८।
५. अरिया अनारियं कुब्बानं दण्डेन निसेधति। सासनत्थं न तं वरं इति न पण्डिता विदुः॥ तिलमुष्टि जातक (सं० ५२) तुलनीय, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १/२/८/३०; मनुस्मृति, २/१५९-१६१।

नारी शिक्षा और बुद्ध के विचार

बुद्ध ने अन्ततोगत्वा संघ में नारियों को प्रवेश करने की अनुमति दे दी थी, जिसके फलस्वरूप सामन्तों और श्रेष्ठ वर्ग की नारियों में शिक्षा और दर्शन के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। फिर भी प्रारम्भ में नारियों की शिक्षा के प्रति बुद्ध के विचार बहुत अच्छे नहीं थे। संयुत्तनिकाय के एक उल्लेख में स्त्रियों की बौद्धिक शक्ति के प्रति अवज्ञा का भाव दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रमुख कारण यह था कि शिल्पादि के शिक्षण का महत्त्व पुरुषों के लिए ही था, स्त्रियों के लिए नहीं, और उस समय स्त्रियों के भरण-पोषण को ही अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था तथा उन्हें कुशल गृहिणी मात्र बनने की शिक्षा दी जाती थी।^२ पालि निकायों में प्राप्त सन्दर्भों से यह पता चलता है कि बुद्धयुगीन समाज नारी शिक्षा के विरुद्ध था। फिर भी कुछ अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे अजातशत्रु की माता को वैदेही केवल इसलिए कहा जाता था कि वह विदुषी थी।^३ थेरीगाथा की प्रसिद्ध विदुषी कवियित्रियों में, शुभा, अनुपमा, सुमेधा आदि उच्च अभिजात कुलों की कन्यायें भी थीं, जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं।^४ इसी प्रकार संयुत्तनिकाय^५ में प्रसिद्ध भिक्षुणी खेमा थेरी का उल्लेख आता है, जो “पण्डित, मेधाविनी, विदुषी, बोलने में चतुर और अच्छी सूझवाली” कही गयी है।



-
१. यं तं इसीहि पत्तब्बं ठानं दुरभिसम्भवं ।
न तं द्वङ्गुलपन्नाय सक्का पप्पोतुमित्थिमा ॥ संयुत्तनिकाय, १/१२९ ।
 २. अत्थि च मे उत्तरि अवसिट्ठं दारभरणाया'ति । सो ततो निदानं कमेथ पामोज्जं.... दीघनिकाय, १/६३; मज्झिमनिकाय १/३३७; और देखिए एफ० ई० की, इण्डियन् एजुकेशन इन् ऐशियेण्ट एण्ड लेटर टाइम्स, पृ० ७५ ।
 ३. विन्ति एतेना ति वेदो ब्राणस्स एवं अधिवचनं । वेदेन इहति घटति वायमति इति वैदेहि । सुमंगलविलासिनी, १/१४७ ।
 ४. हानरं, आइ० बी०, वीमेन् इन् प्रीमिटिव्ह् बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय ।
 ५. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २. पृ० ६०६ ।

अष्टम अध्याय

खान-पान, वस्त्राभूषण और सामान्य प्रयोग की
अन्य वस्तुएँ

खान-पान

सुत्तपिटक से पूर्वोत्तर भारत के खान-पान का भी अच्छा परिचय मिलता है। बौद्ध भिक्षुओं के खान-पान, इनसे सम्बद्ध वस्तुओं, उसके समय अथवा ऐसे अन्य सम्बन्धित विषयों पर विनयपिटक से व्यापक और विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। सुत्तपिटक से इस सम्बन्ध में उतनी व्यापक जानकारी नहीं प्राप्त होती। तथापि सुत्तपिटक^१ के विभिन्न अंशों में तत्कालीन पूर्वोत्तर भारत में उपजने वाली अन्न की अनेक किस्मों, साधारण जनता की भोजन सम्बन्धी रुचियों और भोजन तथा पेय के विभिन्न प्रकारों की सूचनाएँ न्यूनाधिक मात्राओं में प्राप्त होती हैं। आगे हम मुख्यतः सुत्तपिटक की ही सूचनाएँ संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे और यदि कहीं विनयपिटक के साक्ष्यों का उल्लेख होगा तो वह केवल समर्थक प्रमाण के रूप में ही होगा।

बौद्ध साहित्य में खाद्य सामग्री या भोजन को खादनीय या भोजनीय कहा गया है।^२ भोजनीय पाँच प्रकार के होते थे। ये थे—ओदन, सत्तू, कम्पास = दाल, चावल से मिश्रित भोजन, मच्छ अर्थात् मछली और मंस अर्थात् मांस। इन्हें परम्परभोजन^३ अर्थात् पारम्परिक भोजन कहा जाता था।

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ३४८; दीघनिकाय, महासति-पट्टानसुत्त (सारनाथ हिन्दी अनुवाद), पृ० १९२ में विभिन्न प्रकार के अनाजों की चर्चा है। सुत्तनिपात (मूल पालि तथा हिन्दी अनुवाद) के आमगन्धसुत्त (९/१), पृ० ६१ में भी अनाज की कई किस्मों का उल्लेख आता है। अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ३०४, जिल्द ३, पृ० ३१०।
२. यं ते, चुन्द सूकरमद्वं, तेन मं परिविस; यं पनञ्जं खादनीयं भोजनीयं पटियत्तं तेन भिक्खूसंघं परिविसाति। दीघनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, जि० २, पृ० १८।
३. देखिए, उपासक, सी० एम्०, डिक्शनरी ऑफ् अर्ली बुद्धिष्टिक् मोनास्टिक् टर्म्स, पृ० १४०।

पूर्वोत्तर भारत में होने वाले अन्नों में धान सर्वमुख्य था, जिसकी विभिन्न किस्में उसके विभिन्न नामों से उल्लिखित हुई हैं। धान को शालि अथवा ब्रीहि कहते थे।^१ शालि सम्भवतः अच्छे धान की और ब्रीहि मोटे धान की संज्ञा थी। शालि की भी कई किस्में होती थीं, यथा रक्तशालि, कलमशालि और महाशालि। रक्तशालि सम्भवतः लाल भात वाला धान होना था। कलमशालि की उत्पत्ति मगध में ज्यादा होती थी। महाशालि सम्पन्न लोगों के खाने लायक बढ़िया चावल होता था। चावल को पकाकर भात के रूप में उसे नरम करके अनेक पदार्थों के साथ खाया जाता था। दीघनिकाय^२ में कंकड़ों से मुक्त, शुद्ध और सुगन्धित शालि का उल्लेख आता है, जिससे उत्तम भात तैयार किया जाता था और उसे अनेक प्रकार के व्यंजनों और दालों के साथ खाया जाता था।^३ भोजन में मुख्य स्थान भात का ही था, जिसे तन्दुल या तन्दुल भी कहते थे। दाल-भात को स्थूल आहार कहा गया है।^४ किन्तु यह मोटे चावल के भात के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। महीन अथवा अच्छे चावल से उत्पन्न भात को बढ़िया व्यञ्जन माना जाता था। मोटे चावल और मीठी रोटी को उत्तम राति से तैयार करके ही चुन्दकम्मार के पुत्र ने बुद्ध को भोजन के लिए आमन्त्रित किया था।^५

दीघनिकाय के लक्ष्यगसुत्त में सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन का विवरण आता है, जिसमें चावल से बने पदार्थ प्रमुख हैं। इसे बनाते समय अनेक प्रकार की स्वादिष्ट चीजें मिलायी जाती थीं। तिल के साथ पकाया हुआ चावल बहुत प्रचलित था। चावलों से बनी हुई खिचड़ी (यागू या यवागू) बौद्ध भिक्षुओं को

१. दीघनिकाय, पाटेशो०, जि० १, पृ० १०५; जि० २, पृ० २९३; मज्झिम-निकाय, पाटेशो०, जि० १, पृ० ५७; अंगुत्तरनिकाय, पाटेशो०, जिल्द १, पृ० ३२ और १४५; जि० ३, पृ० ४९; जि० ४, पृ० १०८; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० ३४०; थेरीगाथा, ३४०।
२. य दालताय अन्तरहिताय पकट्टापको शालि पातुर शोरि अपण्णो अयुसो सुखो सुगन्धो। दीघनिकाय, प्रथम, नालन्दा पालि प्रकाशन ३/१८।
३. एवं सुसे सासीन ओदनं मिचित्त कालेक अनेकसूपं अनेक व्यञ्जनं परिमधु-जन्ति। वही, प्रथम, ३/९/३३; थेरगाथा में उत्तम भात के साथ मोस खाने का उल्लेख है।
४. ओलारिकं आहारं आहोरेस ओदनं कुम्मासं। मज्झिमनिकाय, नालन्दा पालि प्रकाशन, प्रथम, ३६/३/२०।
५. चुन्दो कुम्मारपुतो तस्सा रतित्वा पणीसं खादनीयं भोजनीयं पटिवादापेत्वा। महापरिनिब्बानसुत्त।

दालों की पपड़ी^१ = परपट भी खायी जाती थी। विभिन्न अन्नों से पकाये गये नरम अथवा कड़े भोजनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। चारिका के समय भिक्षुओं को गृहस्थ उन्हें प्रायः ठोस भोजन ही प्रदान करते थे, जिस कारण उस भोजन को पिण्डपात और उन्हें स्वयं पिण्डपातिक की संज्ञा प्राप्त हुई। भिक्षुओं को पाँच प्रकार के भोजन ग्रहण करने की अनुमति थी, जिनमें तीन प्रकार के भात (ओदन) हुआ करते थे, चौथा प्रकार आटे के साथ तैयार किया हुआ भोजन था और पाँचवाँ सत्तू था। सत्तू की चर्चा सुत्तपिटक के अनेक स्थलों पर आती है। इसे जौ, मटर = कलाय = केराव, आदुवी अथवा अन्य प्रकार की दालों से भूनकर, पीसकर तैयार किया जाता था।^२ भिक्षुओं को भिक्षा में सत्तू भी दिया जाता था।^३ सत्तू के लिए कहा गया है :—सत्तूनाम सत्त घनानि भजित्वा कत्त्वो अर्थात् सात प्रकार के अन्नों को पीसकर सत्तू बनाया जाता था।^४

भोजन का एक प्रकार शाकाहारी था। यह संन्यासी और व्रती लोगों में बड़ा प्रचलित था। हरे शाक-सब्जों और ठंडे पानी की दीघनिकाय^५ में बहुत प्रशंसा की गयी है। साँवाँ, टांगुन (चिंगलक) चीना, निवाड़ = तिन्ना, कोदो, कर्ण = एक तृण, माँड़ (अचाग), खली (पण्याक) और वन से प्राप्त कन्दमूल आदि प्रसिद्ध शाकाहारी भोजन थे।^६ शाकाहार के साथ फलों के उल्लेख भी निकायों^७ में प्राप्त होते हैं। सम्भवतः भोजन की पूर्ति फलाहार से की जाती थी। चारिका के समय बुद्ध के लिए खाद्यान्न के अतिरिक्त फलों की भी व्यवस्था की जाती थी। फलाहार सम्भवतः साधक गणों की आहार-शुद्धि का परिचायक था।

१. देखिए, ओकप्रकाश, फूड ऐण्ड ड्रिक्स इन् ऐशियेंट इण्डिया, पृ० ६२।
२. इस सम्बन्ध में देखिए, कृष्णकान्त त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३८।
३. दि बुक् ऑफ् दि डिसिप्लिन, द्वितीय संस्करण, पृ० ३२२ की पादटिप्पणी ४; जातक सं० २४५।
४. देखिए, उपासक, सी० एस्०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१८।
५. हरितानि चेत तिणानि सादन्तु, सीतानि च पानीयानी पिबन्तु सीनो च मंसपातो उपवासतु'ति। दीघनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ५/५/३३।
६. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ५०; अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २४८ और सुत्तनिपात का आमगन्धसुत्त।
७. दीघनिकाय, प्रथम, ३/७/२७; मज्झिमनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन प्रथम, ४/३/१८; १२/६/१९।

भोज्य पदार्थों में सम्भवतः अन्न के बाद दूसरा स्थान मांस का था। मिथिला में मांस के बाजार का उल्लेख आता है।^१ मछली बाजार^२ और कसाईखानों के भी उल्लेख मिलते हैं। बधियों के गाँवों की चर्चाएँ मिलती हैं। बधियों को गोघातक कहते थे।^३ बड़ा स्पष्ट है कि साधारण लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा मांसभोजी था। हिरन, सूअर तथा पक्षियों के मांस बहुत प्रिय थे। बैल और गोह, यहाँ तक कि बन्दर, कूतर और गाय के मांस भी, लोगों को बहुत प्रिय थे।^४ दुर्भिक्ष की स्थिति में लोग मरे हुए हाथी का भी मांस खाते थे। किन्तु गोमांस अविहित ही प्रतीत होता है, क्योंकि पहले की अपेक्षा गाय का खेती और दूध-दही के सम्बन्ध में अधिक महत्व हो चुका था। सुत्तनिपात^५ में गाय से होने वाले जिन लाभों की चर्चा की गयी है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुत्तपिटक कालीन भारत में गो-भक्षण प्रायः नहीं के बराबर होता रहा होगा।

यहाँ एक बात दृष्टव्य है कि यद्यपि भिक्षुओं को मांस खाना विहित नहीं था, तथापि भगवान् बुद्ध का यह आदेश था कि यदि भिक्षा के समय भिक्षुओं को मांस परस दिया जाय तो उसे वे खा सकते थे। उस आदेश के अनुसार उनके लिए केवल वही मांस भोजन के रूप में अविहित था, जो उन्हें विशेष रूप से आमन्त्रित करके भोज्य रूप में देने के लिए बनाया गया हो।^६ स्वयं भगवान् बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में भिक्षा में प्राप्त चुन्द कम्मार के^७ घर का सूकर-मद्वद खाकर बीमार पड़े। मांस ग्रहण करने के पूर्व भिक्षु के लिए यह आवश्यक था कि उसने सम्बद्ध पशु का बघ होते न देखा हो और उसे किसी प्रकार की शंका न हो कि पशु उसी के लिए मारा गया है।^८ तित्तिर और मुर्गों को मारकर

-
१. देखिए, जातक संख्याएँ क्रमशः ३७० और ४८९।
 २. नानामच्छमांस विकतिपरिवार भोजनम् सम्पादेत्वा थोकं भोजनानि विवारित्वाः उसुमं पलादेन्तो अट्ठासि। अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो, जिल्द ४, पृ० ३०१-३०३; जातक, सं० २१, ३४, ११४, २०२।
 ३. संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, भाग २, पृ० ४७६।
 ४. देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६४।
 ५. सुत्तनिपात की पृ० सं० ७४ की श्लोक संख्याएँ १२-१४।
 ६. महावग्ग, २/२११/१४।
 ७. महापरिनिब्बानसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३६।
 ८. बुद्ध ने त्रिकोटि-शुद्ध मांस भक्षण का विधान बतलाया है। दे०, सुत्तनिपात का आमगन्ध सुत्त।

आग में पकाकर खाने का उल्लेख तत्कालीन बौद्ध साहित्य में मिलता है।^१ मांस का शोरवा लोगों को बड़ा प्रिय था।^२ मांस को घी, मसाले और तेल के साथ पकाकर खाया जाता था। मांस के साथ शालि का भात लोग पकाकर खाते थे।^३ रोहू मछली के साथ भात खाना एक स्वादिष्ट भोजन माना जाता था।^४ इसी तरह गोहू के मांस को मसालों के साथ पकाकर और पुनः उसमें सिरका डालकर एक बढ़िया व्यंजन तैयार किया जाता था।^५

भोज्य पदार्थों में दूध और दूध से बने अनेक द्रव्यों का प्रयोग होता था। दूध, दही, मट्ठा, मक्खन और घी इसमें प्रमुख थे। दूध में चावल डालकर खीर बनाना बहुत प्रचलित था।^६ धम्मपद^७ में दूध से दही जमाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

शहद^८ का प्रयोग जातकों से ज्ञात होता है। मधु मधुमक्खियों के छत्तों से प्राप्त किया जाता था। परन्तु भोजन और पेय को मीठा करते वाले तत्त्वों में सर्वप्रमुख था ईख का रस अथवा उस रस से बनाया गया हुआ शकर या गुड़।^९ बुद्ध ने अपने अनुयायी भिक्षुओं को गुड़ ग्रहण करने की आज्ञा दी थी। गुड़ के साथ तैयार किया हुआ मधुलाजा = गुड़ और लावा, मधुपिण्डक, मधुगोलक = गुलौरा या गुलगुला अथवा मोदक अर्थात् मिठाई या लड्डू का भी बड़ा प्रचलन था।^{१०} इसके अतिरिक्त चावल और गेहूँ के आटे को मधु से सानकर पीठा =

१. तित्तिर कुकुरादयो मारेत्वा मांसां अंगारेसु पवित्वा। जातक सं० ५१२।
२. सो तेसं सूपं व्यञ्जनत्थाय। जातक सं० ४२०।
३. अंगुत्तरनिकाय, कलकत्ता, महाबोधि प्रकाशन, जिल्द १ पृष्ठ १३८; और देखिए, जातक, फॉसबॉल संस्करण, जिल्द ४, पृष्ठ २३८
४. दिन्न रोहित सम नवधतभिस्सकम् सात्तिन भत्वम्। जातक सं० २९२।
५. सिनिद्ध सम्मोहयु तं आम्बिलालम्बम् गोघ मांसां। जातक सं० १३८।
६. पक्कोदनो दुद्ध खीरो हम्मस्मि। सुत्तनिपात, १/२/१८।
७. सज्जु खीरं, व मुच्चति। धम्मपद, बालवग्गो, ७/११।
८. जातक, फॉसबॉल जि० १, पृ० १५४, ३३४; तुलनीय महावग्ग, ४/१७।
९. अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ७६; जिल्द ४, पृ० १७९; धम्म-पदटीका, पाटेसो०, जिल्द ४, पृ० १९९; पेतवत्थुटीका, १२४; जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ३३९; जि० २, पृ० २४०; जि० ४, पृ० १६०-१६१।
१०. देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६९।

पिट्ठ अथवा पिट्ठखादनीय तैयार किया जाता था। पूर्वोत्तर भारत में इसे आज भी पीठा ही कहते हैं। मिठाइयों में खज्जक अथवा पिट्ठखज्जक = खाजा बहुत प्रचलित था। पिट्ठखज्जक सारिपुत्र को बहुत प्रिय^१ था। आज भी पूर्वोत्तर भारतवर्ष में खाजा बहुत प्रेमपूर्वक खाया जाता है।

भोजन तैयार करने में नमक, काली और लाल मिर्च, हरे, आँवला, जीरा, हल्दी आदि मसालों का प्रयोग होता था।^२ सरसों एवं लौंग भी आवश्यक माने जाते थे। इन सभी मसालों और तेलों से बनाये हुए सुस्वादु भोजन की संज्ञा थी व्यञ्जन। आज भी व्यञ्जन शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। दीघनिकाय^३ के अम्बवणसुत्त में मांस, शालि तथा दाल से युक्त, चटनी और कढ़ी के साथ बढ़िया भोजन का विवरण दिया गया है और इसे व्यञ्जन की संज्ञा दी गयी है तथा ब्राह्मणों का विशेष भोजन बताया गया है।

तेल निकालने वाले अनेक प्रकार के अन्नो की खेती होती थी। इनमें प्रमुख थे तिल, सरसों, रेड़ी, तीसी और बरें। तिल से बनी हुई शङ्कुली = पूड़ी अथवा तिलकुट और पपड़ी बड़ा प्रिय भोज्य पदार्थ था।^४ किन्तु ये चीजें, सम्भवतः गरीब वर्ग ही खाते थे। धनी और सम्पन्न वर्ग के लोग दूध-घी से बने पदार्थों का अधिक प्रयोग करते थे।

फलों के भी अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। आम, जामुन, सेव, आँवला, केला, नारियल, छुहाड़ा, बेर, खजूर, प्रियाल, कपित्थ, किन्दुक, अंगूर (मुद्दिका), करोंदा (करमर्द) जैसे अनेक फलों की चर्चाएँ मिलती^५ हैं। इन फलों के अतिरिक्त अनेक तरकारियों या सागों के भी उल्लेख आते हैं। आलू, कमलनाल और उसकी जड़, लौकी, बैंगन, कोहड़ा, गाजर, सरसों का साग और पालक प्रायः साग-सब्जी के

१. देखिए, जातक सं० क्रमशः ७१ और ३३६।
२. तण्डुल सप्पिदधि जीरकमरिचादीनि अहारेपेत्वा। जा० सं० २७७। तं परिवारेत्वा हरीतकी आमलकी मरिचगण्ड्यो च अहोसि। जा० सं० ५१२ और जा० संख्याएँ क्रमशः २६६; ३२५, ४५५।
३. पाटोसो, जि० १, पृ० ८८; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो; जित्द ३, पृ० ७६; जातक संख्याएँ ४२ और २१२।
४. देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७०-७१।
५. अम्बवनेन एव अम्बवनय, जम्बुवनेन जम्बुवनय, लब्बुजवनेन लब्बुजवनय, नालिकेर सज्जादियेन नालिं केरसज्जादियम्। जा० सं० ५३७; सौं बु० बु०, जित्द ५, ५५६।

रूप में प्रयुक्त होते थे^१ और भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को भी इन्हें खाने की अनुमति दी थी ।

अन्न, मांस, फल और शाक-सब्जी के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पेयों की चर्चा मिलती है । कुछ पेय अन्न, फल, मधु अथवा गोरस से तैयार किए जाते थे, जो सात्त्विक माने जाते थे तथा नशीला न होने के कारण इन पेयों का सन्यासी वर्ग और साधारण गृहस्थ समाज में समान रूप से आदर था । अनेक प्रकार के भात से निकाला हुआ मांड़ का शक्कर अथवा अन्य किसी मीठे पदार्थ के साथ सेवन स्वास्थ्य के लिए बड़ा लाभदायक माना जाता था ।^२ मज्झिमनिकाय^३ के अनुसार दही, मधु, घी, खाँड़ (काणिस) को एक में मिलाकर अतिसार के रोगी को पीने को दिया जाता था । थेरोगाथा^४ में विभिन्न प्रकार के पेयों में से प्रचलित कुछ खट्टे, मीठे और तीते पेयों का उल्लेख है ।

सुत्तपिटक से तत्कालीन समाज में प्रचलित मादक पेयों की भी जानकारी होती है । इनका उपयोग प्रायः भोजों, त्यौहारों और मेलों के अवसरों पर किया जाता था, जब मित्र और परिचित आमंत्रित रहते थे । एक जातक (सं० १४२) के अनुसार राजगृह में एक बार एक उत्सव में खुलकर सुरापान, अत्यन्त स्वादिष्ट मांस-भोजन और उसके बाद अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद मनाये गये । धम्मपद अट्ठकथा^५ के अनुसार वत्सराज उदयन को पकड़ लेने के बाद अवन्तिराज चण्ड प्रद्योत तीन दिनों तक लगातार मद्यपान करता रहा । किन्तु साधारणतया मद्यपान में दोष माना जाता था । अंगुत्तरनिकाय^६ में शराबों की दूकानदारी करना अनुचित माना गया है । भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को शराब पीने से मना किया था ।^७ किन्तु बीमारी

१. खणन्त आलु कलम्बानि बिडालि तक्क लोणि घुन्नमसामाकीनी तारम् संधारियम् पसारियम्, साकं मिसं मधुं मासं बदरामलकानि च तानि आभत्वाभुञ्जामि अत्थि मेसो परिग्गहो । जा० सं० ४९७; तुलनीय प्रज्ञापना, १/२३/१८, १९, ३७ ।

२. देखिए, कृष्णकांत त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२० ।

३. ४६/१२'२० ।

४. धम्मिलं मधुरसं च तित्तकग्गमनुस्सररसनह्यायगविताहदयं नाप्पकुञ्जति । थेरगाथा, ७३३ ।

५. धम्मपदटीका, पाटोसो, जिल्द १, पृ० १९३ ।

६. पाटोसो, जिल्द ३, पृ० २०८ ।

७. सुरामेनय पानञ्चयो नरो अनुयुञ्जति, इधेवभेसो लोकस्मि मूलखनितअत्तनि । धम्मपद, पृ० २४७ ।

के समय सुरा का उपयोग वर्जित नहीं था। कच्ची शराब को मेरय^१ कहा जाता था, किन्तु अन्नों से बनने वाली हल्की शराब^२ सुरा के नाम से प्रसिद्ध थी। शराब के विभिन्न नाम थे—मेरय, पुंफासव, फलासव, मध्वासव, गुडासव और तुषोदव, जो क्रमशः मसालों द्वारा तेज की हुई शराब, महुए के फूल से बनी हुई शराब, फूलों से बनी हुई शराब, मधु से बनी हुई शराब, गुड़ से बनी हुई शराब और चावल से बनी हुई शराब (तुषोदक) थी।^३ शराब बनाने वालों को शौंडिक कर्मकर^४ कहा जाता था। सुरापान जातक में कापोतिका और प्रसन्नावायक शराबों का उल्लेख किया गया है। कापोतिका चमकते हुए लाल रंग की शराब होती थी, जो कबूतर के पैरों के रंग के समान दिखायी देती थी। प्रसन्ना सुरामण्ड का पर्यायवाची थी और अत्यन्त परिष्कृत ढंग की शराब होती थी।^५

बौद्ध संध में भोजन रखने के लिए और भोजन करने के लिए अलग-अलग स्थान हुआ करते थे। जातकों^६ में भोजन की दुकानों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भोजन बनाना एक विशेष जीविका-वृत्ति ही बताया गया है। बौद्ध संघ में खज्ज-भाजक^७ नाम का भोजन परोसने वाला एक अलग व्यक्ति ही होता था। भोजन करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं के पास ताँबा, लकड़ी अथवा मिट्टी का बना भिक्षा-पात्र होता था जिसे पत्त (पात्र) कहते थे।^८

गृहस्थों के भोजन वाले वर्तन सम्पन्नता और विपन्नता के आधार पर चाँदी, बहुमूल्य पत्थर, ताँबा, लकड़ी, चमड़े, केले अथवा पलाश जैसे पौधों की पत्तियों

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ५०; सुरा मेरय पानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति। इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनित अत्तनो। धम्मपद, श्लोक सं० २४७।
२. इन विभिन्न प्रकार की शराबों का उल्लेख दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० ५०, ६२-६३ में भी मिलता है।
३. देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७५।
४. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० २२६।
५. देखिए, कृष्णकांत त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८४।
६. फॉसबॉल संस्करण, जि० ३, पृ० २८७; जि० ५, पृ० १७० और २९०; जि० ६, पृ० २७६।
७. विनयपिटक, पाटोसो, जि० २, पृ० १७६; जि० ३, पृ० ३८ और १५५।
८. उपासक, सी० एस०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३३।

और मिट्टी के हुआ करते थे।^१ बौद्ध भिक्षु पानी इकट्ठा करने के लिए प्रायः एक मिट्टी का घड़ा, पानी पीने के लिए एक प्याला, पानी का एक झोला, एक टोकरी, भोजन पकाने का एक बर्तन और एक कड़ाही रखते थे।^२

भोजन संबंधी शिष्टाचार

भारतवर्ष में आतिथ्यसत्कार सांस्कृतिक जीवन का एक प्रमुख तत्त्व रहा है, और अतिथि को भोजन कराना इसका प्रमुख अंग था। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि जहाँ कहीं भी भगवान् बुद्ध और उनका संघ जाता था, साधारण गृहस्थ उन्हें और उनके संघ को भोजन कराने के लिए लालायित रहता था। अपने पापों से मुक्ति और लालच की भावना का त्याग करने के लिए दूसरों को भोजन कराना एक बढ़िया माध्यम माना जाता था।^३ बौद्ध संघ भोजन की पवित्रता और उसे खाने के ढंग की पवित्रता पर बड़ा जोर देता था। बिना हाथ, मुँह और दाँतों को साफ़ किये भोजन करना बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए मना किया था तथा बिना माँजे हुए बर्तनों में पानी पीना भी अनुचित बताया था।^४ किन्तु ये सारे नियम केवल भिक्षु सम्प्रदाय के लिए ही नहीं, अपितु साधारण समाज के लिए भी रहे होंगे। विहारों के भीतर भोजन के लिए एक भत्तज्ञ अर्थात् भोजन करने का कक्ष होता था और ऐसे ही भत्तज्ञ गाँवों में भी निर्मित रहते थे, जो सम्भवतः सामूहिक भोजन के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे। बौद्ध विहारों में भोजनशालाओं की सुव्यवस्था के लिए भत्तज्ञ-वत्ता नाम का एक अधिकारी भी हुआ करता था। किन्तु बौद्ध संघ ब्राह्मणों के समाज के विपरीत यह नहीं मानता था कि किसी हीन जाति से छुए जाने के कारण भोजन अपवित्र हो जाता है। बौद्ध भिक्षु आदर से परोसे हुए भोजन को स्वीकार कर लेते थे, चाहे वह मोटे अन्न का अथवा किसी हीन जाति का ही क्यों न हो।^५ बुद्ध ने इस बात पर बहुत बल दिया कि वही भोजन ग्राह्य है, जो सद्वृत्ति से प्राप्त किया गया हो।^६ यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं में भोजन संबंधी छुआछूत का भाव

१. कच्चन तट्टके मधुलाजे सक्खरोद काञ्चदापेत्वा। जातक सं० ४७६।

२. दीघनिकाय, पाटेसो०, जि० २, पृ० १७२; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जि० ४, पृ० २१०; जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० २६६।

३. दीघनिकाय, लक्खणसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ६२; अंगुत्तरनिकाय, जि० ४, वेलामसुत्त, महाबोधि प्रकाशन, पृ० ३३-३४; सै० बु०बु०, जि० १, पृ० ३।

४. चुल्लवग्ग, पंचम, ५।

५. सदर्भ के लिए देखिए, भिक्षुपातिमोवख, षष्ठ, २७-३१; सप्तम २७-३१।

६. देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८०।

नहीं था। परन्तु ऐसा लगता है कि ब्राह्मण लोग क्षत्रियों के साथ तो भोजन कर लेते थे किन्तु हीन जातियों के प्रति उनमें भोजन के बारे में यह बराबरी का भाव नहीं था। ऐसा करने पर वे जाति-वहिष्कृत हो जाते थे।^१ एक ब्राह्मण को एक चाण्डाल का भोजन करने पर पश्चात्ताप करते हुए दिखाया गया है। इसी तरह प्रसेनजित के वासभक्तिया नामक दासी-पुत्री से विवाह करने के संबंध में **भट्टसाल जातक**^२ का यह उल्लेख बड़ा समीचीन है कि किस तरह से महानाम शाक्य ने ही नीच जाति की माता से उत्पन्न होने के कारण अपनी पुत्री वासभक्तिया के साथ एक ही थाली में भोजन नहीं किया।

बौद्ध संघ के लिए बुद्ध ने भोजन सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्माण किया था, यथा, दोपहर के बाद भोजन न करना, जीवनरक्षा मात्र के लिए आवश्यक भोजन से अधिक भोजन न करना, साधारण अवस्थाओं में भोजन का संग्रह न करना और एक बार में अपने भिक्षापात्र में तीन बार भरे हुए भोजन से अधिक भोजन न करना। इसी तरह शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों का भी भोजन बहुत साधारण होता था और उन्हें प्रायः भात और खिचड़ी खाने को मिलती थी। किन्तु गृहस्थों द्वारा आमंत्रित किए जाने पर वे चीनी, गुड़, दही अथवा माँड़ भी भोजन में पाते थे।^३ किन्तु साधारणतया उनके लिए यह विहित था कि वे बहुत गरिष्ठ (प्रणीत) भोजन न करें।

वस्त्रभूषण

बौद्ध त्रिपिटक से तत्कालीन वस्त्रभूषण और प्रसाधन संबंधी अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। चूँकि हम यहाँ प्रमुखतः **सुत्तपिटक** के साक्ष्यों तक ही अपने को सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे, यह चित्र मोटे रूप में एक रेखाचित्र मात्र होगा। वास्तव में बौद्धसंघ, बौद्ध भिक्षु और उनके नित्य प्रति के जीवन से सम्बद्ध और प्रयुक्त होने वाली सामग्री की चर्चाएँ, बौद्ध संघ के आचार (विनय) की दृष्टि से, **विनयपिटक** में ही आती हैं। किन्तु हमारे विषय-स्रोत की परिधि के बाहर होने के कारण उन सभी संदर्भों को आगे अत्यन्त संक्षेप अथवा समर्थक रूप में ही ग्रहण किया जायगा। **सुत्तपिटक** के भी अनेक स्थलों में बौद्ध

१. फाँसबॉल, जि० २, पृ० १९-२०; जि० ४, पृ० ३८८।

२. जातक सं० ४६५।

३. एक दिवसं निमन्तने एकत्वे वागुलय दधिना भुज्जिश एक खीरेन। जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० १२३।

४. देखिए, क्रमशः—दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० ४; महापरिनिब्बानसुत्त, पृ० १४८-१४९; लक्खणसुत्त, पृ० २६४; मज्झिम-

भिक्षुओं और जनसाधारण के वस्त्राभूषण और सुख-सुविधा की अनेक वस्तुओं के संबंध में सूचनाएँ हैं। ब्राह्मणों और श्रमणों के वस्त्र किस प्रकार के होने चाहिए, इस सम्बन्ध में प्रमुख सूचना हमें दोघनिकाय के कस्सप-सींहनादसुत्त^१ से प्राप्त होती है। उसकी अथवा वैसे अन्य संदर्भों की तुलना के सम्बन्ध में ही विनयपिटक के सन्दर्भ समीचीन होंगे।

वस्त्राभूषण और प्रसाधन के सम्बन्ध में दो प्रकार के विभाजन आवश्यक प्रतीत होते हैं। एक तो पहरावे-ओढ़ावे, आसन-यान और अत्यन्त साधारण सुख-सुविधा की वे वस्तुएँ, जो बौद्ध भिक्षु धारण करते थे, और दूसरी वे जो साधारण गृहस्थों और सांसारिक लोगों के सम्बन्ध में ज्ञात होती हैं। भिक्षुओं और गृहस्थों के सम्बन्ध के जिन वस्त्रों अथवा उपयोग की वस्तुओं की जानकारी होती है, उनका संक्षिप्त व्यौरा क्रमानुसार नीचे प्रस्तुत है।

भिक्षुओं के वस्त्रों को बुद्ध द्वारा अनुशंसा और उनके उपयोग की आज्ञा उन्हें धूप, शीत, वायु, मच्छरों अथवा ऐसी ही प्राकृतिक कठिनाइयों से बचने के लिए थी।^२ ध्यान यह दिया जाता था कि वे ऐसे किसी भी वस्त्र अथवा वस्तु का उपयोग न करें जो उनके जीवन को आरामतलब, ऐश्वर्यपूर्ण, विलासी अथवा आलसी बनावें। किन्तु वृद्धावस्था, बीमारो और विशेष परिस्थितियों में अनेक अपवादों की भी स्वीकृति दी गयी थी। बौद्ध भिक्षुओं की वस्त्र सम्बन्धी एक सूची नीचे दी जा रही है। भिक्षुओं का साधारण पहरावा चीवर होता था, जिन्हें भिक्षु स्वयं सिलकर निर्मित करते थे। चीवर के तीन भाग होते थे—संधाटो, उत्तरासंग और अन्तरवासक^३। इसके अतिरिक्त कठिन^४ नामक एक और वस्त्र होता था, जो उदार व्यक्तियों, विशेषतः गृहस्थों, द्वारा भिक्षुओं को दिया हुआ वस्त्रखण्ड होता था। इसी से भिक्षुगण अपने चीवर का निर्माण करते थे।

निकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ४९, २१२, २१६ ३००, ३१० और ५८१; अंगुत्तरनिकाय, कलकत्ता, हिन्दी अनुवाद, जि० १, पृ० सं० क्रमशः २४८, २५५, २५६; जि० ३, पृ० ३१०।

१. देखिए, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ६३।

२. यावदेव सीतस्स परिधाताय, उण्हस्स परिधाताय, डेसमकसवातातय सिरिसप सम्फसानं परिधाताय यावदेव हिरिकोपीनव्यटिञ्छानत्थां.... मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन—प्रथम, २/३/१० और आगे।

३. उपासक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० सं० क्रमशः १५, ४०, ५९ और ६०।

४. देखिए, त्रिवेदी, के० के०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९२-९४; तुलनीय विनयपिटक का कठिन स्कन्ध, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २५६।

बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपने वस्त्र-निर्माण की संज्ञायें थीं—बंधन, ओवट्टिकरण, कंडुसकरण, वडिकरण, अनुवातकरण, परिमंडकरण, श्रोवट्टहेयकरण, कुसि, खड्ड-कुसी, मंडज, विवट्ट, अनुवट्ट, जांघेयक, गिवेयक, वहन्न^१ आदि। वास्तव में भिक्षुओं द्वारा चीवर बनाने की विभिन्न प्रक्रियाओं से सम्बद्ध कार्यों को इन शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता था। भिक्षु लोग या तो पंसुकुलिक या पांसुकुलिक होते थे अर्थात् फटे-पुराने, मैले चीवड़ों से शरीर ढकते थे, अथवा भिक्षा में गृहपतियों द्वारा दिये हुए कपड़ों से अपने चीवरों का निर्माण करते थे।^२ ये चीवर रंगे हुए होते थे और उनसे सम्बन्धित रंगाई की अनेक क्रियाओं की चर्चा उपलब्ध होती है।^३ चीवर छह प्रकार के होते थे—भीम-त्तीसी अथवा केले के रेशों के बने हुए, जिन्हें कुछ लोग रेशमी वस्त्र की भी संज्ञा देते हैं; कप्पासिक—रई अथवा कपास से बने हुए; कोसेय—रेशम से बने हुए; कंबल-ऊन से बने हुए; साण = सन से बने हुए; और मंज्ज अर्थात् पट्टा से बने हुए।^४

एक जातक^५ में चीवर के बारह गुणों की चर्चा है, जिससे यह स्पष्ट है कि यह भिक्षुओं के लिए कितना उपयोगी था।

भिक्षुणियाँ संघाटी, अन्तरवासक और उत्तरासंग के अतिरिक्त कंचुक भी पहन सकती थीं। कंचुक किस आकार का होता था, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त वे कटिमूत्र से बंधा हुआ लंगोट जैसा भी एक वस्त्र पहनती^६ थीं।

जनसाधारण के वस्त्रों के अनेक प्रकार होते थे। इन प्रकारों में उन वस्त्रों के बनाये जाने के तत्त्व, उनके पहनने के ढंग, सम्पन्न और निर्धन वर्गों के हिसाब से उनका महंगा और सस्ता होना, वस्त्रों के निर्माण-क्षेत्र के आधार पर उनका नामकरण तथा उनकी कटाई, बुनाई और रंगाई के आधार पर उनके विभिन्न प्रकारों की जानकारीयाँ प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए महासुबस्सन^७ सुत्त में खोमसुखमानम् = अलसी की छाल से बने महीन वस्त्र, कुप्पासिक सुखमानम् =

१. मोनीचंद्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ४५; त्रिवेदी, के० के०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०५-२१७; तुलनीय महावग्ग, ७/१२/२।

२. महावग्ग, ८/८/१२।

३. देखिए, उपासक, सी० एम्०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९०।

४. महावग्ग, ८/९/१३।

५. जातक, प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद, पृ० ६५।

६. चुल्लवग्ग, १०/६/२।

७. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५७।

कपास के बने हुए सुखदायक वस्त्र; कौशेयसुखमानम् = कौशेय अर्थात् रेशम से बने हुए सूक्ष्म वस्त्र; और कंबलसुखमानम् अर्थात् ऊन के बने हुए सूक्ष्म वस्त्र आदि के उल्लेख मिलते हैं। वस्त्रों में सम्भवतः सबसे प्रचलित कपास के बने वस्त्र होते थे। इन्हें कापासिक अथवा कप्पसिक कहा जाता^१ था। तुंडलि जातक (सं० ३८८) से बनारस के आसपास कपास की खेती होने की जानकारी मिलती है। धनी वर्ग के लोग रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे, जिन्हें कोसेय या कौशेय^२ कहा जाता था। इसका निर्माण करने वाले कोसियकारक कहलाते थे। रेशमी वस्त्रों के एक प्रकार को क्षौम कहा जाता था। क्षौम सम्भवतः तीसी अथवा अलसी के महीन डंठलों की छाल से बना हुआ वस्त्र होता था तथा पवित्रता और पूजा के अवसरों पर इसी का उपयोग किया जाता था। जातकों^३ में क्षौम के बने वस्त्रों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

तीसरे प्रकार के वस्त्र ऊन के बने होते थे, जिन्हें कंबल अथवा दुस्स कहा जाता था। दुस्स को आजकल धुस्सा कहते हैं। महावेसन्तर जातक^४ में गांधार के रक्तपंडुकंबल (इन्दुगोपक वण्णाभा गंधारा पंडुकंबला) की प्रशंसा की गयी है। महावणिज जातक^५ में बहुमूल्य वस्त्रों की सूची में उद्दीयान के कंबलों को भी शामिल किया गया है। शिवि लोगों का देश ऊनी शालों के लिए बहुत प्रसिद्ध था, जिन्हें सीवेयकदुस्स^६ कहते थे। संयुत्तनिकाय^७ के खोमदुस्ससुत्त से यह ज्ञात होता है कि शाक्यों के प्रदेश में स्थित खोमदुस्स नामक गाँव में धुस्से बहुत बढ़िया बनते थे। मज्झिमनिकाय^८ के एक स्थल से ज्ञात होता है कि जब गृहस्थ लोग

१. वहीं।

२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ६, पृ० ३३६; जातक; हिन्दी अनु०, जिल्द ६, पृ० ६५१, गाथा ७७९।

३. जातकों से प्राप्त क्षौम के विभिन्न उद्धरणों के लिए देखिए, मोतीचंद्र, पूर्व-निर्दिष्ट, पृ० २८।

४. सं० ५४७, गाथा ११४।

५. सं० ४९३, गाथा १४।

६. महावग, ८/१/२९।

७. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० १४६-७ और डिपापाने०, सन्दर्भ खोमदुस्स।

८. भिक्खुसङ्घसन्निपावेत्वा पणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन सहत्था सन्तप्पेसि सप्पवारेसि एकमेकं च भिक्खुं पच्चेकं दुस्स युगेन अच्छादेसि। म० नि०, नालंदा, पालि प्रकाशन २/३/५।

भिक्षुओं को भोजन के लिए आमन्त्रित करते थे तो उन्हें भोजन करा चुकने के बाद एक जोड़ा धुस्स दान में देते थे। इन धुस्सों को धनी वर्ग अपने प्रासाद की सीढ़ियों के नीचे तक बिछाता था।^१ ये दुशाले कई रंगों के होते थे। आश्वलायन ब्राह्मण मजीठ रंग का दुशाला ओढ़ता था। शिविजातक^२ (सं० ४९९) के अनुसार एक बार कोशलराज ने दशदल अर्थात् बुद्ध को शिविदेश का एक ऐसा वस्त्र (सिवेय्यकवत्थम्) प्रदान किया, जिसका दाम एक लाख कार्ष्णिण था। दुस्स केवल ऊन के ही नहीं अपितु क्षौम अर्थात् अलसी और कपास के धागों से भी तैयार किये जाते थे। इसी कारण उन्हें खोमदुस्स अथवा कप्पासिक दुस्स कहा गया।^३

गृहस्थों के पहरावे मुख्यतया तीन कपड़ों के होते थे—घोती = अन्तरवासक, दुपट्टा = उत्तरासंग और पगड़ी = उष्णीस। स्त्रियाँ और पुरुष कंचुक पहनते थे।^४

स्त्रियाँ साड़ी भी पहनती थीं, जो काफी मजबूत होती थी।^५ रानियाँ अधिकतर साड़ियाँ पहनती थी और इसे सट्टसाटक अथवा वलित्यगसाटक कहते थे।^६ परन्तु मुत्तपिटक से हमें ऐसी कोई भी सूचना नहीं प्राप्त होती, जिससे यह पता चले कि उस समय साड़ी पहनने का क्या तरीका था।

उपयुक्त पहनावों के अतिरिक्त मुत्तपिटक के कुछ स्थानों से हमें जनसमाज की वेशभूषा कैसी होती थी, इसकी भी जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणतया, एक जातक^७ में एक धनुर्धारी की पोशाक का वर्णन आता है। किस प्रकार से परदे की ओट में अपने सफेद वस्त्र उतारकर, लाल कपड़ा पहनकर, काछ कसकर लाल फेट में तलवार खोसकर, ऊपर से एक सुनहरा कंचुक उसने पहन लिया और अंत में चापनाली धारणकर भेड़े के सींग से बनी घनुष कसकर वह कैसे तैयार हुआ, इसका मनोरम वर्णन वहाँ प्राप्त होता है।

१. कोकनदं च पासादं ओदातेहि दुस्सेहि सन्थरापेत्वायावपच्छिय सोपान कलंवा । वहीं, २/३५/२ ।
२. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ४०१; हिन्दी अनुवाद, जिल्द ४, पृ० ६०९ ।
३. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्र०, १०/२/३१ ।
४. संदर्भ के लिए देखिए, भिक्षुनिपातिमोक्ख, ४/४०/९६; चुल्लवग्ग, ५/२९/२ ।
५. जातक सं० ३२४ ।
६. जातक सं० ४३१ ।
७. सं० १८१ ।

सुत्तपिटक कालीन पूर्वोत्तर भारत में आकर्षक ढंग से वस्त्रों के पहनने पर जोर दिया जाता था। महापरिनिब्बानसुत्त^१ की सूचना है कि एक बार वैशाली के लिच्छवियों ने जब यह सुना कि बुद्ध अम्ब्रपाली के यहाँ आने वाले हैं तो अपने शरीर के रंगों से मेल खाते हुए विभिन्न रंगों वाले विभिन्न कपड़ों से सुसज्जित होकर वे उनके स्वागत को गये। स्त्रियाँ भी अपने बनाव-शृंगार में रंगों के मिलान सर बड़ा ध्यान देती थीं। एक जातक में एक जगह कहा गया है कि विरूपाक्ष की पुत्री कालकण्णी ने सुचिपरिवार नाम के सेट्ठी से मिलते समय नीले रंग का वस्त्र, नीला विलेपन और नीलमणियों से अपना शृंगार कर रखा था।^२ काशी के वस्त्र

भगवान् बुद्ध के समय से लेकर आज तक काशी अर्थात् वाराणसी के बने वस्त्रों की बड़ी प्रसिद्धि रही है। काशी के बने वस्त्रों को काशीकुत्तन^३ और कासीय^४ कहते थे। महापरिनिब्बानसुत्त^५ से ज्ञात होता है कि बुद्ध के मृत शरीर को काशी में निर्मित वस्त्रों में ही लपेटा गया था। उस स्थल की टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोष का यह कथन है कि काशी के ये वस्त्र इतने महीन और घने प्रकार से बुने हुए थे कि वे तेल तक नहीं सोख सकते थे।^६ उनकी विशेषता में कहा गया है उनमें हर तरफ से एक प्रकार का नीला रंग निकलता रहता था। काशी के कपड़े अनेक रंगों के होते थे यथा--नीले, पीले, लाल, मंजीठ रंग के और सफेद।^७ बनारसी कपड़े (वाराणसेय्यक) के पोत का उल्लेख मज्झिमनिकाय

१. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १२८।

२. जातक सं० ३२८।

३. जातक, अंग्रेजी अनुवाद, जि० ६, पृ० ४७, १५१, ३३५ और ५००।

४. जातक सं० ३२८, जि० ६, पृ० ५००।

५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४८-१४९।

६. रन्जो, वासेट्ठा चक्क, वल्लिस्स शरीरं अहतेन वत्थेन वेठेन्ति, अहतेन वेत्थेन वेठेत्वा विह्वेतेन कप्पासेन वेठेन्ति, विह्वेतेन कप्पासेन वेठेत्वा अहतेन वत्थेन वेठेन्ति। दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय ३/२४/१०३; बुद्धघोष की टीका के लिए देखिए, डायलाग्स ऑफ बुद्ध, द्वितीय खण्ड, पृ० १५५, पदसंकेत ३।

७. त वत्थं वाराणसेयकं उभतभाग विमट्ठं नीलं नीलवण्णं नील निदस्सन नील निमंस—उभतोभाग विमट्ठं पीतं पीतवण्णं पीतनिदस्सन पीतनिमंस उभतो भाग विम्मठं ओदात वण्णा ओदात निदस्सन ओदात निमंस उभतो भाग निमट्ठं लोहितक वण्णे लोहितक निदस्सन लोहितक निमंस...। दीघनिकाय, नालंदा पालि, द्वितीय, ३/१३/४३।

और दीघनिकाय में आया है।^१ यहाँ के कपड़ों के बहुत अच्छे होने के कारण सम्भवतः वाराणसी में कपास की अच्छी पैदावार होना, बुनकरों का होशियार होना, धुलाई के लिए अच्छा पानी प्राप्त होना आदि थे। काशी में सूती कपड़ों के अलावा रेशमी कपड़े और सम्भवतः क्षौममिश्रित कम्बल भी बनते थे। वैद्यराज जीवक कौमारभृत्य को काशी के राजा ने एक क्षौम मिश्रित कम्बल उपहारस्वरूप दिया था।^२ बुद्धघोष अड्डकासीय नामक काशी के एक बहुमूल्य वस्त्र का उल्लेख करते हैं, जिसे मोतीचंद्र बनारस की अड्डी से समीकृत^३ करते हैं, जो बहुत महीन होता है। अंगुत्तरनिकाय^४ में काशी के वस्त्रों की चमक, उनके मूल्य तथा उनके सुख पहुँचाने वाले गुण तो प्रशंसित हैं ही, वहाँ यह भी उल्लिखित है कि “काशी का नया वस्त्र भी सुन्दर होता है, चिकना होता है, बहुमूल्य होता है। कुछ समय काम में लाया हुआ भी काशी का वस्त्र सुन्दर होता है, चिकना होता है, बहुमूल्य होता है। काशी का पुराना भी वस्त्र चिकना होता है, बहुमूल्य होता है। भिक्षुओं! काशी के पुराने वस्त्र में भी या तो रत्न लपेटे जाते हैं, या उसे सुगन्धित पेटी में रखते हैं।” सम्भवतः इसी कारण बुद्ध प्रायः काशी में निर्मित वस्त्र ही धारण करते थे।^५ इसी तरह थेरगाथा^६ से भी काशी के सुखकर वस्त्रों की सूचना मिलती है। सयुत्तनिकाय^७ के अनुसार सभी बुने हुए वस्त्रों में काशी का बना कपड़ा अग्र होता है।

अनेक प्रकार के पशुओं के चमड़ों के भी वस्त्र बनते थे। ये वस्त्र विशेषतः बिछावन और ओढ़न से ही संबंधित रहते थे। मज्झिमनिकाय^८ में बिल्ली के चमड़े से निर्मित सम्भवतः बैठने के किसी आसन का उल्लेख है। वहीं पलंग पर बिछाये जाने वाले गलीचे अथवा रजाई का भी उल्लेख है, जो क्रमशः बाल के चमड़े और

-
१. महासुकुलदायिसुत्त, म० नि०, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३१२; संगीति-परियायसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २९८; दसुत्तर सुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३१०।
 २. मोतीचंद्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ३०-३१।
 ३. विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २७४।
 ४. महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, जिल्द १, पृ० २५६।
 ५. काशिकम्भिक्षवे सुमेतम् वेठनम् होति, कासिका कंचुका कासिकम् निवासनम् कासिको उत्तरासंगो। अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो० ३/४/९।
 ६. गाथा सं० २९९, ३७९।
 ७. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ६४१।
 ८. पाटोसो०, जिल्द १, २१/४/१९।

मृगचर्म के बने होते थे और इन्हें क्रमशः गोनकत्थ, पटिक अथवा प्रत्यस्तरण कहा जाता था।^१ ओढ़ने और बिछाने की कुछ वस्तुओं के उल्लेख अंगुत्तरनिकाय^२ से भी हमें प्राप्त होते हैं।

दीघनिकाय^३ के ब्रह्मजालसुत्त में ऐसी शय्याओं का उल्लेख है, जिन्हें दीर्घ आसन, पलंग, बड़े-बड़े रोएँ वाले आसन, चित्रित आसन, उजला कंबल, फूलदार बिछावन, रजाई, गद्दा, सिंह-व्याघ्र के चित्र वाला आसन, झालरदार आसन, काम किया हुआ आसन, लम्बी दरी, कदली मृग की खाल का बना हुआ आसन, चँदोवादार आसन और दोनों ओर तकिया रखा हुआ आसन कहा गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ हाथियों और घोड़ों के साजों के भी उल्लेख हैं।^४ बुद्ध कहते हैं कि ब्राह्मण लोग इन आसनों का उपयोग करते थे, किन्तु श्रमणों को उनसे विरत रहना चाहिए।

ओढ़ने, बिछाने तथा अन्य प्रकार के प्रयोगों में आने वाली उपर्युक्त वस्तुओं की सूची निम्नलिखित है^५—

चित्तक = कपड़ों के अनेक टुकड़ों से बनी हुई कालीन, जो विस्तर ढकने के काम में आती थी।

पटिक = ऊन की सफेद कालीन।

कुत्तक = ऊन की बड़ी कालीन जिस पर एक साथ सोलह-सोलह नृत्यांगनाएँ नृत्य कर सकती थीं।

कोशेय = रेशम से बनी कालीन।

एकन्तलोम = एकतरफा रोएँदार कंबल।

कटिठस = जवाहरातों से सजा हुआ बिछौना।

उद्बलोमी = दोनों तरफ से रोएँदार कंबल।

विकटिका = ऐसा बिछावन, जिस पर सिंह और व्याघ्र आदि के सिर बने हों।

तुलिका = रुई भरी हुई रजाई।

हत्यधर और अस्सधर = हाथी और घोड़े के पीठ पर बिछाने वाला वस्त्र।

आस्तरण अथवा झूल = काठी के ऊपर बिछाने वाले वस्त्र।

१. वहीं, १२/६/१४।

२. पाटोसो, ३/४/९।

३. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३।

४. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३।

५. देखिए, बृह्णकांत त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३००-३०२।

चिलमिका = फर्श पर बिछाने वाली कालीन ।

बाहितिक = सम्भवतः यह बाहीक देश अर्थात् पश्चिमी पंजाब में बनने वाली एक ऊनी चादर होती थी । यही बाहितिक प्रसेनजित ने आनंद को भेंट की थी ।^१

पैरों की रक्षा के लिए जातकों^२ से जूतों के प्रयोग की जानकारी प्राप्त होती है । ये जूते विभिन्न आकार-प्रकार, रंगों और तल्लों वाले होते थे । जूतों में सिंह, बाघ, मृग, चीते, उदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लुओं के चमड़ों का प्रयोग होता था । किन्तु मुख्य रूप से मरे हुए बैलों के चमड़े ही काम में लाये जाते थे । इन चमड़ों का काम करने वाले व्यक्तियों को चर्मकार कहा जाता था । **काम जातक** (संख्या ४६७) में एक चर्मकार को चमड़े का कोना काट-काटकर जूतों को अच्छा स्वरूप देते हुए बताया गया है । ये जूते नील, लोहित, मैज्ठी, कृष्ण, नारंगी (महारंग) और पीले (कुरुदिय) चमड़ों से बनाये जाते थे ।^३

जूतों के अतिरिक्त गृहस्थ लोग काठ की बनी हुई चरणपादुकाएँ अथवा तालपत्र और बांस की बनी हुई चप्पलें भी पहनते थे । ये चप्पलें—तृण, मूँज, घास और कम्बल की भी बनती थीं । कुछ ऐश्वर्यशाली और शौकीन प्रकृति के व्यक्ति अपनी साधारण पादुकाओं को सोना, चाँदी, स्फटिक, कांसा तथा तांबे आदि से जड़कर सजाते थे ।^४ परन्तु साधारण गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते थे, और भिक्षुओं के लिए तो ये पूर्णतया वर्जित थे ।

अलंकार

सुत्तपिटक से अलंकारों के विषय में विशेष सूचनाएँ नहीं प्राप्त होतीं । कहीं-कहीं सोने, मणियों एवं मोतियों के कुछ आभूषणों के संकेत मात्र मिलते हैं ।^५ धेरीगाथा^६ में एक जगह पर अम्बपाली गणिका कुछ स्वर्णभूषणों का नाम लेती है । वस्तुतः इस आधार पर हम बुद्धकालीन समाज में प्रचलित अलंकारों के

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २/४/८, पृ० ३६६ ।

२. देखिए, सं० २२७ ।

३. देखिए, कृष्णकान्त त्रिवेदी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३०८ ।

४. महावग्ग, ५/७/१ ।

५. देखिए, धेरीगाथा, क्रमशः १३/४/३२९; १३/१/२५९; १३/१/२६४; १३/१/२६८ ।

६. १२/१/२६४ ।

विषय में इतना ही कह सकते हैं कि सम्भवतः उस समय समृद्ध वर्ग की स्त्रियों, विशेषकर गणिकाओं में, स्वर्गनिर्मित आभूषणों का प्रचलन कुछ ज्यादा था।

निकायों^१ से हमें कुछ आभूषणों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं। वे हैं—मुद्रिका या पट्टिका, अंगूठी, वल्लिका = कुंडल; कायूर या ग्रैवेयक = गले का हार; ओर्वान्तिका = कंग या कंगन; हत्थरण = चूड़ी या मेखला; पामङ्ग = कर्णफूल आदि। विविध प्रकारों के आभूषणों या अलंकारों का प्रयोग तत्कालीन समाज के स्त्री-पुरुषों द्वारा किया जाता था। आभूषणों में प्रायः बहुमूल्य रत्न भी जड़े रहते थे। मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शिला, लौहितक, मसारगल्ल, प्रवाल = मूंगा आदि रत्न आभूषणों में प्रयुक्त होने वाले प्रचलित रत्नों^२ में थे। मज्झिमनिकाय^३ में एक उत्तम कोटि की वैदूर्यमणि के अठकोने और अच्छी तरह पालिश किए हुए सुन्दर और स्वच्छ टुकड़े का वर्णन किया गया है। ऐसे खण्डों में लाल, पीले, नीले अथवा सफेद धागों को पिरोया जाता था और उन्हें गले में लटकाकर आभूषण के रूप में पहना जाता था। रत्नों का प्रयोग आभूषणों के अतिरिक्त नगर, घर आदि को सजाने में भी किया जाता था, जिसका प्रमाण हमें महासुदस्सनसुत्त^४ से मिलता है। वहाँ वर्णित है कि कुशावती नगर के निर्माण में मसारगल्ल, मणि, मुक्ता आदि रत्नों का प्रयोग किया गया था। स्पष्ट है कि इन बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग राजे-महाराजे अथवा महाशाल श्रेष्ठि ही करते रहे होंगे, साधारण समाज के लोग नहीं। मज्झिमनिकाय^५ से ज्ञात होता है कि सोने को अत्यन्त गलाकर शुद्ध किया जाता था, और विभिन्न प्रक्रियाएँ सम्पन्न करने के बाद उससे विभिन्न अलंकार बनाये जाते थे। इन अलंकारों में पट्टिक, जीवेयक, कुंडल और सुवर्णमाल की गणना की गयी है, जो क्रमशः कमर, कान, अथवा गले में पहनी जाने वाली माला का:

१. मज्झिमनिकाय, पाटेंसो, जि० ३, पृ० २४३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेंसो, जि० ३, पृ० १६; जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० १३४; जि० २, पृ० १२२, ३६३; जि० ३, पृ० १५३।
२. अंगुत्तरनिकाय, पाटेंसो, जि० ४, पृ० १९९, २५५-५८, २६२; जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० ३५१।
३. सेय्यथापि, उदायि मणि वेलुरियो सुयो जातिया अट्टसी सुपरिकम्मकत्तो अच्छोविप्पसन्नो सब्बाकार सम्पन्नो तत्रस्स सुत्तं आवुत्तं नीलं वा पीतं वा लोहितं वा ओदात्तं वा पण्डुसुत्तं वा। म० नि०, प्रथम, २७/३/१८।
४. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १५६।
५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, धातुविभंगसुत्त, पृ० ५७६-७७।

उल्लेख है। थैरीगाथा^१ में मणिकुंडल का उल्लेख प्राप्त होता है और वहीं पर हाथों में कंगन और पैरों में तुपूर पहने जाने की भी चर्चा है, जो बड़े ही कलात्मक ढंग के बने होते थे।^२ इसी तरह से मुक्ताहार का भी उल्लेख जातकों^३ में प्राप्त होता है।

प्रसाधन

सुत्तपिटक से तत्कालीन समाज में प्रचलित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसाधनों की भी जानकारी प्राप्त होती है। पुरुष और नारी दोनों ही विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों का उपयोग करते थे, यद्यपि प्रमुखतः यह नारी के जीवन का ही अविभाज्य अंग था।

साधारणतया स्नान करने के बाद सौन्दर्यप्रिय गृहस्थ एवं गृहपति लोग चूर्ण = पाउडर का प्रयोग करते थे।^४ ये चूर्ण विभिन्न प्रकार के द्रव्यों से बनते थे, जिनमें सर्वप्रमुख चन्दन का चूर्ण^५ था, जो काशी का बना होता था। ये चूर्ण शरीर को सुवासित एवं सुगन्धित बनाते थे। इस सम्बन्ध में खुद्दकनिकाय^६ से प्राप्त यह उल्लेख बहुत ही समीचीन है कि कोशलराज महाकोशल ने अपनी बहिन महाकोसला का विवाह बिम्बिसार से करते समय काशी के एक गाँव को इसलिए अजातशत्रु को भेंट किया कि उसकी आय से महाकोसला को स्नानचूर्ण-मुष्टिघन की प्राप्ति हो सके।

साधारणतया प्रसाधनों का उपयोग नारी समाज में ही ज्यादा प्रचलित था। स्त्रियों द्वारा प्रसाधनों का उपयोग प्रायः मुख को सुन्दर बनाने के लिए ही किया जाता था। थैरीगाथा^७ के अनुसार ओठों को रंगने के लिए नन्दी चूर्ण का प्रयोग होता था। आँखों में अंजन लगाने का बड़ा प्रचार था तथा उसे इस सुन्दर ढंग से लगाया जाता था कि नेत्रों के किनारे पर अंजन की बारीक रेखा अंकित।

१. हत्थी गवस्त्रां मणिकुण्डलं च । थैरीगाथा १३/४/३२९; गाथा, ११६८।

२. वहीं, १३/२/२५९।

३. इदं सुवर्णकायूरं मुक्ता वेलुरिया बहू जातक, ८/४१८/१९।

४. देखिए, दीघनिकाय का पायासिराजञ्ज सुत्त।

५. पालि इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २६२; थैरीगाथा, १३/३/२९९।

६. देखिए हरितमात जातक सं० २३९; बद्धकिसूकर जातक सं० २८३; तच्छसूकर जातक सं० ४९२; दीघनिकाय, पाटोसो, जिल्द १, पृ० ५०।

७. मुखं चूर्णकमविवृतं । थैरीगाथा, १६/४/७७१।

८. नेता अंजनमविवृता । थैरीगाथा, १६/४/७७२।

हो जाती थी।^१ स्त्रियाँ अपने पैरों को आलता से रंगकर तथा अलंकृत वस्त्रों एवं मालाओं को धारणकर अपना शृंगार करती थीं।^२ दीघनिकाय^३ में शरीर में उबटन लगाने और स्नान करते समय तेल लगाकर पतला स्नानचूर्ण लगाने का उल्लेख मिलता है।

प्रसाधन में फूलों और उनसे बनी मालाओं का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था, जो स्त्रियों द्वारा केशविन्यास में प्रयुक्त होते थे। थेरगाथा (१३।१।२५३) से अम्बपाली के पुष्पाभरणों से गुंथे हुए केशपाश की सूचना मिलती है। केशों को स्निग्ध करने के लिए तेलों^४ का प्रचलन था, जो सम्भवतः फूलों से ही निर्मित होते थे। फूलों से अनेक प्रकार के इत्र भी निकाले जाते थे। दीघनिकाय^५ और मज्झिमनिकाय^६ में माला गूँथने वाले कुशल मालाकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। धम्मपद पुष्पवग्ग (श्लोक ४४-४५) में माला बनाने वाले कुशल व्यक्तियों की चर्चा है। स्वयं कोसलराज प्रसेनजित की रानी मल्लिका एक मालाकार की पुत्री थी।

अनेक प्रकार के इत्रों और उनकी दुकानों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। चंदन, सगर, कृष्णानुसारि, कालीय तथा भद्रमुक्तक से चूर्णों को सुगंधित करने की चर्चाएँ मिलती हैं।^७ पेड़ों के मूल, फूलों, फल और पत्तों के रस का निकालकर उनकी गंध से शरीर को सुगंधित किया जाता था।^८ सम्बद्ध विवरणों में चंदन और लोहित चंदन के दो प्रकार बताये गये हैं, जो सम्भवतः सफेद और लाल चंदन के

१. बुद्धिष्टिक् डिसिप्लिन, ३६९।

२. अलंकता सुवसन्ता, मालाधारी विभूषिता अलत्तककता पादा, पादुका व्यूह वेसिका। थेरगाथा, ४५९।

३. दे० पायासिराजञ्ज सुत्त।

४. थेरगाथा, ९६०।

५. पाटेसो०, जि० १, पृ० ५१।

६. पाटेसो०, जि० १, पृ० ३८६-८७।

७. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० १२९, २३८, २९०; जि० ४, पृ० ८१-८२; जि० ६, पृ० ३३६।

८. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० ६७; संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० ५६, २५१, २५२; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० १३७; थेरीगाथा, २९८।

९. देखिए, त्रिवेदी, के० के०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४३।

सूचक थे। कासीक चंदन का उल्लेख निकायों में प्राप्त^१ होता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि काशी में इत्र और चंदन का व्यवहार बड़े प्रमुख रूप में होता था। निर्वाण-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध के शरीर पर दिव्य चंदन का चूर्ण छिड़का गया था।^२

आमोद-प्रमोद

किसी भी काल की सामाजिक अवस्था का सूक्ष्मतम अध्ययन करते समय उस समय की क्रीड़ा एवं मनोरंजनों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टि से सुत्त-पिटक के अनेक स्थलों में हमें साधारण लोगों के आमोद-प्रमोद और विशेष दृष्टि से लोगों द्वारा मनाये जाने वाले महोत्सवों-विशेषतः उस समय खेले जाने वाले खेलों, उत्सवों आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस संबंध में सर्वप्रमुख सूचना दीघनिकाय^३ के ब्रह्मजालसुत्त से प्राप्त होती है। वहाँ पर लोगों का मन बहलाने वाले अनेक प्रकार के मनोरंजनों की एक प्रकार से सूची ही उपस्थित की गयी है। वे हैं—नृत्य, गीत, वाद्य, नाटक, लीलाएँ, ताली बजाकर प्रसन्न होना, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत मंडली के कार्यक्रमों का आयोजन, लोहे की गोली का खेल, वाँस का खेल, हाथियों, घोड़ों, भैसों, बकरों, भेड़ों, मुर्गों और बत्तखों आदि को आपस में लड़ाकर मनोरंजन करना, लाठी के खेल, मुष्टियुद्ध अर्थात् पंजा लड़ाना, कुश्ती और मारपीट के विभिन्न प्रकार के खेल खेलना इत्यादि। यहाँ एक बात दृष्टव्य है कि बुद्ध ने इन सभी प्रकार के खेलों को श्रमणों, ब्राह्मणों और भिक्षुओं के लिए वर्जित बताया। ब्रह्मजालसुत्त^४ में ही जुए के विभिन्न प्रकारों, यथा—अष्टपद, दशपद, आकाश का खेल और परिहारपथ, सन्निक शलाका

१. संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जि० ५, पृ० ४०७; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जि० ३, पृ० ३९१ और जि० ४, पृ० २८१।
२. दिग्वाणि दि चंदन चूर्णानि अंत लिक्खा पपन्ति। दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० १. ३/२३/७२।
३. 'नच्चं गीतं वादितं पेक्खं अक्खानं पाणिस्सरं वेतालं कुम्भथूणं सोभणकं चण्डालं वंसं धोवनं, हत्थिय-युद्धं अस्स-युद्धं महिस-युद्धं उसभ-युद्धं अज-युद्धं, मेण्ड-युद्धं कुक्कुट-युद्धं, वट्टक-युद्धं, दण्ड-युद्धं मुट्ठियुद्धं निब्बुद्धं उप्योधिकं बलगां सेनाव्युहं अनीकदस्सनं इति वा'। दीघनिकाय, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, जिल्द १ पृ० ७।
४. दीघनिकाय, बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन, जि० १ पृ० ७। और देखिए मज्झिम निकाय का पियजातिकसुत्त।

हस्ता, अक्ष, पङ्गचरी, वंकक, मोक्खचिक, चिलिंगगुलिक, पत्वाल्हक, रथों की दौड़, तीर चलाने की बाजी और बुझौवल के खेलों के उल्लेख हैं।

जातकों में समज्ज अथवा समाज शब्द का उल्लेख है। रतिलाल मेहता^१ के मत में समाज एक विशेष प्रकार का जनसमुदाय था, जिसमें आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष विविध प्रकार के खेल, अभिनय, संगीत, नृत्य आख्यान, राजयुद्ध, अश्वयुद्ध, दंडयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि देखते और उनमें स्वयं भी भाग लेते थे। समज्जा का उल्लेख अशोक के अभिलेखों^२ में भी आया है। साधारण प्रकार के खेलों में जालिक अथवा मदारी के खेल और वंसनर्तक = बांस पर नाचने वाले नटों के खेल अत्यन्त ही मनोरंजक और प्रभावशाली होते थे।^३ शंख फूकने वाले = शंख-वादक और तुरही^४ बजाने वाले (भेरीवादक) भी समज्जा की ही कोटि में आते थे।

पालि निकायों से प्राप्त सूचनाओं से यह पता चलता है कि उस समय राजा-महाराजा लोग विभिन्न प्रकार के उत्सवों और महोत्सवों का आयोजन करवाते थे, जिनका स्वरूप कई दिनों तक चलने वाले मेलों जैसा हो गया था और जिन्हें देखने के लिए बड़ी संख्या में दर्शक लोग उपस्थित होते थे। सुत्तपिटक कालीन समाज का प्रमुख लोकमहोत्सव था कौमुदी महोत्सव^५, जो बहुत प्रसिद्ध था। इसे कौमुदी या कत्तिका भी कहते थे। शरद् ऋतु की चांदनी और कार्तिक मास के आगमन का द्योतक यह पर्व मुख्यतः धनी और सम्पन्न वर्गों अथवा राजा-महाराजाओं द्वारा शरद् पूर्णिमा को मनाया जाता था।^६ उम्मदन्ती जातक (सं० ५२७) के अनुसार कत्तिका के दिन नगर परिक्रमा के लिए राजा की शानदार सवारी निकला करती थी। वह सुन्दर अश्व-जुत एक भव्य रथ में बैठता, पीछे-पीछे सारे दरबारी चला करते और प्रासादों के झरोखों से सुन्दरियाँ राजा पर पुष्प-वर्षा करती थीं। उस दिन नगर की आकर्षक ढंग से सजावट की जाती थी और रात्रि में सारा नगर दीपों से जगमगाने लगता था। मगधराज अजातशत्रु द्वारा शरद्

१. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ३५५।

२. 'न च समाजो कथयवो, बहुकं हि दोसं समाजं हि पसति देवानंप्रियो पियदसि राजा। अस्तिपि तुएकचा समाजा साधुमता देवानंप्रियस पियदसिनो राजो। देखिए, प्रथम शिलालेख, गिरनार।

३. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ४२३; जि० ४, पृ० ३२४।

४. अंगुत्तरनिकाय, कल्कत्ता, महाबोधि प्रकाशन, जि० १, पृ० १४८।

५. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ५०८।

६. वही।

पूर्णमा की प्रशंसा का एक उल्लेख दीघनिकाय^१ में आता है। शालभञ्जिका नामक एक अन्य महोत्सव का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वोगेल^२ महोदय के मत में मगध और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में ही शालभञ्जिकोत्सव विशेष रूप से मनाया जाता था।

जातक कथाओं में सुरामहोत्सव^३ या सुरानक्षत्र नामक एक अन्य उत्सव का उल्लेख मिलता है। जैसा कि इस उत्सव के नाम से ही स्पष्ट है, इस दिन साधारण समाज के या नगर के सभी स्त्री-पुरुष जीभरकर मद्यपान करते थे तथा नाच-गाना करते थे। किन्तु इस उत्सव में जरूरत से ज्यादा मद्यपान करने के कारण कुछ अप्रिय घटनाएँ भी घटित हो जाती थीं। नशे की हालत में लोग लड़ना-झगड़ना शुरू कर देते थे तथा लोगों के हाथ-पैर और सिर आदि भी टूट जाने के उल्लेख जातकों^४ में प्राप्त होते हैं।

राजाओं द्वारा मनाये जाने वाले एक अन्य उत्सव का नाम हस्तिमंगल (पालि का हत्थिमंगल) था।^५ यह समाज के अभिजात वर्ग के मनोविनोद का साधन था। हस्तिमंगल से तात्पर्य हाथियों की शोभा-यात्रा अथवा उनका व्यायाम था। सुसीम जातक (सं० १६३) के अनुसार यह प्रतिवर्ष राजांगण में मनाया जाता था। काम जातक (सं० ४७६) में कर्षणोत्सव का उल्लेख मिलता है। यह उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। इस उत्सव की प्रमुख बात यह थी कि इस दिन स्वयं राजा हल जोतकर कृषि कार्य में जुताई-बोवाई का काम शुरू करता था।



१. पाटिसो०, जि० १, पृ० ४७।
२. दि वूमन् ऐण्ड द्री आर् शालभञ्जिका इन् इण्डियन् लिटरेचर ऐण्ड आर्ट्स, उद्धृत, ऐकटा ओरियण्टालिया, जि० ६।
३. ये भुय्येन मनुस्सा सुरं पिबन्ति सुराक्षणायेत किर सो। जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ४८९।
४. जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० ११६।
५. जातक, फॉसबॉल०, जि० २, पृ० ४६-४९; जि० ४, पृ० ९१; जि० ५, पृ० २८६।

नवम अध्याय

धार्मिक स्थिति

सुत्तपिटक में धार्मिक जीवन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। चूँकि सुत्तपिटक बुद्ध के धर्मोपदेशों का ही संग्रह है, अतः सर्वाधिक सूचना तो बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में ही मिलती है। परन्तु इस पिटक के विभिन्न ग्रन्थों में अन्य अनेक धार्मिक मतों और विश्वासों से सम्बन्धित सूचनाएँ भी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि ये सूचनाएँ प्रसंगवशात् ही आयी हैं अथवा बौद्ध दृष्टिकोण से आलोचना या निन्दा के साथ ही प्रस्तुत हैं। सुत्तपिटक के सूत्रों की शैली ऐसी है कि उनमें बुद्ध को विभिन्न व्यक्तियों को उपदेश देते, उनसे वाद-विवाद करते और प्रायः उनको अपने धर्म में दीक्षित करते दिखाया गया है। ऐसे व्यक्तियों में तत्कालीन समाज के अनेक वर्गों और स्तरों के लोग हैं। इसलिए हमें इन सूत्रों से बुद्ध के युग के परिव्राजकों, ब्राह्मणों और सामान्य लोगों की धार्मिक मान्यताओं का परिचय मिलता है। सुत्तपिटक में प्राप्त सामग्री से यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध का युग श्रमण-परिव्राजकों के व्यापक आन्दोलन का युग था और स्वयं बौद्ध धर्म भी इसी आन्दोलन का एक अंग था। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में कई दर्जन दार्शनिक मतों का उल्लेख है और बुद्ध के दृष्टिकोण से उन्हें मिथ्या दृष्टि की कोटि में रखा गया है। वहाँ प्राप्त सूक्ष्म संकेतों से कोई निश्चित ऐतिहासिक सामग्री निकालना तो कठिन है और इसकी सम्भावना है कि उनमें अनेक मत काल्पनिक हों, पर अन्य अनेक ऐतिहासिक हो सकते हैं, जो उस युग के दार्शनिक मतों की विविधता और बहुलता को स्पष्ट करते हैं। अन्य सूत्रों में नामोल्लेख के साथ और किंचित् विस्तार से श्रमणों, परिव्राजक आचार्यों और उनके मतों का उल्लेख है, जिन्हें प्रायः ऐतिहासिक स्वीकार किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि परस्पर भिन्न होते हुए और कभी-कभी एक दूसरे के कटु आलोचक होते भी ये मत वैदिक ब्राह्मण परम्परा के विरोधी थे। पुनः सुत्तपिटक के अनेक सूत्रों में ब्राह्मणों द्वारा बुद्ध से वाद प्रस्तुत करने, बुद्ध द्वारा उनके मतों की आलोचना और अन्ततः प्रायः उन ब्राह्मणों के सद्धर्म में दीक्षित होने के उल्लेख हैं। विशेषकर ऐसे ही स्थलों से ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध में सूचनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार कुछ स्थलों से लोकधर्म के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि ऐसी सूचनाएँ प्रथम चार निकायों से भी प्राप्त होती हैं, पर जातक इनके विशेष भण्डार हैं। आगे उपलब्ध

सामग्री की कमीवेशी को दृष्टि में रखते हुए, पहले बुद्ध और उनके धर्म, तत्पश्चात् अन्य श्रमण-परिव्राजक धर्मों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों, ब्राह्मण यज्ञधर्म, लोकधर्म आदि का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में सामान्य रूप से प्रचलित सूचनाएँ उनकी कुछ यथेष्ट उत्तरकालीन जीवनियों पर आधारित हैं, जैसे—निदानकथा, ललितविस्तर, महा-वस्तु, बुद्धचरित, इत्यादि । पर उन ग्रन्थों की रचना के समय तक बुद्ध एक अलौकिक या देवतुल्य व्यक्ति के रूप में कल्पित किये जा चुके थे । अतः उनमें ऐतिहासिक के साथ चमत्कारिक तत्त्वों का भी समावेश है । सुत्तपिटक में बुद्ध की जीवनी के सन्दर्भ अत्यन्त सीमित और छोटे-छोटे हैं ।^१ बुद्ध के बचपन और शिक्षा के विषय में तो प्राचीन प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध ही नहीं होती ।^२ मज्झिम-निकाय^३ के चार सूत्रों में उनके द्वारा सत्य की खोज का विवरण प्राप्त होता है— जैसे पासरसि या अरियपरियेसनसुत्त; महासच्चकसुत्त, बोधिराजकुमारसुत्त और संगारवसुत्त में । उनकी सम्बोधि का विवरण तो अनेक स्थलों पर है । बुद्ध के धर्मोपदेशों का भी कोई क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण नहीं प्राप्त होता । परन्तु निकाय-सूत्रों की शैली ऐसी है कि प्रारम्भ में ही उस स्थान का उल्लेख है, जहाँ उस सूत्र विशेष का उपदेश हुआ था । अतः यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि बुद्ध ने किन-किन स्थानों की यात्रा की, कहाँ अधिक धर्मोपदेश किये, इत्यादि । दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त में उनके जीवन के अन्तिम कुछ महीनों का वर्णन है । इस प्रकार निकाय-सामग्री के आधार पर भी बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ बनायी जा सकती हैं, यद्यपि यह चित्र अपूर्ण ही होगा ।

बुद्ध स्वयं अपने व्यक्तित्व से अधिक अपने धर्म को महत्व देते थे । अतः स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में उनके शिष्यों ने उनके धर्मोपदेशों के संग्रह पर ही ध्यान दिया, उनके जीवनवृत्त की रचना पर नहीं । प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है

१. बुद्ध की जीवनी के प्राचीन संदर्भों के लिए देखिए, थॉमस्, दि लाइफ ऑफ बुद्ध, विशेषकर भूमिका; पाण्डेय गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४०-४१ ।
२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४४ ।
३. देखिए, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्तसंख्याएँ क्रमशः १।३।६; १।४।६; २/४/५ और २/५/१० ।

कि कुछ आधुनिक विद्वानों की धारणा में, जो अब प्रायः मान्य है,^१ गौतम बुद्ध के जीवन चरित की रचना के प्रयास को सर्वप्रथम विनयपिटक में ही स्थान मिला था और महापरिनिर्वाणसूत्र भी प्रारम्भ में इसी ग्रन्थ का अंग था तथा चुल्लवग्ग के अन्तिम भाग के रूप में था। परन्तु किसी कारणवश इनमें से अनेक को निकालकर दोघनिकाय अथवा अन्य स्थलों में रखा गया। विनयपिटक में इस समय केवल महावग्ग के प्रारम्भ में प्राप्त होने वाला बुद्ध की जीवनी का भाग सुरक्षित है और वास्तव में ज्ञान-प्राप्ति के बाद की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं, यथा धर्मचक्र-प्रवर्तन इत्यादि, के क्रमबद्ध विवरण का हमारा यही प्राचीनतम स्रोत है। यहाँ यह स्मरणीय है कि, जैसा पहले भूमिका वाले अध्याय में भी कहा जा चुका है, सुत्तपिटक की सामग्री प्राचीन-अर्वाचीन कई स्तरों की है। क्योंकि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद और बौद्ध धर्म की बढ़ती हुई लोकप्रियता की पृष्ठभूमि में बुद्ध-कल्पना का विकास हुआ और गौतम बुद्ध न केवल एक अलौकिक महापुरुष और देवतुल्य प्राणी माने गये, बल्कि बहुवचन में अनेक बुद्धों की कल्पना हुई। अतः सुत्तपिटक के ग्रन्थों में भी इस विकास की झलक पाना स्वाभाविक है। दोघनिकाय का महापदानसुत्त इसका सुन्दर उदाहरण है, जिसमें न केवल बुद्ध की जीवनी को एक आदर्श रूप में ढला-ढलाया प्रस्तुत किया गया है बल्कि उनके पूर्व के भी आधे दर्जन मानुषी बुद्धों का उल्लेख है। खुद्दकनिकाय के कई ग्रन्थों में, विशेषकर बुद्धवंश में, इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं।

बुद्ध शाक्य कुल में पैदा हुए थे।^२ शाक्य अपने को क्षत्रिय कहते थे और भारत-नेपाल की सीमा पर उनका राज्य था तथा कपिलवस्तु उनकी राजधानी

१. फ्राउवाल्नर, इ०, दि अर्लीयेष्ट विनय ऐण्ड दि बिगिनिग्स् ऑफ बुद्धिष्ट लिटरैचर, १९५७; पाण्डेय गोविन्द्रचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४१-४२।
२. आधुनिक काल में अनेक विद्वानों द्वारा गौतम बुद्ध की जीवनी प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ। उदाहरण के लिए देखिए, ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, हिज् लाइफ ट्रीचिंग ऐण्ड आर्डर; कर्न, मैन्युअल् ऑफ इण्डियन् बुद्धिज्म; तिब्बती स्रोतों के आधार पर राँकहिल् महोदय की पुस्तक, दि लाइफ ऑफ बुद्ध। सम्भवतः सबसे प्रामाणिक और गवेषणापूर्ण हैथॉमस् की पुस्तक, दि लाइफ ऑफ बुद्ध ऐज् लीजेण्ड् ऐण्ड हिस्ट्री। संक्षिप्त होते हुए भी गोविन्द्रचन्द्र पाण्डेय महोदय का विवरण भी अत्यन्त प्रामाणिक है। देखिए, स्टडीज् इन् दि ओरिजिन्स् ऑफ बुद्धिज्म, अध्याय १०; और बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४३ और आगे।

थी। हाल के उत्खनन के आधार पर बस्ती के पिपरहवा नामक स्थान से कपिल-वस्तु की पहचान की गयी है।^१ बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनी अशोक के रुम्मिन्देई अभिलेख से निश्चित रूप से पहचाना जा सकता है। शाक्यों का राज्य गण-राज्य था और शाक्य लोगों की सभा के द्वारा शासन का संचालन होता था। यह सूचना महत्व की है, क्योंकि बौद्धसंघीय व्यवस्था और गणतंत्रात्मक शासन पद्धति में समानान्तर तत्त्व देखे गये हैं।^२ जैसा पीछे उल्लिखित है, गौतम बुद्ध के प्रारंभिक जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाएं नहीं प्राप्त होतीं। यह प्रायः स्वीकार किया जाता है कि इनके जन्म के कुछ ही दिनों पश्चात् उनकी माता का देहान्त हो गया, जिन्हें दीघनिकाय में एक जगह माया कहा गया है।^३ बाद में इनकी विमाता प्रजापति गौतमी ने इन्हें पाला, जिनका निकायों में कई बार लल्लेख हुआ है और जो बौद्ध धर्म में प्रथम भिक्षुणी के रूप में दीक्षित होने के लिए प्रसिद्ध हैं।^४ समृद्ध कुल में जन्म लेने के कारण गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में यह सहज विश्वास किया जा सकता है कि इनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध हुआ होगा। और चूँकि इनके उन्तीस वर्ष की अवस्था में सत्य की खोज में घर छोड़ने का उल्लेख है,^५ यह भी पूर्णतया विश्वसनीय है कि इनका विवाह हुआ था और इनके राहुल नाम का पुत्र भी था। निकायों में इस नाम के भिक्षु का उल्लेख प्राप्त होता है।^६

बुद्ध द्वारा सत्य की खोज या “आर्य-पर्येषणा” के लिए घर छोड़ना, जिसे

१. देखिए, श्रीवास्तव, के० एम्०, कपिलवस्तु इन् बस्ती डिस्ट्रिक्ट ऑफ यू० पी०।
२. देखिए, पाण्डेय, गो० च० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १३६ और आगे।
३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २/१, पृ० १०५।
४. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग ३।
५. “स्मृतिसौ वयसा समुद्दयं पब्बजि कि कुसलानुएसी।
वस्सानि पञ्चाससमाधिकानि यतो अहं पब्बजितो सुभद्द ॥”
दीघनिकाय, नालंदा, पालि, महापरिनिब्बानसुत्त
६. देखिए, मज्झिमनिकाय का अम्बलटिठकराहुलोवादसुत्त, २/२/१; महाराहुलो-वादसुत्त, २/२/५; चूलराहुलोवादसुत्त, ३/१/५; संयुत्तनिकाय का राहुल-संयुत्त, १७, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० २९७-२९८ और जिल्द २ का राहुलसुत्त, ३४/३/२/८, पृ० ४९४।

महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है, उत्तरकालीन ग्रन्थों में नाटकीय ढंग से वर्णित है।^१ परन्तु प्राचीन सूत्रों से इतना ही समर्थित होता है कि जीवन के दुःखों पर चिन्तन से बुद्ध के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने गृहत्याग का निश्चय किया।^२ मज्झिमनिकाय^३ के आर्यपर्येषणा सम्बन्धी सुत्तों में उनके आलार कालाम, रुद्रक या उद्रक रामपुत्र आदि आचार्यों के पाने का, उनके समीप ब्रह्मचर्य वास करने का और ध्यान की विभिन्न विभिन्न विधियों के अभ्यास का वर्णन है। पर अन्ततः उन्हें इनमें किसी से सन्तोष नहीं हुआ। सत्य की खोज की इस यात्रा में वे मगध में उरु-वेला के सेनानिनिगम पहुँचे और वहाँ उन्होंने कुछ समय तक आहार त्यागकर कठोर तपस्या की। इन्हीं दिनों पञ्चवर्गीय ब्राह्मण भिक्षु उनके साथ हुए थे। अन्ततः यह ज्ञान होने पर कि काय-क्लेश से नहीं बल्कि ध्यान के द्वारा ही ज्ञान सम्भव है, उन्होंने भोजन ग्रहण किया और उसके फलस्वरूप उन्हें ढोंगी समझकर उनके पाँच ब्राह्मण मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया। इसके पश्चात् बुद्ध के द्वारा ध्यान के अभ्यास करने, उत्तरोत्तर ध्यान की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करने, और अन्ततः एक रात्रि को ज्ञान की प्राप्ति का विवरण है। प्रायः इसे ढले-ढलाये रूप में प्रस्तुत किया गया है—रात्रि के प्रथम याम में पूर्व जन्मों का ज्ञान; दूसरे याम में दिव्य दृष्टि की प्राप्ति और संसार के प्राणियों को अपने कर्मों के अनुसार जीते-मरते देखना, और तीसरे (अन्तिम) याम में चार आर्य सत्य या प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान, और साथ ही यह ज्ञान कि उनकी वासनाएँ छिन्न हो गयीं, ब्रह्मचर्य पूरा हुआ, वे विमुक्त हुए, अब पुनर्जन्म नहीं होगा, इत्यादि।

प्राचीन सन्दर्भों में भी इस प्रकार के संकेत हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध के मन में कुछ समय तक इस बात का संकोच रहा कि वे धर्मोपदेश दें या नहीं और ब्रह्मा को उनसे उपदेश देने की प्रार्थना करनी पड़ी। निश्चय ही विवरण में यह काल्पनिक तत्त्व है, पर उनके मनोभावों की संतोषजनक व्याख्या करना भी

१. अपने विकसित रूप में इस कथा के निम्नलिखित तत्त्व हैं। ज्योतिषियों द्वारा गौतम बुद्ध के सन्यासी होने की भविष्यवाणी; उनके पिता द्वारा उन्हें हर प्रकार के सुख वैभव से घिरे रखना जिससे उनके मन में वैराग्य न उत्पन्न हो; देवताओं के मन में इस विषय पर चिन्ता; और एक अवसर पर महल से बाहर निकलने पर देवताओं के प्रयास से ही प्रस्तुत चार दृश्य-रोगी, वृद्ध, मृतव्यक्ति और सन्यासी देखने पर उनके मन में वैराग्य की उत्पत्ति।

२. थॉमस्, दि लाइफ् ऑफ् बुद्ध, पृ० ५१-५२; पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४५।

३. देखिए, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०३ और आगे।

कठिन लगता है। हो सकता है कि उत्तरकालीन जीवनी में ललितविस्तर की यह व्याख्या ही उचित हो कि बुद्ध के मन में वास्तव में कोई संशय नहीं था, परन्तु चूँकि बुद्ध विना याचना के उपदेश नहीं देते, कथा में इस प्रकार का सन्दर्भ आवश्यक था।^१ मज्झिमनिकाय के सूत्रों की सूचनानुसार प्रथम धर्मोपदेश के लिए प्रारम्भ में बुद्ध ने अपने पूर्व आचार्यों-आलार कालाम और उदक रामपुत्र-के विषय में ही सोचा, परन्तु यह ज्ञात होने पर कि उनका हाल में ही देहान्त हो चुका है, उन्होंने ज्ञान की खोज में अपने साथ रहने वाले पाँच तपस्वी ब्राह्मण मित्रों को उपदेश देने का निश्चय किया। इसके लिए बुद्ध ने उरुवेला से वाराणसी के समीप इसिपत्तन मिगदाय (आधुनिक सारनाथ) की यात्रा की। पञ्चवर्गीय भिक्षुओं से गौतम बुद्ध की इस प्रथम भेंट का यह मार्मिक विवरण प्राप्त होता है कि किस प्रकार दूर से ही गौतम बुद्ध को देखकर इन ब्राह्मणों ने पहले उनकी अगुवानी न करने का निश्चय किया, पर-जैसे-जैसे बुद्ध समीप आते गये, वैसे-वैसे उनका निश्चय शिथिल होता गया और उन्होंने बुद्ध का आवश्यक आदर-सत्कार किया। यह भी महत्वपूर्ण है कि बुद्ध ने अपना उपदेश उन्हें तब तक नहीं दिया, जब तक उन ब्राह्मणा मित्रों ने उनका बुद्धत्व पद स्वीकार नहीं किया।^२ बुद्ध का यह प्रथम उपदेश बौद्ध परम्परा में धर्मचक्रप्रवर्तन के रूप में प्रसिद्ध है और इसका विवरण धम्मचक्रप्रवर्तनसुत्त के रूप में संयुत्तनिकाय और महावग्ग में सुरक्षित है।^३ आधुनिक उपलब्ध रूप में तो इस सुत्त में चार आर्य सत्यों का विस्तार से उपदेश है, पर जैसी कि विद्वानों ने शंका की है, इस उपदेश में भी प्राचीन और अर्वाचीन दोनों स्तर हैं।^४ जो भी हो, उपदेश का प्रारम्भ तो निश्चय ही पुराना लगता है। मध्यम मार्ग के उपदेश और सुखभोग तथा काय-क्लेश दोनों ही अतियों की वर्जना से यह सुत्त प्रारम्भ होता है, जो उनके प्राचीन तपस्वी मित्रों के लिए उपयुक्त प्रथम उपदेश लगता है।

१. ललितविस्तर के संदर्भ के लिए देखिए, पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ५४।

२. पासरासि या (अरियपरियेसन) सुत्त, मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १०९।

३. धम्मचक्रप्रवर्तनसुत्त, ५४/२/१; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ८०७। विनयपिटक, महावग्ग, हिन्दी अनुवाद, पृ० ७९-८०।

४. देखिए, पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० २२४ और ३८५।

धर्मचक्रप्रवर्तन के बाद अपने जीवन के शेष वर्ष गौतम बुद्ध ने स्थान-स्थान पर धर्मोपदेश देने और लोगों को सद्धर्म में भिक्षु-भिक्षुणी या उपासक-उपासिका के रूप में दीक्षित करने में बिताया। महावग्ग में दिये हुए विवरणों यथा— उन्होंने वाराणसी के श्रेष्ठ परिवार के अनेक लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया; पुनः उरुवेला की यात्रा की; मार्ग में तीस भद्रवर्गीय युवकों को बौद्ध बनाया; उरुवेला में अग्निपूजक काश्यप बन्धु और उनकी बड़ी जमात बुद्ध की अनुयायी बनी; बाद में राजगृह में बिम्बिसार से उनकी भेंट हुई इत्यादि, के ऐतिहासिक होने की पूरी सम्भावना है। सुत्तपिटक के सुत्तों से प्राप्त सूचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने सबसे अधिक उपदेश श्रावस्ती में दिये और उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु में।^१ कभी-कभी उनके द्वारा ग्रामश्रेष्ठों में भी जाने के उल्लेख है, परन्तु प्रायः नगरों-महानगरों में ही उनका उपदेश हुआ। सूत्रों की सामग्री से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी जगह बुद्ध को आदर मिला और समाज के सभी वर्गों के लोग उनसे प्रभावित हुए। इनमें राजपरिवार के भी लोग थे, जैसे मगधराज बिम्बिसार और अजातशत्रु, कोसलराज प्रसेनजित और उनके परिवार के सदस्य, अनेक शाक्य और अन्य गणराज्यों के सदस्य, अनाथपिण्डिक के समान कई महत्वपूर्ण सेठ, महाशाल विद्वान् ब्राह्मण, समाज के अन्य वर्ग के व्यक्ति—जैसे वैशाली की गणिका अम्बपाली, राजगृह का प्रसिद्ध वैद्य जीवक, और कभी-कभी समाज के अत्यन्त निम्न स्तरों के व्यक्ति। कई स्थलों पर झुंडमें लोगों के सद्धर्म में प्रवेश के उल्लेख प्राप्त होते हैं। निश्चय ही यह सब इसका संकेत है कि अपने जीवनकाल में ही बुद्ध को अमूल्यपूर्ण सफलता प्राप्त हुई होगी।

महापरिनिब्बानसुत्त बुद्ध के अन्तिम दिनों की सूचना देता है। इसमें उनके राजगृह से प्रारम्भ कर वैशाली, भोगनगर, पावा आदि होते हुए कुसिनारा पहुँचने का विवरण है। इस सुत्त में बुद्ध के मुख से ही कहलवाया गया है कि उनकी आयु अस्सी वर्ष की थी, और उनका शरीर जर्जर गाड़ी के समान ढीला हो गया था। मार्ग में ही उनके रुग्ण होने की चर्चा है, और अन्त में कुसिनारा में उनके देहान्त या परिनिर्वाण, मल्लों द्वारा उनके शरीर की दाहक्रिया, उनके विभिन्न प्रशसकों में उनकी अस्थियों के विभाजन आदि के विस्तार से उल्लेख है।

निकाय-सूत्रों में उनके व्यक्तित्व का अत्यन्त प्रभावशाली चित्र उभरता है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता ही माननी चाहिए कि प्रायः सभी स्थानों पर सभी वर्गों द्वारा उनको आदर मिला और उनके विरोधियों ने भी उनका सम्मान

१. वुडनर्ड महोदय ने गणना की है कि प्रथम चार निकायों के सभी सुत्तों में कम से कम आठ सौ एकहत्तर सुत्तों का उपदेश बुद्ध द्वारा श्रावस्ती में हुआ था। देखिए, किण्ड्रेड सेइंग्स, जिल्द ५, पृ० १८वाँ, भूमिका।

किया। वे बोलचाल की भाषा में उपमाओं और कथाओं के सहारे विस्तार से अपने शिष्यों को अपनी बात समझाते थे। पर जहाँ विभिन्न लोगों द्वारा उनसे वादविवाद करने और अन्त में उनके द्वारा बुद्ध के शिष्य हो जाने के भी सन्दर्भ हैं, वहाँ भी यह नहीं लगता कि बुद्ध युक्ति या तर्क से अपने विरोधियों को पराजित कर रहे हों। बुद्ध के वक्तव्यों में सदा एक ज्ञानी संत की गरिमा है और प्रायः इसका संकेत है कि वे जो कुछ कह रहे हैं, उसका उन्होंने स्वयं साक्षात्कार किया है। परन्तु बुद्ध दुराग्रही नहीं ज्ञात होते। वे अपने उपदेशों में प्रायः लोगों से कहते थे कि आप स्वयं अपने अनुभवों से इसकी सत्यता की परीक्षा करें। व्यक्तिगत रूप से उनको शांतिप्रिय और ध्यानशील कहा गया है और स्थान-स्थान पर उनकी करुणा और दया के संकेत हैं।

गौतम बुद्ध के उपदेश

गौतम बुद्ध के मूल उपदेशों को लेकर आधुनिक विद्वानों में बड़ा वाद-विवाद रहा है। इसके प्रधान कारण थे—तथाकथित बुद्धवचन के रूप में प्राप्त त्रिपिटक में बुद्ध के उपदेशों के साथ-साथ उत्तरकालीन सामग्री का भी मिश्रित होना और बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म का अनेक सम्प्रदायों में विभाजित होना तथा सबका अपने-अपने ढंग से गौतम बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या करना। आधुनिक विद्वानों ने इस समस्या का समाधान मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोणों से करने की चेष्टा की है—सम्प्रदायों द्वारा समान रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों को गौतम बुद्ध का मूल उपदेश मानना,^१ बुद्ध के युग की विचारधाराओं का अध्ययन कर स्वयं उनके मूल मन्तव्य का आकलन करना,^२ और त्रिपिटक का प्राचीन-अर्वाचीन के रूप में स्तरीकरण करके प्राचीन स्थलों के आधार पर मूल उपदेशों को जानने की चेष्टा करना।^३ अपने-अपने दृष्टिकोणों से तीनों ही पक्ष सराहनीय

१. प्रायः सबसे प्रचलित पद्धति यही रही है, और प्राचीन विद्वानों ने प्रायः इसी पद्धति का प्रयोग किया है।

२. इस दृष्टिकोण के लिए देखिए, वार्डर, ए० के०, ऑन् दि रिलेशन्शिप् बिट्विन् अर्ली बुद्धिज्म् ऐण्ड अदर कन्टेम्पोरेरी सिस्टम्स्, बुलेटिन् ऑफ् दि स्कूल ऑफ् ओरियण्टल् ऐण्ड अफ्रीकन् स्टडीज्, खण्ड १८, जिल्द, १, पृ० ४३ और आगे।

३. आधुनिक युग में इस पद्धति की सबसे अधिक हिमायती श्रीमती रीज्डेविड्स रही हैं। परन्तु स्तरीकरण, विशेषकर निकायों के स्तरीकरण, का कार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय महोदय ने अपनी 'पुस्तक स्टडीज् इन् दि ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म्' में बहुत आगे बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रशंसनीय रूप में किया है।

हैं, परन्तु समस्या के पूर्ण समाधान के लिए तीनों ही पद्धतियों के सम्मिलित उपयोग की आवश्यकता है। अतः अब भी गौतम बुद्ध के मूल उपदेशों के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय से कहना तो सम्भव नहीं है, फिर भी उपर्युक्त प्रयासों के फल-स्वरूप उनके उपदेशों के मुख्य-मुख्य अंग प्रायः स्पष्ट माने जा सकते हैं। यहाँ पर संक्षेप में बुद्ध के उपदेशों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रायः आधुनिक विद्वान् चार आर्यसत्त्यों के रूप में बुद्ध के उपदेशों को संक्षेप में उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस योजना को मौलिकता पर कभी-कभी सन्देह व्यक्त किया गया है,^१ इसके पक्ष में कई सुन्दर तर्क हैं। सम्पूर्ण बौद्ध परम्परा इन्हें बुद्ध के उपदेशों के सार के रूप में ग्रहण करती है।^२ इसी के प्रारम्भिक प्रतीक के रूप में इस प्रकार के प्राचीन उदाहरणों को ग्रहण किया जा सकता है, जैसे सम्बोधि के वर्णनों में तृतीय याम में चार आर्य सत्त्यों की ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख करना,^३ धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र के विस्तार में इन आर्य सत्त्यों को स्थान देना अथवा धम्मपद की वे गाथायें, जिनमें चार आर्य सत्त्यों को सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कहा गया है और संक्षिप्त सूत्र रूप में उनका विवरण भी प्रस्तुत कर दिया गया है।^४ चार आर्यसत्त्यों अर्थात् दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधगामिनी प्रतिपदा या मार्ग में प्रत्येक की प्रायः ढली-ढलाई परिभाषा मिलती है। उदाहरण के लिए धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र में जन्म, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, सभी दुःख हैं। संक्षेप में “आसवित के पाँचों स्कन्ध दुःख हैं।” द्वितीय सत्य में तृष्णा से दुःख की उत्पत्ति कही गयी है। तृतीय सत्य के अन्तर्गत तृष्णा की समूल समाप्ति से दुःख से विमुक्ति का उपदेश है और चौथा सत्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में आध्यात्मिक साधना का विधान प्रस्तुत करता है, जिसके अभ्यास से दुःख-निरोध की प्राप्ति होती है।

स्पष्ट ही दुःख की व्यापकता की स्वीकृति से गौतम बुद्ध का धर्म प्रारम्भ होता है। बुद्ध सांसारिक जीवन में सुख की स्थिति से इनकार नहीं करते थे। परन्तु उनका मन्तव्य यह था कि यह सुख भी अस्थायी होता है और अनुपस्थित होने पर दुःख का कारण बनता है। इस प्रकार वे दुःख को अत्यन्त व्यापक रूप

१. श्रीमती रीज्डेविड्स द्वारा आर्यसत्त्यों की मौलिकता पर विचार हेतु देखिए, ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३९७-३९८।
२. थॉमस, हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिष्ट थॉट, पृ० ४२।
३. बोधिराजकुमार सुत्त, २/४/५, पृ० ३५३ (म० नि०, सारनाथ हिन्दी अनुवाद)
४. धम्मपद, बुद्धवग्गो, गाथा सं० १९०-१९१; मग्गवग्गो, गाथा संख्या २६३।

में ग्रहण करते थे। जैसा कि पहले आर्य सत्य की रूढ़ परिभाषा में भी निहित है, दैनिक अनुभवों में प्रायः दुःख की गणना तो वे इस सत्य के अन्तर्गत करते ही थे, बल्कि उसे ही व्यापक दार्शनिक रूप में देखकर सम्पूर्ण सांसारिक जीवन को दुःख-पूर्ण मानते थे। पाँचों उपादान स्कन्ध दुःख हैं, यह कहने का यही तात्पर्य था।^१

द्वितीय सत्य की पृष्ठभूमि में बुद्ध का यह महत्वपूर्ण तर्क है कि दुःख अकारण और आकस्मिक नहीं, बल्कि सकारण है और निश्चित हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न है। इसी का दार्शनिक रूप बुद्ध का प्रसिद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त है।^२ दूसरे सत्य के रूप में तो संक्षेप में तृष्णा को दुःख का कारण कहा गया है। परन्तु बुद्ध के उपदेशों में अनेक स्थलों पर दुःख के कारणों का संदर्भ आता है, और वहाँ पर तृष्णा से ही मिलते-जुलते अर्थवाले अन्य अनेक शब्दों का भी प्रयोग है, जैसे कर्म, अहंकार, छंद, उपाधि, दृष्टि इत्यादि।^३ प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि अनेक प्राचीन संदर्भों से कर्मसिद्धान्तों में बुद्ध का विश्वास स्पष्ट होता है, और इसके द्वारा ही संसार के दुःख-मुख और विषमताओं की व्याख्या है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि कर्म ही प्राणियों को ऊँच-नीच में विभाजित करता है, वही उनका अपना है, उसी से उनकी उत्पत्ति होती है, वही उनका दायाद, बंधु या शरण है।^४ यह ध्यान में रखने के योग्य है कि बुद्ध जैनियों की तरह कर्म को भौतिक तत्त्व नहीं मानते थे, बल्कि मूलतः संक्षेप मानसिक संकल्प के रूप में ग्रहण करते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण चिन्तन से उनका यह भेद था कि वे कर्म को किसी अजर-अमर आत्मा का व्यापार नहीं समझते थे। संयुत्तनिकाय में इस प्रकार का साफ वक्तव्य है कि कर्म किसी आत्मा द्वारा किया हुआ नहीं, अथवा, यह शरीर न तो तुम्हारा है, न दूसरे का, यह केवल पुराना कर्म है, इत्यादि।^५

१. पाँच उपादान स्कन्ध हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार।

२. निकाय सूत्रों से प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त का सामान्य रूप जानने के लिए देखिए, पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ८०। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के विभिन्न सन्दर्भों के लिए देखिए, ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ४१६, पदसंकेत ८७।

३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ६२-८५।

४. 'किम्मस्सकौमिह, कम्मदायादो, कम्मयोनि, कम्मबन्धु, कम्मपटिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामीति अभिण्हं पच्चवेक्खितब्बं गहट्ठेन वा षब्बजितेन वा।' अंगुत्तरनिकाय, पालि, नालंदा प्रकाशन, पञ्चनिपात, द्वितीय पण्णासक, प्रथम वर्ग, सातवाँ सूत्र।

५. स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ४३१;

"अनन्तकतानि कम्मानी", संयुत्तनिकाय, पाटोसो, जिल्द २, पृ० ६४-६५

कर्म की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी संयुत्तनिकाय के ही एक अन्य प्रसिद्ध सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि तृष्णा को कर्म का मूल माना जाता था, और तृष्णा के दो प्रधान आश्रय कल्पित थे, अज्ञान और सुख की अनुभूति। कहा गया है कि: "अविद्या से घिरे हुए और तृष्णा से बँधे हुए, एक जन्म से दूसरे जन्म को दौड़ते हुए जीवों की पूर्ण अवस्था का पता नहीं लगता।"^१ जैसा कि प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप से ही स्पष्ट है, प्रारम्भ से ही बुद्ध के चिन्तन में दुःख के कारणों को स्पष्टता से जानने, उनकी भली-भाँति मीमांसा करने और उनसे मुक्त होने की चेष्टा थी। अतः इस प्रकार के प्रश्न भी स्वाभाविक थे कि तृष्णा का क्या कारण है, उस कारण का क्या कारण है, इत्यादि। इसी चिन्तन के उदाहरणस्वरूप बुद्ध के उपदेशों में प्राप्त कार्य-कारणों की छोटी-छोटी सूचियाँ हैं, जिन्हें कालान्तर में जोड़कर बारह निदानों की कल्पना का विकास हुआ होगा। इस विकसित रूप में सम्पूर्ण सांसारिक जीवन को अविद्या से लेकर जरामरण तक बारह कारणों की शृंखला के रूप में प्रस्तुत किया गया।^२ संक्षेप में यहाँ कहा जा सकता है कि बुद्ध के मन्तव्य में जहाँ तृष्णा को दुःख का तात्कालिक कारण कहा जा सकता है, वहाँ मूलतः अपने और अपने अनुभव की वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही हमारे दुःख का कारण है।

तृतीय सत्य अर्थात् दुःख-निरोध का दूसरा पर्याय निर्वाण है। इस शब्द को लेकर भी आधुनिक विद्वानों में यथेष्ट विवाद रहा है। शब्दार्थ से तथा कई स्थलों पर आग बुझने की उपमा से इसे समझाने के कारण इस शब्द से अभाव की अवस्था का आभास होता है। पर अनेक स्थलों पर इसका विवरण बड़ा भावात्मक है। निर्वाण को नित्य, सत्य, ध्रुव, शान्त, सुख, अमृतपद, परमार्थ इत्यादि कहा गया है।^३ स्पष्ट ही दुःख-निरोध या निर्वाण के रूप में बुद्ध यह उपदेश नहीं दे रहे थे कि आध्यात्मिक साधना की समाप्ति पूर्ण विनाश के रूप में होती है; बल्कि वे उच्छेदवाद के विरोधी थे। वास्तव में उनके मन्तव्य में निर्वाण एक अनिर्वचनीय

तथा नायं कायो तुम्हाकं न पि अज्जेसं पुराणमिदं कम्मं.....।

संयुत्तनिकाय, पाटोसो० जिल्द ३, पृ० १०३-४।

१. अनमतः गायं भिक्खवे संसारो पुब्बाकोटि न पञ्चायति अविज्जा नीवरणानं सत्तानं तण्हासंयोजनानं सन्धावतं संसरतं। संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १७८-१९३।

२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ८५-८८।

३. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ९३ और आगे, में सभी महत्वपूर्ण सन्दर्भ एकत्रित किये गये हैं।

अवस्था है और इसीलिए उन्होंने इसे अप्रमाण, अचिन्त्य इत्यादि कहा है। कुछ प्रसिद्ध सन्दर्भों में निर्वाण के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में बुद्ध के चुप रह जाने का भी यही गम्भीर अर्थ है।^१ आगे बुद्धने की उपमा के सम्बन्ध में भी यह ध्यान रखने योग्य है कि बुद्ध के युग में प्रचलित धारणा के अनुसार बुद्धने या शान्त होने पर अग्नि नष्ट नहीं होती है, बल्कि अपने मूल में विलीन हो जाती है।

कुछ आधुनिक विद्वानों द्वारा निर्वाण का अभाव या विनाश की अवस्था समझने का आग्रह इस कारण भी था कि बुद्ध प्रायः कहते थे कि सांसारिक जीवन अनित्य है, अस्थिर है, आत्मा नाम की कोई शाश्वत सत्ता नहीं होती, इत्यादि। परन्तु बुद्ध के आत्मा के निषेध का गम्भीर अर्थ समझना चाहिए। जैसा कि आगे अन्य मतों के उल्लेख से स्पष्ट होगा, उनके युग में जीव और आत्मा को अनेक और संकीर्ण अर्थों में ग्रहण करने का प्रचलन था। बुद्ध ने इस प्रकार के विश्वास को सभी राग-द्वेष का मूल मानकर इसका खण्डन किया। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने कोई चिरन्तन सत्य स्वीकार ही नहीं किया। बुद्ध की निर्वाण की कल्पना इसी प्रकार के सत्य के स्वरूप का संकेत करती है।

चतुर्थ सत्य मार्ग सत्य था। अपनी रूढ़ परिभाषा में यह “अष्टांगिक मार्ग” के रूप में वर्णित है। ये मार्ग इस प्रकार हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। स्पष्ट ही यह मार्ग का किंचित् विस्तृत रूप है। सम्भवतः अधिक प्राचीन और मौलिक विभाजन, जिसका अनेक प्राचीन स्थलों से संकेत होता है, शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में था।^२ प्रज्ञा के द्वारा ही अविद्या की समाप्ति और दुःख से विमुक्ति सम्भव थी और समाधि या ध्यान के ही अभ्यास से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, तथा शील या बाह्य आचरण की शुद्धता से ध्यान की उच्च अवस्थाओं की प्राप्ति सम्भव होती है। दीघनिकाय के सूत्रों में शीलों की

१. वहीं, पृ० ९९ और आगे; मूति, टी० आर० ह्वी०, दि सेन्ट्रल् फिलॉसॉफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३६ और आगे।

२. देखिए, स्टडीज् इन् दि ओरिजिन्स् ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ५१४, पदसंकेत १४, जहाँ दीघ, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय के अनेक संदर्भ एकत्रित किए गये हैं। दीघनिकाय के सामञ्जस्यफलसुत्त में भी भिक्षु की आध्यात्मिक साधना इसी प्रकार की मार्ग की कल्पना पर आधारित है। इसके अतिरिक्त देखिए, थॉमस्, हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिष्ट, थॉट, पृ० ४४ पदसंकेत १।

लम्बी सूचियां प्राप्त होती हैं।^१ विशिष्ट प्रयोजन से शीलों की छोटी-बड़ी सूचियां भी बनायी गयी थीं, जैसे उपासकों के पाँच वा आठ शील,^२ संघ में नये प्रविष्ट हुए व्यक्ति के दशशील या दस शिक्षापद,^३ इत्यादि। शील प्रायः वे ही हैं, जो “अष्टांगिक मार्ग” में सम्यक् वाक् से लेकर सम्यक् आजीव तक उल्लिखित हैं। प्रारम्भ में समाधि और ध्यान का स्वरूप उसी प्रकार का समझना चाहिए, जिसका विवरण स्वयं बुद्ध की सम्बोधि के वर्णनों में मिलता है; अर्थात् प्रारम्भ में विचार विर्तक, प्रीति और सुख की उपस्थिति और उत्तरोत्तर ऊँची अवस्थाओं में इनकी पूर्ण शांति और स्वतः ज्ञान का उदय।^४ पर इसके विभिन्न प्रारम्भिक और सहकारी मानसिक अभ्यास भी थे, जिन्हें अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् व्यायाम और सम्यक् स्मृति के रूप में व्यक्त किया गया है।^५ वास्तविकता तो यह है कि बुद्ध के उपदेशों में, भिन्न-भिन्न स्थलों में, मार्ग का भी उपदेश किञ्चित् भिन्न-भिन्न शब्दावली में है। बौद्ध परम्परा में इन अलग-अलग निर्देशों को एकत्रित करके बुद्ध के उपदेशों के सारांश के रूप में प्रस्तुत करने की भी प्रथा थी। इसी रूप में महापरिनिर्वाण-सूत्र में कहा गया है कि सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों के विषय में बुद्ध के शिष्यों में कोई विवाद नहीं है। इनमें अन्त में अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख तो है ही, साथ ही उसके पहले चार-चार, पाँच-पाँच या सात-सात अंगों वाली मार्गों की सूचियां भी जोड़ दी गयी हैं।^६

संक्षेप में बुद्ध के मार्ग में बाह्य आचरण की शुद्धि और मानसिक अभ्यास दोनों पर बल था। आचरण शुद्धि को अत्यन्त आवश्यक माना गया है, परन्तु मानसिक अभ्यास या ध्यान को किञ्चित् ऊँची कोटि में रखा गया है, क्योंकि इसी से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है। इसी प्रकार, बार-बार आत्मनिर्भरता और सत्य के स्वयं साक्षात्कार पर बल दिया गया है।

१. उदाहरण के लिए देखिए, दीघनिकाय का ब्रह्मजालसुत्त।
२. उदाहरण के लिए देखिए, सुत्तनिपात का वम्मिकसुत्त।
३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० १४२।
४. उदाहरण के लिए देखिए, मज्झिमनिकाय का बोधिराजकुमारसुत्त।
५. बुद्ध के उपदेशों में स्मृति के अभ्यास का बार-बार महत्त्व बताया गया है, और मार्ग की अनेक सूचियों में इसका परिगणन है। दीघनिकाय के महासत्तिपट्टानसुत्त में इसे एकायनमार्ग कहा गया है।
६. सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों की चर्चा एकाधिक सूत्रों में है। संयुत्तनिकाय के एक उदाहरण के लिए देखिए, बुद्धचर्या, पृ० ९८।

गौतम बुद्ध की साधना में प्रारम्भ से ही उपासकों और भिक्षुओं के आदर्श में भेद किया गया था। **सुत्तपिटक** में बुद्ध के चारिका के विभिन्न वर्णनों में लोगों के भिक्षु बनने के साथ अनेकों के उपासक-उपासिका बनने की भी चर्चा मिलती है। सम्भवतः बुद्ध का उपदेश प्रधान रूप से ऐसे ही व्यक्तियों के लिए था, जो उनके समान ही गृहस्थ जीवन का त्याग कर सकें। हो सकता है, इसीलिए **सुत्तपिटक** में उपासकों की साधना सम्बन्धी उपदेश अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।^१ पर कुछ महत्वपूर्ण स्थलों की ओर निर्देश किया जा सकता है, जैसे—**दीघनिकाय** का **सिगालोवादसुत्त** और **सुत्तनिपात** का **धम्मिकसुत्त**, जिनमें आदर्श उपासक जीवन का चित्रण है। इनमें उपासकों के लिए बुद्ध धर्म और संघ की औपचारिक शरण लेने के अतिरिक्त सामान्य रूप से पञ्चशीलों का और विशेष अवसरों पर आठ शीलों के पालन, तथा भिक्षुओं और संघ की विभिन्न रूपों में सहायता इत्यादि का विधान था।^२ प्रायः इनके लिए दान कथा, शील कथा और स्वर्ग कथा के उपदेश की चर्चा है, और निर्वाण के स्थान पर इनके लिए स्वर्ग का ही आदर्श रखा गया है।

भिक्षु संघ की व्यवस्था और कार्यप्रणाली तथा भिक्षु जीवन के लिए बनाये नियमों का विशेष संग्रह तो **विनयपिटक** में प्राप्त होता है, तथापि **सुत्तपिटक** से भी संघ के विषय में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। **महापरि-निर्वाणसूत्र** के सन्दर्भों से लगता है कि बुद्ध ने अपने समय के अन्य परिव्राजक संगठनों से भिन्न अपने संघ के लिए धर्म और विनय को मूल आधार बनाया, आचार्य को नहीं। साथ ही, यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन गणतंत्रिक व्यवस्था के ही समानान्तर उन्होंने संघ की कार्यप्रणाली निश्चित की। संघ सम्बन्धी सभी सन्दर्भों को दृष्टि में रखकर यह अनुमान होता है कि अपने युग के अन्य परिव्राजक संगठनों की तुलना में बुद्ध का संघ सबसे अधिक सुसंठित था।

निगंठ ज्ञातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र) : महावीर

सुत्तपिटक में वर्धमान महावीर को सर्वत्र ही निगंठ ज्ञातपुत्त कहा गया है।^१ उनके जीवन के सम्बन्ध में उसमें बहुत सी बातें उल्लिखित नहीं प्रतीत होतीं।^२ चूँकि हमें यहाँ अपने को **सुत्तपिटक** तक ही सीमित रखना है, वर्धमान महावीर

१. तुलना कीजिए, **स्टडीज् इन् दि ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म**, पृ० ३९४।

२. दीघनिकाय के सिगालोवादसुत्त में आदर्श गृहस्थ का विधान, अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में, है, जिसमें मिथ्या आचरण से विरक्ति और शीलों के अभ्यास के साथ-साथ पुत्र, पिता, पति, स्वामी, शिष्य या समाज के सामान्य सदस्य के रूप में भी विशिष्ट आदर्श की कल्पना की गयी है।

की जीवन सम्बन्धी जानकारी यहाँ प्रायः नगण्य ही रह जायगी। किन्तु बौद्ध सिद्धान्तों की तुलना में उनके सिद्धान्त क्या थे, इस सम्बन्ध के उल्लेख निकायों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि प्रायः इन सभी उल्लेखों में वर्धमान महावीर का कोई न कोई शिष्य बुद्ध के सामने उपस्थित होते हुए अपने धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दिखाया गया है, और अन्ततः बुद्ध द्वारा उन सिद्धान्तों की अपूर्णता अथवा कमी बताये जाने पर बुद्ध का शिष्य होते हुए प्रदर्शित किया गया है। इन सभी स्थलों में गौतम बुद्ध द्वारा निगंठ आतपुत्त के सिद्धान्तों की कुछ मखौल अथवा उनके प्रति बुद्ध के हीन भाव का प्रदर्शन दिखायी देता है। निकायों के ऐसे सुत्तों में अंगुत्तरनिकाय^१ का लिच्छवि राजकुमार अभय से आनन्द और बुद्ध की सैद्धान्तिक बातचीत सम्बन्धी सुत्त; विशाखा से निगंठों में मनाने जाने वाले उपोसथ व्रत के स्वरूप की चर्चा का उल्लेख; मज्झिमनिकाय^२ का अभयराजकुमारसुत्त, वहीं के उपालिसुत्त,^३ चूलसच्छकसुत्त^४ और महासच्चकसुत्त^५ के प्रमुख रूप से उल्लेख किये जा सकते हैं। अपने समकालीन विभिन्न सम्प्रदायवादियों और उनके सिद्धान्तों का एकत्र उल्लेख दीर्घनिकाय^६ के सामञ्जसलसुत्त में हुआ है, जहाँ निगंठआतपुत्त का क्रम पाँचवाँ है।

वर्धमान महावीर लिच्छवियों की जात्रिक शाखा में उत्पन्न हुए थे। केवल इतना मात्र संकेत निकायों से उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राप्त होता है, जहाँ वे बार-बार आतपुत्त=जात्रिपुत्र कहे गये हैं। किन्तु वहाँ न तो उनकी माता त्रिशला, न उनके प्रारम्भिक नाम वर्धमान और न उनके सगे-सम्बन्धियों का कोई विवरण है। तथापि इस बात के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं कि लिच्छवियों में उनके धर्म का व्यापक प्रचार था और वैशाली नगर उनके धार्मिक जीवन का केन्द्र था। बौद्धों ने आतपुत्त के गोत्र को अग्निवेसन अर्थात् अग्निवैश्यायन कहा

१. महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता भाग १, तीसरा निपात, सुत्त सं० ७४, पृ० २२७; सुत्त सं० ७०, पृ० २१२-२१३।

२. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० २/१/८, पृ० २३६-३७।

३. वहीं, सुत्त सं० २/१/६, पृ० ३२४।

४. वहीं, सुत्त सं० १/४/५, पृ० १४०।

५. वहीं, सुत्त सं० १/४/६, पृ० १४६।

६. सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १९-२२; सं० नि०, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, दहरसुत्त। पृ० ६७ में भी जैन सिद्धान्तों की चर्चा आती है।

है जो हरमन्^१ जैकोबी के मत में स्पष्टतः गलत है। उस प्रसिद्ध जर्मनी विद्वान् के मतानुसार वे काश्यपगोत्री थे।

सामञ्जसफलसुत्त^२ में जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही चार सिद्धान्तों—(चातुयाम = चातुग्राम) का उल्लेख है, जिन्हें^३ भ्रमवश निगंठ जातपुत्त (महावीर) का सिद्धान्त बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों के प्रचलन की जानकारी पालि निकायों में परिलक्षित है। उनमें पार्श्व के शिष्य केशि और सुधर्मा जैसे व्यक्तियों का उल्लेख आता है।^४ इससे निश्चित है कि पार्श्व मतावलम्बी महावीर के समय वर्तमान थे, और आगे चलकर जैनियों में जो यह विश्वास प्रचलित हुआ कि पार्श्व के सिद्धान्तों में ही कुछ सिद्धान्त जोड़कर महावीर ने जैन धर्म का पूर्ण विकास किया, वह पूर्णतः ऐतिहासिक है।

जातिपुत्र (महावीर) को बौद्ध साहित्य में सर्वत्र निगण्ठ विशेषण दिया गया है। जैकोबी के मत में बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के समय निर्ग्रन्थों का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था, जिसका उल्लेख सामञ्जसफलसुत्त^५ में उस समय के छह सम्प्रदायों में हुआ है। मज्झिमनिकाय^६ में सच्चक को निगण्ठपुत्र कहा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि मूलतः वर्धमान महावीर इस निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के ही थे।

निकायों में निगण्ठ जातपुत्त के जो भी संक्षिप्त उल्लेख आते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कोशल और उसके आसपास के प्रदेशों में उनका उत्तना प्रभाव नहीं था जितना मगध, अंग और लिच्छवियों के क्षेत्र में। वैशाली (कुण्डकग्राम) उनकी जन्मस्थली^७ होने के कारण और लिच्छवियों में उनके अनुयायियों की संख्या अधिक होने के कारण पूर्वोत्तर भारत के ये क्षेत्र उनके

१. जैनसूत्रज्, जिल्द २, भूमिका, पृ० २१।

२. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, भाग १, दहरसुत्त, पृ० ६७।

३. जैनसूत्रज्, जिल्द २, भूमिका, पृ० २१।

४. वही।

५. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१-२२। और दे० सं० नि० का दहरसुत्त।

६. उस समय वैशाली में सच्चक = सत्यक नामक निगण्ठपुत्र रहता था। म० नि०, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सुत्त सं० १/४/५, पृ० १४०।

७. देखिए, जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन् ऐंशियेण्ट् इण्डिया ऐण्ड् डेपिकटेड् इन् जैन कैनन्स्, पृ० २४-२५; लाहा, वि० च०, महावीर, पृ० १९।

प्रभाव-विस्तार के केन्द्र बन गये। वि० च० लाहा महोदय के मत^१ में महावीर ने अपने तैंतीस वर्षावासों में केवल एक वर्षावास श्रावस्ती में बिताया और एक ही वर्षावास पावा में भी। श्रावस्ती का प्रसिद्ध श्रेष्ठि मृगार अथवा मृगधर प्रारम्भ में जैन था, किन्तु बाद में अपनी पुत्रवधू विशाखा के प्रभाव से वह बौद्ध हो गया।^२ नन्दप्रिय और उसकी स्त्री यश्यवनी, सालतिप्रिय और उसकी पत्नी फाल्गुनी श्रावस्ती के अन्य जैनमतावलम्बी^३ थे। ऊपर हम देख चुके हैं कि वैशाली के अभयराजकुमार, सच्चक तथा सीहू सेनापति, नालन्दा के उपालि और असिबन्धकपुत्र निगण्ठजातपुत्र के प्रमुख शिष्यों में थे। किन्तु निकायों के सम्बद्ध स्थल सर्वत्र सर्वदा ही ये दावा करते हैं कि बुद्ध के उपदेशों को सुनने के बाद वे सभी बौद्ध हो गये। किन्तु अन्य धर्मविलम्बियों के ऊपर बुद्ध के इस प्रभाव के कारण उनके द्वारा धर्मपरिवर्तन के ये बौद्ध उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से कितने प्रामाणिक हैं, यह निश्चित रूप से कहना बड़ा कठिन है। कपिलवस्तु में भी महावीर के कुछ शिष्य थे।^४ मल्लों की दूसरी शाखा की राजधानी पावा में भी महावीर के अनुयायियों की एक प्रमुख संख्या के होने का प्रमाण दीधनिकाय^५ के पासादिकसुत्त और संगीतिपरियायसुत्त से प्राप्त होता है। इन स्थलों से यह सूचना मिलती है कि उनकी मृत्यु पावा में हुई थी।^६ उसके बाद उनके संघ में भेद की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, जिसकी सूचना मिलने पर बुद्ध ने स्वयं अपने बौद्ध संघ में भेद को बचाने के लिए अपने शिष्यों को सम्बोधित किया और उसके उपाय किये।

पालि निकायों में निगण्ठ जातपुत्र और उनके सिद्धान्तों के जो उल्लेख आते हैं, उनमें सर्वत्र ही बुद्ध उनकी मखील उड़ाते हुए दिखाये गये हैं। हरमन् जैकोबी के शब्दों में “किसी भी सम्प्रदाय से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपने विरोधियों के सिद्धान्तों की ईमानदारी और सच्चाई से व्याख्या उपस्थित करेगा।

१. देखिए, महावीर, पृ० ३१-३२।

२. वहीं, पृ० ३९; नलिनाक्षदत्त और बाजपेयी कृष्णदत्त, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० ८४।

३. लाहा, वि० च०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८।

४. नलिनाक्षदत्त, अली हिस्ट्री ऑफ़ दि स्प्रेड ऑफ़ बुद्धिज्म, पृ० १४६-१४७।

५. देखिए, हिन्दी अनुवाद, क्रमशः पृ० २५२-२५३; २८१-२८२।

६. किन्तु जैनमत के आधुनिक अनुयायी देवरिया जिले में स्थित पावा अर्थात् पडरौना को महावीर का निर्वाणस्थल न मानकर राजगृह के पास स्थित पावापुरी को उस घटना से जोड़ते हैं।

यह स्वाभाविक है कि वह उन सिद्धान्तों को एक ऐसे रूप में रखे कि उन सबके प्रति आपत्तियाँ अच्छी तरह से उठायी जा सकें। इस सम्बन्ध में जैन बौद्धों से किसी प्रकार अच्छे नहीं थे और उन्होंने भी बौद्धों के सिद्धान्तों का वैसा ही विरूपण किया है। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा बौद्ध धर्म के इस सिद्धान्त का उल्लेख देखने योग्य है कि कोई भी कार्य पाप तब तक नहीं समझा जायगा जब तक उसमें कार्य करने वाले व्यक्ति का मानसिक संकल्प पाप का न हो।^१ अंगुत्तरनिकाय^२ में निगण्ठ जातपुत्र की शिक्षाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि “तपस्या से पुराने कर्मों का नाश हो जाता है और कर्मों को न करने से कर्म का क्षय हो जाता है। कर्म का क्षय होने से दुःख का क्षय; दुःख का क्षय होने से वेदना का क्षय; वेदना का क्षय होने से सारे दुःख को निर्जरा होगी।” यह जैन सिद्धान्तों का एक सही विवेचन प्रतीत होता है, क्योंकि इसी प्रकार का विवरण आगे चठकर प्रसिद्ध जैनग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में भी प्राप्त होता है।^३

उपर्युक्त बौद्ध उद्धरण में निगण्ठजातपुत्र को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और असीम ज्ञान-दर्शन प्राप्त करने वाला कहा गया है। महावग्ग^४ में बौद्धों की अक्रियावाद की तुलना में महावीर के अक्रियावाद का निरूपण प्राप्त होता है और वहाँ कायदुष्चरित वचनदुष्चरित तथा मनःदुष्चरित को अ-क्रिया की संज्ञा दी गयी है। जैनों के क्रियावाद में कायसुचरित अर्थात् अहिंसा, चोरी न करना, व्यभिचार न करना आदि; वाक्सुचरित अर्थात् सच बोलना, चुगली न करना आदि; और मनःसुचरित अर्थात् अलोभ और सम्मक् दृष्टि का उपदेश है। क्रियावाद के सिद्धान्त का मुख्य जोर इस बात पर है कि आत्मा क्रियाशील है और क्रियाओं से स्वयं प्रभावित होता है। दीघनिकाय^५ के सामञ्जफलसुत्त में निगण्ठजातपुत्र के जल के व्यवहार के वारण का त्याग (ताकि जीव न मारे जावें); (सभी पापों का वारण); सभी पापों के वारण से धूतपाप (जसके पाप धुल गये हों) होने की स्थिति में रहता है; सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है, जैसे सिद्धान्तों का उल्लेख है। इनके कारण महावीर को चार संवरों से संवृत अर्थात् आच्छादित या संयत कहा गया है। मज्झिमनिकाय^६ के उपालिसुत्त में इस बात

१. जैनसूत्रज्ञ, जिल्द २, भूमिका, पृ० १८।

२. महाबोधि प्रकाशन, तीसरा निपात, भाग १, पृ० २२७।

३. इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए, जैकोबी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५-१६।

४. देखिए, विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २४१-२४४।

५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१-२२।

६. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २२४ और आगे।

का विवेचन है कि क्या शरीर द्वारा किये गये पाप अधिक बड़े हैं अथवा मन द्वारा ? निगण्ठ ब्रातपुत्त शारीरिक पापों को मानसिक पापों (जैसा कि बुद्ध का विचार था) से अधिक भयावह मानते हुए बताये गये हैं । वहाँ महावीर के शब्दों में कर्म को दण्ड कहा गया है । तदनुसार, तीन प्रकार के दण्ड अर्थात् कर्म होते हैं, मन, वाक् और शरीर के । इन सिद्धान्तों की तुलनीयता जैन ग्रन्थ सूत्रकृतान्त के कुछ सूत्रों से प्राप्त होती है । अंगुत्तरनिकाय^१ में विशाखा से संवाद करते हुए बुद्ध ने जैन अनुयायियों की अहिंसा सिद्धान्त की हँसी उड़ायी है । उनके शब्दों में निर्ग्रन्थ नामक श्रमण अपने भक्तों से यह व्रत लिवाते हैं—“हे पुरुष । तू यहाँ है । पूर्व दिशा में सौ योजन तक जितने प्राणी हैं तू उन्हें दण्ड से मुक्त कर, उत्तर दिशा में सौ योजन तक जितने प्राणी हैं तू उन्हें दण्ड से मुक्त कर । इस प्रकार कुछ प्राणियों के प्रति दया व्यक्त करते हैं । कुछ के प्रति दया नहीं व्यक्त करते हैं ।” इस उद्धरण में जैनों के दिग्विरति सिद्धान्त का विरूपण है । वहीं वे उपोसथ के दिन पर श्रावकों द्वारा लिये जाने वाले अहिंसा व्रत, अपरिग्रह व्रत, अनृतव्रत और अस्तेय व्रत की को मखौल उड़ाते हैं । मूलतः जैन धर्म के इन चार सिद्धान्तों की शिक्षा पार्श्वनाथ ने दी थी । अंगुत्तरनिकाय के इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर (निगण्ठब्रातपुत्त) ने इन्हें यथावत् स्वीकार कर लिया^२ था और इनमें ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त जोड़कर जैनधर्म के प्रमुख पाँच सिद्धान्तों का निरूपण और प्रचार किया ।

महावीर के दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास में मखलिपुत्त गोसाल का भारी प्रभाव दिखाया गया है ।^३ बौद्ध निकायों^४ में अचेलक परिव्राजकों का उल्लेख है, जो वस्त्रों का त्याग करते थे । मखलिपुत्त गोसाल नन्द और किस संकिच्च नामक इन्हीं अचेलकों का उत्तराधिकारी था । बाद के जैन ग्रन्थों में गोसाल और महावीर को साथ-साथ छह वर्षों तक तपस्या करते हुए दिखाया गया है । धम्मपद^५ की

१. कलकत्ता महाबोधि प्रकाशन, जिल्द १, पृ० २१२ ।

२. जगदीश चन्द्र जैन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३; लाहा, वि० च०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४, १७, ४४, ४८ ।

३. जैकोबी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९-३१ ।

४. “जैसे कि यह नन्द वात्स्य, कलश सांक्रत्य, मखलि गोसाल । भो गौतम ! यह अचेलक (नग्न) मुक्त-आचार-साप्ताहिक भी आहार करते हैं । ऐसे इस प्रकार बीच में अन्तर देकर अर्धमासिक आहार को ग्रहण कर विहरते हैं ।” मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, १/४/६, पृ० १४६ ।

५. देखिए, फॉसबॉल का सम्पादन, पृ० ३९८ ।

टीका में बुद्धघोष अचेलकों और निर्ग्रन्थों को अलग-अलग बताते हैं। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए हरमन् जैकोबी ने कहा है कि “आजीवकों के कुछ व्यवहार और विचारों को महावीर के द्वारा ग्रहण कर लिए जाने से हम यह मान सकते हैं कि आजीविकों के प्रति महावीर का यह शुकाव सम्भवतः गोसाल और उसके शिष्यों को अपनी ओर मिला लेने के उद्देश्य से प्रेरित था।”^१

मक्खलिपुत्त गोसाल

दोधनिकाय^२, मज्झिमनिकाय,^३ अंगुत्तर निकाय,^४ संयुत्तनिकाय^५, जातकों^६, और सुत्तनिपात^७ से जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त पाँच अन्य अब्राह्मण परिव्राजक सम्प्रदायों की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। सुत्तनिपात और दोधनिकाय के सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि इन पाँचों सम्प्रदायों के नेताओं को गणिन्, गणाचार्य, तीर्थंकर (सम्प्रदाय प्रवर्तक) और साधुसम्मत अर्थात् जनता में साधु के रूप में आदृत माना जाता था। पूर्वोत्तर भारत में उनके कितने अनुयायी थे, यह कहना बड़ा कठिन है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन सबमें मक्खलिपुत्तगोसाल सर्वाधिक ज्ञात थे और उनके मत का प्रचलन बुद्ध और महावीर के उद्भव के पूर्व से ही चला आ रहा था। उनके नाम से स्पष्ट है कि वे मक्खलि के पुत्र थे। उनके नाम के अन्य रूप भी प्राप्त होते हैं, जैसे मस्करिन् गोसाल^८, गोशालिकपुत्र अथवा गोशालिपुत्र^९। जैन आगम में गोसाल को महावीर का शिष्य बताया गया

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३२।

२. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सामञ्जसफलसुत्त, पृ० १८-२१।

३. मज्झिमनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १९८।

४. अंगुत्तरनिकाय, नालन्दा, पालि प्रकाशन, जिल्द ५, पृष्ठ ३४।

५. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, कोसलसंयुत्त, दहरसुत्त, पृ० ६९; पाटोसो०, जि० १, पृ० ६०।

६. फॉसबॉल, जि० १, पृ० ५०९; जि० ४, पृ० ३९८ और आगे।

७. “ये ते समणब्राह्मण संधिनो गणिनो, गणचारिया, वाता, यस्सीसनो, तिथ्थ्यकरा साधुसम्मता बहुजनस्स सेय्यथीदं—पूरणोकस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजित केसकम्बली, पकुव कच्चायनो, संजयोवेलदिठपुत्तो, निगण्ठो वातपुत्तो—सुत्तनिपात, मूल पाठि ओर हिन्दो अनुवाद, पृ० १३१।

८. देखिए, ए० एल्० बैशम्, हिस्ट्री ऐण्ड दि डॉक्ट्रिनस् ऑफ् आजीविकज्, पृ० ३४, ७८।

९. महावस्त्र. पाटोसो०, जिल्द १, पृ० २५२, २५६; जिल्द ३, पृ० ३८३।

है।^१ किन्तु पीछे वर्धमान महावीर की चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि स्वयं महावीर ने गोसाल के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था, जिसके पीछे उद्देश्य यह था कि गोसाल की जनप्रियता से लाभ उठाकर वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर सकें।^२ किन्तु आगे चलकर इन दोनों में प्रतिस्पर्धाएँ बढ़ने लगीं और एक-दूसरे की शक्ति अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियों के प्रति उनमें मानों एक प्रतिद्वन्द्विता सी प्रारम्भ हो गयी।^३ गोसाल को “चिरपवजितो” अर्थात् बहुत दिनों से प्रवज्या लिए हुए बताया गया है।^४ बड़ा स्पष्ट है कि अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति बहुत अधिक आदर न प्रकट करने वाले जैन और बौद्ध साहित्य में भी गोसाल को एक प्रमुख सम्प्रदायवादी और दार्शनिक के रूप में स्वीकृति दी गयी है। सम्भवतः बौद्ध और जैन धर्मों को, ब्राह्मण धर्म के बाद गोसाल के धर्म से ही सर्वाधिक लोहा लेना पड़ा था। मलालशेखर ने इस कथन^५ की ओर ध्यान दिलाया है कि “मैं किसी भी अन्य ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता, जो मनुष्य मात्र के लिए इतनी हानि का कारण हो, उनके लिए इतना दुःखद हो, तथा मनुष्य और देवों के लिए समान रूप से कष्टकारक हो, जैसा कि मढ़कारी गोसाल।”

गोसाल का जन्म श्रावस्ती के निकट सखण नामक स्थान में हुआ था। और कोसल की राजधानी श्रावस्ती उनके साम्प्रदायिक जीवन और प्रचार का केन्द्र थी। अपनी २४ वर्षीओं में उन्होंने सोलह वर्षियें वहीं बितायीं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि श्रावस्ती में उनके अनुयायियों की संख्या काफी थी।^६ जातकों^७ में इस बात के उल्लेख प्राप्त होते हैं कि गोसाल के श्रावस्ती में रहने वाले अनुयायियों के कुछ अपने निजी आचार थे। संयुत्तनिकाय के दहरसुत्त से यह प्रतीत

१. देखिए, बैशम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४०; जगदीशचन्द्र जैन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०९।

२. देखिए, पीछे पृ० २५९; हरमन् जैकौबी, जैनसूत्रज्ञ, भाग २, भूमिका, पृ० १८।

३. बैशम्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४१-४९, ५४-५५, ६१।

४. दीर्घनिकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ४७ और आगे; जिल्द २, पृ० १५०; जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ५०९।

५. अंगुत्तर निकाय, पाटोसो०, जिल्द १, पृ० ३३; मलालशेखर द्वारा उद्धृत, डिपापाने०, जिल्द २, पृ० ३९८ और आगे।

६. श्री बुद्धिष्टिक् इण्डियन् फिलॉसॉफी, बरुआ, बेनीमाधव, पृ० २९८-३००।

७. फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ३९०, ४९३।

होता है कि कोसलराज प्रसेनजित प्रारम्भ में गोसाल को, हाल ही में ज्ञानप्राप्त बुद्ध की तुलना में, अधिक आदर की दृष्टि से देखता था।^१

गोसाल के सिद्धान्त को नियतिवाद कहा गया है, जिसके अनुसार प्रकृति के प्रत्येक कार्य अथवा स्वरूप का नियंत्रण एक अदृश्य शक्ति से होता है, जिसे नियति^२ कहा जाता है। तदनुसार, मनुष्य किसी भी कार्य के नियंत्रण में स्वयं समर्थ नहीं है, अपितु वह एक अदृष्ट नियति से शासित है। उस नियति के द्वारा ही सभी सत्त्व (जीव), प्राण (जीवन), भूत (पदार्थ) और जीव (अस्तित्व) संचालित होते हैं। इस दर्शन में मनुष्य के पुरुषार्थ से कुछ भी संभव नहीं है (नित्य पुरुषकारे)।^३

पराण कस्सप

दीघनिकाय^४ के सामञ्जस्यसुत्त तथा सुत्तपिटक के अन्य अंशों में पराण कस्सप अथवा पूरण कस्सप भी छह बौद्धेतर सम्प्रदायों में से एक के आचार्य बताये गये हैं। सुत्तनिपात^५ में इन्हें भी संघिन्, गणिन्, गणाचार्य, यशस्वी और साधुसम्मत तीर्थंकरों में गिना गया है। इससे स्पष्ट है कि वे साधारण जनता में काफी लोकप्रिय थे। तथापि पूर्वोत्तर भारत में साधारण जनता पर उनका कितना प्रभाव था अथवा उनके कितने अनुयायी थे, यह बता सकना बड़ा कठिन है। किन्तु कोसलराज प्रसेनजित अन्य सम्प्रदायवादियों की तरह उन्हें भी आदर की दृष्टि से देखता था, जिसके पालि संदर्भ^६ प्राप्त होते हैं। यह प्रतीत होता है कि बुद्ध और उनके धर्म तथा संघ के बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप पूराणकस्सप के प्रभाव में कमी हो गयी।^७

पूराणकस्सप के सिद्धान्त को अक्रियावाद की संज्ञा दी गयी है। तदनुसार न तो अच्छे अथवा बुरे कार्यों का कोई प्रभाव होता है और न पाप अथवा पुण्य जैसी

१. सं० नि०, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ६७।
२. वैशम, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १; मूल संदर्भ के लिए देखिए, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २०।
३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २०।
४. वही, पृ० १९।
५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १३१। और देखिए, म० नि०, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १२५; सं० नि० हि० अनु०, जिल्द १, पृ० ६७।
६. संयुक्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० ६८; मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २०५, ४००, ४२९।
७. देखिए, नलिनाक्षदत्त, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि स्प्रेड ऑफ़ बुद्धिज्म, पृ० १३३-३४।

कोई वस्तु होती है।^१ किन्तु अन्यत्र उन्हें अहेतुकवादी^२ भी कहा गया है, जहाँ उनकी शिक्षाओं की समता मखलिपुत्त गोसाल की शिक्षाओं से दिखायी देती है। सम्भवतः इसी कारण बैशम^३ महोदय ने पूराण कस्सप को आजीविक आचार्यों की श्रेणी में रखा।

पकुध कच्चायन

सामञ्जसफलसुत्त^४ में छह बौद्धेत्तर सम्प्रदायवादियों में पकुध कच्चायन की भी गणना है। गोसाल और पूराण कस्सप के बारे में सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय अथवा संयुत्तनिकाय के दहरसुत्त में जो आदरसूचक विशेषण लगाये गये हैं, वे पकुध कच्चायन के बारे में भी प्रयुक्त प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है कि उनका भी एक आदृत व्यक्तित्व था। उन्हें भी अक्रियावादी कहा गया है। उनका यह भी विश्वास था कि प्रकृति के तत्त्व-पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल-सर्वदा विद्यमान रहते हैं तथा आत्मा और सुख-दुःख का भाव भी सर्वदा बना रहता है। इनमें न तो कोई परिवर्तन होता है और न इनके पीछे कोई प्रज्ञा शक्ति है।^५ उनके मत में मारने अथवा हिंसा करने, सुनने, जानने, ज्ञान, अज्ञान अथवा अच्छी और बुरी जैसी कोई चीज नहीं है।^६ इस प्रकार पकुध कच्चायन के मत में किसी कार्य के लिए कोई उत्तरदायी नहीं होता। बैशम^७ महोदय का यह निष्कर्ष है कि यद्यपि पकुध कच्चायन का अपनी समकालीन जनता पर कोई विशेष साम्प्रदायिक प्रभाव नहीं था, उनकी मूल शिक्षाओं का कुछ न कुछ प्रभाव आजीविक सिद्धान्तों पर अवश्य पड़ा था।

अजितकेसकम्बली

दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों तथा सुत्तनिपात में सर्वत्र अन्य समकालीन गणिन्, संधिन् तीर्थकर, गणाचार्यों और साधुसम्मत आचार्यों की श्रेणी में अजित-

१. देखिए, सामञ्जसफलसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९-२०; पाटेसो०, जि० १, पृ० ५२ और आगे।
२. देखिए, संयुत्तनिकाय, पाटेसो०, जिल्द ३, पृ० ६६-६९; जिल्द ५, पृ० १२६।
३. देखिए, पूर्वनिदिष्ट, पृ० ४०-४५ और आगे।
४. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९ और आगे।
५. देखिए, सामञ्जसफलसुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० २१।
६. देखिए, मलालशेखर, डिपापाने०, जि० १, पृ० ८९-९०।
७. पूर्वनिदिष्ट, पृ० ९०-९३।

केसकम्बली की भी गणना की गयी है।^१ वे उच्छेदवादी थे तथा यज्ञ अथवा दान से किसी लाभ का उन्हें कोई विश्वास नहीं था। उनकी दृष्टि में न तो अच्छे कार्य हैं, न बुरे कार्य, न इहलोक हैं, न परलोक और न पाप हैं, न पुण्य। माता-पिता की सेवा से न तो कोई लाभ है और न तो ब्राह्मणों में किसी प्रकार की पूर्णता। मनुष्य की मृत्यु के बाद यह शरीर पंचतत्त्वों में मिल जाता है। आत्मा के अस्तित्व में अजित केसकम्बली का कोई विश्वास नहीं था। ये चार तत्त्वों से ही जीव को निर्मित मानते थे, और इनके अनुसार मनुष्य मरने पर इन्हीं चार तत्त्वों में मिल जाता है। जीव और आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। मनुष्य की समाप्ति के बाद वे आत्मा की समाप्ति मानते थे। इसीलिए वे उच्छेदवादी कहे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे चार्वाक कहलाने वाले शुद्ध भौतिकवादियों के प्रथम गुरु थे। समाज पर उनका कोई विशेष प्रभाव था, इसका कोई भी प्रमाण सुत्तपिटक से नहीं प्राप्त होता।

सञ्जयवेलट्ठिपुत्त

सञ्जयवेलट्ठिपुत्त संशयवादी थे, जो किसी भी प्रश्न का उत्तर सीधे हाँ या नहीं में नहीं देते थे। बड़ा स्पष्ट है कि उनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। अतः ऐसा प्रतीत नहीं होता कि साधारण समाज पर उनका कोई प्रभाव रहा होगा। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सम्भवतः उनकी मखील उड़ाने के लिए ही बौद्ध साहित्य में उनके सिद्धान्तों को अनिश्चयात्मक रूप में दिखाया गया।^२

अन्तर-सम्प्रदाय सम्बन्ध

पिछे ब्राह्मण और बौद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त जिन छह सम्प्रदायों का उल्लेख सुत्तपिटक के आधार पर किया गया है, उनके आपसी सम्बन्ध क्या थे, इसके विशद विवरण तो वहाँ नहीं मिलते, किन्तु बुद्ध और उनके अनुयायियों का उन विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति क्या दृष्टिकोण था, इसके कुछ संदर्भ निकायों में प्राप्त होते हैं। ऐसा निश्चित प्रतीत होता है कि साधारण जनता अपने धर्म और सम्प्रदाय के रीति-रिवाजों का पालन करते हुए भी अन्य सम्प्रदायवादियों के प्रति कोई भी द्वेषभाव घृणा, अथवा दुराव नहीं रखती थी। वैदिक धर्म का पुजारी

१. देखिए दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, सामञ्जसफलमुत्त, पृ० २२; मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, चूलसारोपममुत्त, पृ० १२५; संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग १, दहरमुत्त, पृ० ६७ और सुत्तनिपात, सारनाथ प्रकाशन पृ० १०४।

२. देखिए, बैशम, ए० एल०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७।

प्रसेनजित^१ मल्लिका जैसी बौद्ध धर्मानुयायी को अपनी रानी के रूप में पूरी बराबरी और आदर का व्यवहार देता था ।^२ यह उदाहरण साधारण समाज में धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी आदर्श और प्रेरणा अवश्य देता रहा होगा । पीछे हम देख चुके^३ हैं कि किस प्रकार सुत्तपिटक के अनेक स्थलों के इन दावों के बानजूद कि बिम्बिसार और प्रसेनजित जैसे शासक बौद्ध धर्म के उपासक हो गये थे, वे अपने प्रारंभ के जीवन की भाँति आगे भी वैदिक धर्म के ही अनुयायी बने रहे । उनकी यह विशेषता थी कि वे सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे । श्रावस्ती में भिक्षा ग्रहण करने लिए एक बार बौद्ध और अन्य धर्मावलम्बी एक ही साथ पहुँच गये और उनमें इस बात पर सहमति नहीं हो पायी कि किन्हे पहले भिक्षा मिले । अन्त में इस प्रश्न का निपटारा वहाँ के निवासियों ने मतदान के द्वारा स्वयं शान्तिपूर्वक कर लिया ।^३

किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि साधारण जनता की इस सहिष्णुतावादी प्रवृत्ति के अनुरूप विभिन्न सम्प्रदायों के नेताओं और आचार्यों में भी पूर्ण सहिष्णुता का भाव वर्तमान था । बौद्धों के प्रति अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि क्या थी, इसका कोई प्रमुख उल्लेख तो सुत्तपिटक में नहीं मिलता, किन्तु अग्गिकभारद्वाज एक बार बुद्ध को मुण्डक अथवा वसलक (वृणल) कहता है ।^४ ब्राह्मण लोग स्वयं बुद्ध को कभी-कभी अप्रसन्न होकर या तो “गौतम” या “समण” (श्रमण) शब्द से

१. दे० भज्जिमनिकाय, चंकि सुत्त और धम्मचेतिय सुत्त; संयुक्त निकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द, १ पृष्ठ ७२; और देखिए, पाठक, वि० हिस्ट्री ऑफ कोशल, पृ० २३० ।
२. वहीं, पृ० २२६-२३० । ऐसा एक अन्य उदाहरण दो साधारण परिवारों के सम्बन्ध में भी मिलता है, जहाँ एक बौद्ध परिवार की कन्या अबौद्ध परिवार में व्याही गयी और दोनों परिवारों ने वर और कन्या के धार्मिक मामलों में कोई भी हस्तक्षेप न करने का वचन दिया । देखिए, हिब्र्डी ऑफ कोशल, पृ० ४३६ । एक अन्य प्रमुख उदाहरण विशाखा का है, जो बौद्ध परिवार की पुत्री थी, अबौद्ध मृगारश्चेष्ठि के पुत्र से व्याही गयी थी, किन्तु बाद में विशाखा के बौद्ध मतावलम्बी होने के कारण वह परिवार भी बौद्ध हो गया । दे० लाहा, वि० च०, महावीर, पृ० ३१-३२ और दत्त एवं बाजपेयी, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० ८४ ।
३. पीछे देखिए, चौथा अध्याय, प्रसेनजित और बिम्बिसार के व्यक्तिगत धर्मों से सम्बद्ध स्थल ।
४. सुसीम जातक सं० १६३ की वर्तमान कथा; डिपापाने०, जि० २, पृ० १२६६ ।

अभिहित करते थे।^१ स्वयं बुद्ध महावीर और मक्खलिपुत्रगोसाल के अनुयायियों को नग्न (अचेलक) कहकर उनके प्रति हेय भावना का परिचय देते हैं।^२ चिंचा और सुन्दरी नामक गणिकाओं के माध्यम से विधर्मियों द्वारा बुद्ध के चरित्र-हनन का प्रयत्न एक अन्य प्रमुख उदाहरण^३ है। स्वयं बुद्ध अपने पूर्व के गुरु उद्रक रामपुत्र को एक स्थल पर धोखेबाज और दम्भी कहते हैं।^४ सबसे प्रमुख उदाहरण तो इस सम्बन्ध में उस सन्दर्भ का है, जो जेतवन के ठीक पास अवौद्धों को विहार बनवाने हेतु प्रसेनजित द्वारा दी गयी भूमि से सम्बद्ध है। वहाँ यह उल्लेख है कि बुद्ध ने बारी-बारी से अपने सभी प्रमुख शिष्यों-सारिपुत्र मोगलान और आनन्द को राजदरबार में उस प्रस्तावित दान से प्रसेनजित को विरत करने हेतु भेजा।^५ किन्तु उन सभी के असफल होने पर वे स्वयं भी राजदरबार में गये। फलस्वरूप कोसलराज ने विधर्मियों को विहार-निर्माण के लिए उस भूमि को न देकर अन्यत्र भूमि तो दे दी, किन्तु बुद्ध से यह भी कहा कि उनका उस सम्बन्ध में हस्तक्षेप अनुचित था।^६

बड़ा स्पष्ट है कि धर्म, सम्प्रदाय, पूजा और विश्वासों के मामलों में साधारण जनता का सहिष्णु दृष्टिकोण सिद्धान्तवादी और सम्प्रदायवादी नेताओं में परिलक्षित नहीं था। इसका कारण सम्भवतः उनकी आपसी सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्विताएँ थीं।

ब्राह्मण धर्म

सुत्तपिटक में ब्राह्मण धर्म, उसके देवी देवताओं, उसके आचार और नीति और उस धर्म की साधारण स्थिति अथवा उसके विश्वासों, सिद्धान्तों और शिक्षाओं का कोई विशद विवरण नहीं मिलता। वहाँ ब्राह्मण धर्म के केवल उन्हीं पक्षों का उल्लेख है, जिनसे बुद्ध के सिद्धान्तों का अन्तर अथवा विरोध है। तथापि साधारण समाज में प्रचलित रीतिरिवाजों का बुद्ध ने न तो विरोध किया और न वर्ण अथवा जाति की मान्यता को ही नकारा। उन्हें यदि परम्परागत, वेदविहित ब्राह्मणधर्म

१. सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद, पृ० ३१: एन्० दत्ता, अर्ली हिष्ट्री ऑफ् दि स्प्रेड् ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० १३५।
२. दे० वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७२।
३. देखिए, जातक सं० १४४ की वर्तमानकथा; संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ४७८।
४. दे० एन्० दत्त, अर्ली हिष्ट्री ऑफ् दि स्प्रेड् ऑफ् बुद्धिज्म, पृष्ठ १३४।
५. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ४८६।
६. सारत्थपक्कासिनी, पाटेसो०, जि० ३, पृ० २१८।

का विरोधी न कहकर एक सुधारवादी कहा जाय तो अनुचित न होगा। उनका उद्देश्य केवल इतना मात्र था कि धर्म के नाम पर उस समय प्रचलित कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर करके एक कल्याणकारी और आचारमार्गी जीवनपद्धति प्रचारित की जाय। स्वयं बौद्धसंघ के आचार, विनय और भिक्षुसन्बन्धी जीवन के अनेक तत्त्व परम्परागत ब्राह्मण धर्म के तापसमार्गी सिद्धान्तों से बहुत मेल खाते थे। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के केवल उन्हीं सिद्धान्तों अथवा रीतियों का विरोध किया, जो प्रमुखतः हिंसा पर आधारित थीं। इसी कारण पालि निकायों में जिन ब्राह्मण यज्ञों की चर्चा है, वे सभी हिंसा अथवा बलिमात्र से सम्बद्ध दिखाये गये हैं।^१ सुत्तपिटक में न तो पापयज्ञों का उल्लेख है और न पञ्चमहायज्ञों का।

पालि निकायों में ब्राह्मण धर्म के जिस पक्ष का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है, वह है उसका यज्ञ सम्बन्धी पक्ष। इन यज्ञों के कर्त्ता श्रोत्रिय ब्राह्मण थे, जिन्हें सुत्तपिटक में महाशाल की संज्ञा दी गयी है। जिन यज्ञों की चर्चा है, उनमें मुख्य उल्लेख^२ अश्वमेध यज्ञ, सम्मापासयज्ञ, पुरुषमेधयज्ञ और वाजपेय यज्ञ के हैं। बुद्ध इन्हें न तो किसी प्रकार से फलदायी मानते थे और न किसी प्रकार लाभकारक। उनके मत में इसका कारण उनमें होने वाली हिंसा और हत्या थी। हिंसा के अतिरिक्त इन यज्ञों का स्वरूप और इनके सम्पादन की विधि क्या थी, इसकी कोई भी सूचना सुत्तपिटक से नहीं प्राप्त होती। तथापि यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यज्ञों की उपयुक्त गिनती में पुरुषमेधयज्ञ का जो उल्लेख है, उसके अस्तित्व में ही सन्देह व्यक्त किया जा सकता है। सारे बौद्ध साहित्य में नर-बलि का कोई उदाहरण नहीं प्राप्त होता। स्वयं वैदिक साहित्य में जहाँ भी पुरुषमेध का उल्लेख है, आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में वह कोई वास्तविक नर-बलि नहीं, अपितु एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया थी।

१. "ब्राह्मण ! न मैं सभी यज्ञों की प्रशंसा करता हूँ, और न मैं सभी यज्ञों की निन्दा करता हूँ। ब्राह्मण ! जिन यज्ञों में गायों की हत्या होती है, बकरी-भेड़ों की हत्या होती है, मुर्ग-सूअरों की हत्या होती है, तथा अन्य नाना प्रकार के प्राणियों की हत्या होती है, हे ब्राह्मण ! मैं इस प्रकार के हिंसक यज्ञ की प्रशंसा नहीं करता।" अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, जिल्द २, पृ० ४३।

२. अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्यं।

निरांगल्लं महायज्जा महारम्भा न ते होति महापफला। संयुत्तनिकाय, पाटोसो, जि० १, पृ० ७६।

धम्मपद^१ में महीने-महीने हजार-हजार रूपयों के खर्च से किये जाने वाले यज्ञों, सौ वर्षों तक किये जाने वाले अग्निहोत्रों तथा लोकयज्ञों और हवनों का उल्लेख है, किन्तु इनकी व्यर्थता को बताते हुए कहा गया है कि उनसे अधिक श्रेयष्कर अथवा पुण्यकर तो पवित्र मन वाले व्यक्तियों अथवा परिशुद्ध बौद्ध श्रावकों का दर्शन है अथवा उन्हें दी जाने वाली थोड़ी सी भिक्षा है।

इन यज्ञों के सम्पादनकर्त्ता बड़े-बड़े महाशाल ब्राह्मण हुआ करते थे। वे या तो स्वयं अपने लिए अथवा बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं और श्रीमन्तों के लिए इन यज्ञों का सम्पादन करते-कराते थे।^२ इन महायज्ञों में गाय, बैल, बछड़े, बछिया, बकरे, भेड़, सूअर, घोड़े, हाथी और अन्य अनेक प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी। कभी-कभी तो बलि दिये जाने वाले पशुओं की संख्या पाँच सौ, सात सौ अथवा हजारों की होती थी।^३ यज्ञों की पूर्णाहुति के उपलक्ष्य में बड़े-बड़े भोज होते थे और सम्पन्न यज्ञकर्त्ता अनेक प्रकार के अन्न, वस्त्र, सोना, चांदी, दास-दासी और पशु एवं वाहनों का दान यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को देते थे।^४

प्राचीन वैदिक ऋषियों में अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, वशिष्ठ तथा भृगु का उल्लेख सुत्तपिटक में प्राप्त होता है।^५ इन्हें मंत्रकर्त्ता और मंत्रों का पाठ करने वाला बताया गया है। विभिन्न मंत्रों के आधार पर आचार्य परम्पराएँ स्थापित हो गयी थीं, जो एतरेय, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, छन्दव और बृहवच = बृहवृच ब्राह्मण के नाम से ज्ञात होते हैं।^६ डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने इन यज्ञों के सन्दर्भों को मूलवैदिक ग्रन्थों से जोड़ते हुए अघारिया को शुक्लयजुर्वेद से, तित्तिरीया को कृष्णयजुर्वेद से, छन्दोग को सामदेव से और बृहवृच को ऋग्वेद से

१. सहस्रवर्ग, १०६-१०८। अ० नि०, महाबोधि प्रकाशन, हिन्दी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ४३।
२. विभिन्न सन्दर्भों के लिए देखिए, दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० १, पृ० १२७; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० ४२; जि० ४, पृ० ४१-४२, २०७; संयुत्तनिकाय, पाटोसो०, जि० १, पृ० ७६।
३. वही; जि० १, पृ० १४२; जातक, फॉसबॉल, जि० ३, पृ० ४४।
४. सुत्तनिपाट, द्वितीय, ७/२०-२२।
५. अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जि० ४, पृ० ६१; मज्झिमनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० ४००; दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० २३९।
६. तेविज्जसुत्त, १/१३; दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ८७।

‘मिलाया है।’ इससे निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य के ये विषय उस समय के पाठ्यक्रमों में निश्चित थे।

प्रमुख ब्राह्मण देवताओं में ब्रह्मा^२, इन्द्र^३, वेणु (विष्णु) शिव, अग्निदेव^४, सूर्य, चन्द्रमा, श्री (सिरी, सिरिमा = लक्ष्मी), श्रद्धा, आशा, चारों दिशाओं के लोकपाल, यक्ष, नाग, विशेषतः कल्पवृक्ष और वृषभ के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन देवताओं में ब्रह्मा को सर्वोपरि माना गया है, जिन्हें सनतकुमार, प्रजापति अथवा सहंपति की संज्ञायें दी गयी हैं।^५ प्रायः ब्रह्मा को बुद्ध की पूजा करते हुए दिखाया गया है। इन्द्र सबसे लोकप्रिय देवता थे, जिन्हें शक्र, वासव अथवा मधवा जैसे विभिन्न नाम दिए गये हैं।^६ शक्र को प्रायः त्रायत्रिंश स्वर्ग का देवता बताया गया है। इन्द्र को सब कुछ देखने वाला, हजार आँखों का देवता बताया गया^७ है। उन्हें बुद्ध की पूजा करते भी दिखाया गया है। अग्नि देवता की उतनी चर्चा बौद्ध साहित्य में नहीं मिलती। किन्तु सुन्दरिक भारद्वाज जैसे प्रसिद्ध ब्राह्मणों को अग्निपूजक दिखाते हुए यह कहा गया है कि उनके यहाँ यज्ञ की अग्नि हमेशा जलती रहती थी।^८ सूर्य, चन्द्र और पर्जन्य (पञ्जुन) अर्थात् बादल और श्री की चर्चाएँ जातकों^९ के विभिन्न स्थलों में आती हैं। निकायों^{१०} में वैदिक देवता वरुण

१. देखिए, अर्ली बुद्धिष्टिक मोनाशीज्म, पृ० १, पदसंकेत।
२. दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १ पृ० २४४।
३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १६२।
४. वहीं, पाटेसो, पृ० ६७।
५. दीघनिकाय, पाटेसो०, जिल्द १, पृ० २४४; संयुतनिकाय, पाटेसो०, जि० २, पृ० २१९।
६. दि बुक् ऑफ किण्ड्रेड् सेईग्स्, जि० १, पृ० २८५-३०३; धम्मपद, श्लोक ३०; जातक, फॉसबॉल, जि० ६, पृ० १०६, २८९; दे० हालदार, अर्ली बुद्धिष्ट माइथॉलॉजी, पृ० ७० और आगे।
७. दि बुक् ऑफ किण्ड्रेड् सेईग्स्, जि० १, पृ० २९५; सुत्तनिपात, द्वितीय, १२, ३/४।
८. सुत्तनिपात, सुत्त सं० ३/४; दीघनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, सुत्त सं० १/६७।
९. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८८, जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३३३, ४७४; जि० ३, पृष्ठ २६१-६२; जि० ४, पृ० १७; जि० ५, पृ० ३१२; जि० ६, पृ० ३५; थेरीगाथा, ८७; अर्ली बुद्धिष्ट माइथॉलॉजी, जे० आर० हालदार, पृ० ८१।
१०. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ८९; संयुतनिकाय पाटेसो० जि० १, पृ० १२९; जातक, जिल्द ५, पृ० २८; जि० ६, पृ० २०।

का भी उल्लेख है। शक्र, प्रजापति, ईशान, यम और वरुण के साथ सोम देवता का भी उल्लेख है, जिसे आटानाटियसुत्ता में^१ यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। शिव को कभी या तो देवपुत्र कहा गया है या कभी-कभी स्वतंत्र देवता के रूप में उनका उल्लेख हुआ है।^२

देवियों में लक्ष्मी अथवा लक्ष्मी का मुख्य रूप से उल्लेख है, जो सिरि, सिरिमा अथवा श्री के नाम से भी विख्यात थीं। महाउम्मग जातक (सं० ५४६) में जनता का यह साधारण विश्वास परिलक्षित होता है कि लक्ष्मी और सरस्वती का निवास एक स्थान पर नहीं हो सकता अथवा एक व्यक्ति पर समान रूप से उन दोनों की कृपा नहीं हो सकती। मातृशक्ति को चंडी कहा गया है।^३

सुत्तपिटक में यक्ष नामक देवता बड़े ही प्रमुख रूप में उपस्थित किया गया है। किन्तु इसके ठीक-ठीक अर्थ अथवा स्वरूप के बारे में वहाँ एकरूपता नहीं दिखायी देती। विमानवत्थु की अट्ठकथा^४ में कहा गया है कि जिसकी पूजा की जाय या जिसकी बलि दी जाय, वही यक्ष है। कभी तो उसे पूरा देवता माना गया है और कभी केवल देवपुत्र। विभिन्न स्थलों पर यज्ञ को मानवेतर जीवों-प्रेत अथवा भूत, राक्षस अथवा पिशाच से भी मिलाया गया है।^५

सुत्तपिटक से यह भी ज्ञात होता है कि वृक्षों को देवता रूप में मानकर तथा उनमें अप्सरा, नाग अथवा प्रेतात्मा की स्थिति मानकर उनकी पूजा की जाती^६ थी। सुजाता ने बोधिवृक्ष के नीचे बोधिसत्त्व यक्ष को देवता मानकर उनकी पूजा करते हुए उन्हें खीर खिलायी थी।^७
लोकधर्म

साधारण समाज में जो धर्म सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ प्रचलित थीं, उनमें यक्ष-पूजा बड़े प्रमुख रूप में सामने आती है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि वृक्षों अथवा जल में निवास करने वाले ये यक्ष प्रसन्न होने पर मनुष्य की सभी

१. वहीं, पृ० ७७-८०, सुत्त सं० ३/९।

२. संयुक्त निकाय, पाटेषो०, जिल्द १, पृष्ठ ५६; जिल्द ३, पृष्ठ ६२६; दे० हालदार, जे० आर०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७७।

३. हालदार, जे० आर०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०९।

४. दे०, २२४, ३३३।

५. इस सम्बन्ध में देखिए, मलालशेखर, डिपापाने०, यक्ष शब्द।

६. देखिए, जातक, फांसबॉल, जि० १, पृ० २५९, ३२८, ४१२; जि० २, पृ० ८४, ५४०।

७. जातक, हिन्दी अनुवाद, जि० १, पृ० १३९ और आगे।

कामनाओं की पूर्ति करने में सक्षम थे। इसी तरह अप्रसन्न होने पर वे हानि भी पहुँचा सकते थे।^१ यक्षियों को प्रायः अप्सरा का स्वरूप समझा जाता था, जो साधारण मनुष्यों को प्रलोभन देकर आकर्षित करती थीं।^२ धीरे-धीरे कालान्तर में ये ही यक्ष ब्राह्मण और बौद्ध देवताओं के रूप में प्रचलित हो गये और तांत्रिक पद्धतियों को पूरा करने में उनका प्रमुख हाथ और स्थान माना जाने लगा।^३

ऊपर वर्णित विभिन्न देवताओं के नाम पर कई प्रकार के उत्सवों के आयोजन भी किए जाते थे। नाना प्रकार के भूत-प्रेत और पशुओं की तामस पूजाएँ भी समाज में प्रचलित थीं। ऐसे उत्सवों और पूजाओं में लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे होते थे, खाते-पीते और मद्यपान भी करते थे। सम्भवतः बौद्ध सन्दर्भों में उल्लिखित समज्जा अथवा समाज इन्हीं को कहा जाता रहा होगा।^४

बुद्ध के आत्मा के निषेध सम्बन्धी वक्तव्यों को भली-भाँति समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि साधारण लोगों में जीव और आत्मा सम्बन्धी विश्वास पूर्णतः प्रचलित थे। जैसा कि गोविन्द चन्द्र पाण्डेय महोदय^५ ने संकेत किया है, ब्रह्मजालसुत्त, पायासिसुत्त इत्यादि में जीव और आत्मा सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त, जो मिथ्या दृष्टियों की कोटि में रखे गए हैं, इसी प्रकार के लोकप्रचलित विश्वास लगते हैं। उपनिषदों के अनेक सन्दर्भों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जहाँ उपनिषद् साहित्य के प्रतिनिधि मत अर्थात् अनिवर्चनीय, निराकार आत्मा के सिद्धान्त के अतिरिक्त आत्मा का रूप या आकार बताने की चेष्टा है, उसके परिमाण दिए गए हैं अथवा शरीर के अमुक या अमुक अंग में उसका स्थान निश्चित किया गया है।

१. महावंस, ३१-८१।

२. कुमारस्वामी, ए० के०, यक्षज्, जिल्द, २, पृ० ६६-७१।

३. देखिए, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३-२४; ए० के० कुमारस्वामी, यक्षज्, जिल्द १, पृ० ११; आटानाटियसुत्त, दीघनिकाय, पाटोसो० जि० ३, पृ० १९५ और आगे।

४. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, ओरिजिन्स् ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० ३१८-१९; अशोक के शहबाजगढ़ी अभिलेख में एक स्थल है—बहुकं हि दोसं समाजसि दखति देवानंपिये।

५. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २४।

दशम अध्याय

आर्थिक जीवन

बौद्ध साहित्य से पूर्वोत्तर भारत की आर्थिक समृद्धि का एक अच्छा परिचय प्राप्त होता है। विभिन्न नदियों द्वारा लायी हुई मिट्टी से बना हुआ, उत्तर में हिमालय से लेकर आधुनिक उत्तर प्रदेश का मध्य-पूर्वी और दक्षिणी हिस्सा और पूरे बिहार के क्षेत्रों तक फैला हुआ विशाल भूखण्ड वाला यह प्रदेश आर्थिक दृष्टि से बहुत ही समृद्धिशाली था। प्रस्तुत अध्याय में पूर्वोत्तर भारत में प्रचलित जीविका के प्रमुख साधनों, विभिन्न प्रकार के उद्योग-वन्धों, उनसे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं और संबंधित व्यापार और प्रमुख व्यापारिक पथों आदि के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की जायगी। इस चर्चा का स्वरूप संक्षिप्त ही होगा, क्योंकि हम अपने को प्रमुखतः पालिनिकायों के विवरणों तक ही सीमित रखेंगे, यद्यपि समर्थन रूप में बौद्ध साहित्य के अन्य अंगों का सहारा कहीं-कहीं अवश्य लिया जा सकता है।

जीविका के साधन और कुछ प्रमुख उद्योग

जीविकोपार्जन हेतु सर्वप्रमुख साधन कृषि था। कृषि कर्म सभी जाति और वर्ग के लोग कर सकते थे। इसके अतिरिक्त, जीविका के अन्य साधनों में पशुपालन, बागवानी, शिकार के विभिन्न ढंग, गणिकावृत्ति, काष्ठकर्म, बुनकरकर्म, सार्थवाहकर्म, धनुकारकर्म, नलकारकर्म, बागवानी, सपेयों के कार्य, नटकर्म, बाजीगरी और राजकीय सेवा जैसे विभिन्न व्यवसाय प्रमुख थे।

कृषि

सुत्तपिटक कालीन भारतीयों का मुख्य पेशा कृषि था। दीघनिकाय^२ के अनुसार राजा का यह प्रधान कर्तव्य था कि उसके राज्य में जो लोग कृषिकर्म करना चाहें, वह उन्हें बीजभत्ता—बीजभात दे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, खेती करना न तो किसी जाति विशेष तक सीमित था, और न उसमें लिप्त रहने से सामाजिक प्रतिष्ठा पर ही किसी प्रकार की आँच आती थी। ब्राह्मण लोग भी

१. मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १३/४/५।

२. कूटदन्तसुत्त, १/५।

कृषि कर्म में लगे हुए थे।^१ सुत्तपिटक^२ में कसिभारद्वाज इसका सर्वप्रथम उदाहरण दिखायी देता है। वहीं से हमें कृषकों के दैनिक कार्यों का एक अच्छा विवरण भी प्राप्त होता है। किन्तु वहाँ एक बहुत बड़े कृषक की कृषि-पद्धति का उल्लेख है, जो पाँच सौ हलों द्वारा खेतों को जुतवाता और बोवाता है। वहाँ बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों के काम करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे उनके जीवन का निर्वाह होता है।

पालिनिकायों से सभी ग्रामीण आवास-केन्द्रों के पास उपजाऊ खेतों के भूखण्डों के होने के संकेत मिलते हैं। मल्लों के एक ऐसे ही गामखेत में गौतम बुद्ध महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए^३ थे। ये गामखेत गाँवों की मुख्य बस्तियों के बाहर लगाये गये वनों अथवा अरण्यों के और आगे होते थे। अंगुत्तरनिकाय^४ में कृषि करने वाले गृहपतियों को अपने खेतों की रखवाली करते हुए बताया गया है। निश्चय ही, कृषि के सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने पर कृषक सुखी और सम्पन्न रहता होगा। किन्तु प्राकृतिक विपदाओं के कारण जब फसलें नष्ट हो जाती थीं तो वह कर्ज के भार से दब जाता था।^५ दीघनिकाय^६ में आसमान से गिरी हुई बिजली के कारण खेत जोतते समय दो कृषक भाइयों और उनके बैलों के मारे जाने का उल्लेख है। संयुत्तनिकाय^७ में खेतों में बार-बार बीज बोने के उल्लेख मिलते हैं, जो सघन खेती का परिचायक प्रतीत होता है।

कृषि योग्य भूमि

उत्पादकता की दृष्टि से भूमि या मिट्टी को दो वर्गों में बाँटा जा सकता

१. नङ्गलेहि कसं खेतं, बीजानि पवपं छमा, पुत्तदारानि पासेत्वा, धनं विन्दन्ति माणव। थेरीगाथा, ११२।
२. कसिभारद्वाजस्स ब्राह्मणस्स पञ्चसत्तानि नङ्गलसत्तानि पयुत्तानि होन्ति वप्पंकाले। सुत्तनिपात, १/४।
३. भगवा अम्हाकं गामखेत्ते परिनिब्बुतो, न मयं दस्सामभगवतो सरीरानं मागंति। दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, — ३/२६/११; थेरी-गाथा ३४१ से इसकी तुलना की जा सकती है।
४. नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ३/१०/२।
५. संयुत्तनिकाय, पाटोसो, जि० १, पृ० १७०-१७१।
६. पाटोसो, जि० २, पृ० ३/२१/६६।
७. पुनप्पुनं चैव वपन्ति बीजं। संयुत्तनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ७/१२/१२; तुलनीय थेरगाथा ५३१।

है—एक तो उर्वर भूमि और दूसरी ऊँतर भूमि।^१ बौद्ध साहित्य^२ कृषि योग्य भूमि के इन्हीं दो प्रकारों का वर्णन करता है। वहाँ पर उर्वर भूमि को “जात-पथवी”, और दूसरे प्रकार की ऊँतर भूमि को “अजातपथवी” कहा गया है। जातकों में भी उपजाऊ भूमि का वर्णन है। वहाँ पर उसकी तुलना मधुमक्खी के छत्ते से की गयी है। (खुददं धूमं थनलिकं एव मस्सादमं) तथा उसकी मिट्टी को अत्यन्त चिकनी और महीन कहा गया है।^३ भूमि का चयन हो जाने के बाद खेतों का विभाजन किया जाता था। जातकों^४ के अनुसार यह विभाजन खेत में बोयी हुई फसल के आधार पर किया जाता था, यथा—यवखेत = जौ का खेत, सालिखेत = धान का खेत, इच्छुखेत = ईख का खेत और तिणखेत = घास का खेत आदि।

जुताई-बोवाई

बीजारोपण के पूर्व कृषक निम्नलिखित कार्य करता था। प्रथम तो वह खेतों को अच्छी तरह से जोतता था ताकि खेत एकदम बराबर हो जाय और उनकी मिट्टी मुलायम हो जाय। फिर वह उपयुक्त समय आने पर खेतों में बीजारोपण का कार्य करता था।^५ कृषक खेतों की अच्छी जुताई-बोवाई अच्छी फसल प्राप्त होने की आशा से ही करते थे।^६ संयुक्तनिकाय^७ के अनुसार शरदकाल में खेतों की जुताई करने से कृषकों को सभी प्रकार की सम्पदा प्राप्त होती है। स्पष्ट है

१. ऐग्रीकल्चर इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० १-२।
२. सन्दर्भ के लिए देखिए, पाचित्तिय-१०, पृ० ५३।
३. देखिए, जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० १९४, २४०, ३८८; जिल्द ३, पृ० ४०१।
४. देखिए, जातक, जिल्द १, पृ० १९४, २४०, ३८८; जिल्द ३, पृ० ४०१, गाथा १२९; जिल्द ४, पृ० ५०, ३२६।
५. तीणिमानि, भिक्खवे, कस्सकस्स गहपतिस्स अच्छायिकानि करणीयानि। कतमानि तीणि। इधभिक्खवे कस्सको गहपति सीधं-सीधं खेतं सुकट्ठं करोति सुमतिकत्तं। सीधंसीधं खेतं सुकट्ठं करित्वा सुमितिकत्तं सीधं सीधं बीजानि पतिट्ठापेति। अ० नि०, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ३/१०/१।
६. आसाय कसते खेतं बीजं आसाय वप्पति। थेरगाथा, ५३०; दे० गाथा सं० १६।
७. सेय्यथापि, भिक्खवे सरदसमये कस्सको महानङ्गलेन कस्सन्तो सब्बानि मूल सन्तानकानि सम्पदालेन्तो कसवि। सं० नि० २२/१०२/११२।

कि हलों को खींचने के लिए बैलों का ही प्रयोग किया जाता था।^१ सुत्तनिपात के कसिभारद्वाजसुत्त से यह स्पष्ट होता है कि जुताई के लिए प्रयोग किये जाने वाले हलों में लोहे के फल लगाये गये रहते थे।^२

खेतों में बीज बोते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वे ही बीज बोये जाय, जिनके दाने टूटे हुए न हों, और जो अंकुरित होने की क्षमता रखते हों। अतः बीजों की अंकुरणक्षमता की रक्षा के लिए उन्हें हवा की आर्द्रता से बचाया जाता था और फिर इन बीजों को अच्छी तरह से जोती हुई उपजाऊ भूमि में बोया जाता था।^३ बीजों की अंकुरण और प्ररोहण योग्यता के अनुरूप ही उनसे परिणाम की भी आशा की जाती थी। इक्षुबीज, सालिबीज और मुद्दिक्का-बीज उत्तम बीज माने जाते थे। ऐसे बीज जब नम भूमि में बोये जाते थे तो पृथ्वी के रस को अच्छी तरह से ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार उत्तम बीज होने के कारण ही वे “सातत्यता”, मधुरता और रस से परिपूर्ण होकर अंकुरित होते थे।^४

पालि निकायों के विभिन्न स्थलों से ज्ञात होता है कि खेतों की बुवाई एक महत्वपूर्ण और शुभ कार्य था तथा इस हेतु विविध आयोजन भी किये जाते थे। जातकों^५ से पता चलता है कि जब खेत बोनो का समय आता था, उस समय नगर को अलंकृत किया जाता था और सभी व्यक्ति, दास आदि भी, नवीन वस्त्रों को

१. संयुत्तनिकाय, प्रथम, ४/१९/२५।

२. देखिए, डी० डी० कोशाम्बी, दि बिगिनिंग् ऑफ् दि आयरन् एज इन् ऐशियेण्ट् इण्डिया, जर्नल ऑफ् दि इकॉनॉमिक् ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ६, भाग ३, पृष्ठ ३०९-३१८।

३. अंगुत्तरनिकाय, प्रथम, ३/४/४; तुलनीय धेरगाथा, सं० ३८८; यहाँ पर खेत में बोये हुए सड़े-गले बीजों के प्रतिकूल परिणाम और अच्छे बीजों के अनुकूल परिणाम की चर्चा है। इसी तरह गाथा सं० ३९१ में भी खेतों में अच्छे बीज बोने की चर्चा है। दीघनिकाय के पायासिराजज्जसुत्त में भी अच्छी खेती करने के लिए, अच्छे और बुरे खेतों और बीजों के महत्त्व को दर्शाया गया है।

४. सेय्यथापि, भिक्खवे उच्छुबीजं वा सालिबीजं वा अन्त्यापथविवा निक्खितं यं च पथविरसं उपादियति यं च आपोरसं उपादियाति। सत्वं तं सातत्थाय, मधुरत्ताय असेचन कत्ताय संवत्ताति। तं किस्सहेतु। बीजं हि भिक्खवे, भद्दं अ० नि०, चतुर्थ, १०/११/४।

५. जातक, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० १२६।

धारण कर गंधमाला से विभूषित होकर राजमहल में एकत्रित होते थे। तब राजा स्वयं अलंकृत वेश को धारण कर बीजपवन काल के उत्सव का उद्घाटन करता था। कहा गया है कि वह खेतों में रत्नजटित हलों द्वारा जुताई करता था, जिसका अनुगमन वहाँ पर एकत्रित कृषक समुदाय भी करता था। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, बीजपवन का कार्य जुताई सम्बन्धी सारी क्रियाओं के सम्पादित हो जाने पर ही होता था।^१ तात्पर्य यह कि बीज बोने का एक नियत समय होता था, जो विभिन्न ऋतुओं में निर्धारित अवधि से सम्बन्धित था। जातकों^२ में बीज-पवन की एक निश्चित समय-सीमा पर जोर दिया गया है।

सिंचाई

कृषि की सफलता के लिए सिंचाई की सर्वदा आवश्यकता होती है। यह मज्झिमनिकाय^३ के इस सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाता है कि “यदि तरुण पौधों को समय पर पानी न मिले तो वे सूखने लगते हैं और उनका विकास समाप्त हो जाता है।” बुद्ध-काल में सिंचाई बड़ी नदियों, तालाबों और कुओं के जल द्वारा की जाती थी। एक जातक में सिंचाई हेतु जल प्राप्त करने की इस विधि को “भिक्षुं सकुण्डलं” कहा गया है।^४ इसके अतिरिक्त बड़ी नदियों के बहते हुए जल को रोककर बाँध बनाकर भी उनके जल से खेतों को सींचने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस पद्धति का प्रमुख उदाहरण कुणाल जातक (सं० ५३६) से प्राप्त है, जहाँ रोहिणी नदी में बाँध बनाकर उसके पानी से शाक्यों और कोलियों द्वारा अपने-अपने ईश्वर के खेतों के सींचने का उल्लेख मिलता है। इसी तरह महासुसीम^५ जातक में लोगों को हाथों में टोकरी और कुदाली लेकर बाँधों को मजबूत करने के लिए जाते हुए दिखाया गया है। अंगुत्तरनिकाय^६ और थेरेगाथा के कुछ

१. अंगुत्तरनिकाय, प्रथम, ३/१०/१।
२. जातक, जिल्द २, पृ० १३५; जिल्द ५, पृ० ४०१, गाथा २४५, वपन्ति-बीजम्।
३. सेययथापिभन्ते, बीजानि तरुणानमउदकम् जलमन्तानम् सियायन्यथतम्, सियानिपरिणामो....। मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, १७/१/२।
४. श्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १८६; पदसंकेत ८, ९, १०।
५. पुरिषेषु कुदालपिटक हत्थेमु आलिमब्रंधनत्थाय निखन्तेमु। फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३३६।
६. ३/७/३।

विवरणों^१ से ज्ञात होता है कि तालाबों के जल को बाँध बनाकर खेतों को सिंचने के लिए उपयोग में लाया जाता था। यद्यपि सुत्तपिटक के विभिन्न स्थल खेतों की सिंचाई के लिए विभिन्न साधनों का उल्लेख तो अवश्य करते हैं, फिर भी तत्कालीन भारत का कृषक वर्ग, आजकल की ही तरह, अपनी खेती के लिए सर्वाधिक रूप में वर्षा पर ही निर्भर था। अंगुत्तर^२ निकाय में वर्षा करने वाले और वर्षा न करने वाले चार प्रकार के बादलों के विषय में एक रोचक विवरण प्राप्त होता है। वहाँ वर्णित है कि कुछ बादल केवल गरजते हैं, बरसते नहीं, कुछ केवल बरसते हैं, गरजते नहीं, कुछ ऐसे होते हैं जो गरजते भी हैं, बरसते भी हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो न तो गरजते हैं और न बरसते हैं।

फसल

सुत्तपिटक कालीन पूर्वोत्तर भारत में उत्पादन की वस्तुओं में धान का प्रमुख स्थान था। धान की कई किस्में उत्पादित की जाती थीं, जिनमें शालि, ग्रीहि, महाशालि, रक्तशालि, तंदुल तथा गंधशालि प्रमुख^३ थीं। इसके अतिरिक्त साँवा, कोदो, नीवार, चीनक, ईख आदि अन्य अनाज और फसलें भी पैदा की जाती थीं।^४ दालों में मटर, मूँग, उड़द, और वरक का नाम आता^५ है। मसालों में हल्दी, सोंठ, जीरा और सरसो बहुतायत से पैदा होते थे।^६ नारियल की भी खेती होती थी।^७ अन्नों के इन विभिन्न प्रकारों के साथ कई प्रकार की शाक-सब्जियाँ और ताम्बूल आदि का भी उत्पादन होता^८ था।

१. धेरीगाथा, संख्या ७६२।

२. चत्तारोमे भिक्खवे बलाहका। कतमेचत्तारो। गज्जिता नो वस्सिता, वस्सिता नोगज्जिता, नेवगज्जिता, नेववस्सिता, नगज्जिता न चवस्सिता च। अं० नि०, नालंदा, पालि प्रकाशन द्वि०, ४/११/२

३. दीघ निकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ सं० १९२; जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० ४२९, ४४८; जिल्द २, पृ० १३५, ३७८; जिल्द ३, पृ० ३८३; जि० ४, पृ० २७६। और देखिए, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १८३।

४. जातक फाँसबॉल, जि० ३, पृ० १४२; जि० ५, पृ० ४०५।

५. सुत्तनिपात, सुत्त सं० ३/१०; देखिए पीछे, खानपान सम्बन्धी विवेचन।

६. जातक फाँसबॉल, जि० १, पृ० २४४; जिल्द २, पृ० ३६३; जिल्द ३, पृ० २२५; जिल्द ५, पृ० १२; महावग्ग, ६/२/४।

७. वहीँ, जिल्द १, पृ० ४२३; जिल्द २, पृ० ४४०; जिल्द ५, पृ० ३५४, ४१७।

८. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १८७-१८८ और उनकी पादटिप्पणियाँ।

भूस्वामित्व

प्राचीन भारत में भूस्वामित्व की बात को लेकर बहुत विवाद रहा है। भूमि पर खेती करने वाले और स्वयं राजा दोनों का ही अधिकार कहा गया है।^१ पालि निकायों को देखने से यह प्रतीत होता है कि खेत अर्थात् कृषि योग्य भूमि और वस्तु अर्थात् घरद्वार की वस्तुएँ निजी स्वामित्व में होती थी। खेतों पर निजी स्वामित्व वैसा ही था, जैसा पशुओं पर। यह इस बात से स्पष्ट है कि खेत, वस्तु हिरण्य, सोना और नौकर भिक्षुओं को समान रूप से दान में दिये जा सकते थे।^२ यह भी स्पष्ट है कि पुरुष और स्त्री समान रूप से भूमि अथवा धन-सम्पत्ति के मालिक हो सकते थे। जातकों से खेतों के सोमाबन्धन और उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का बोध होता^३ है। एक स्थान पर मगध के एक ब्राह्मण भूस्वामी द्वारा एक तोते को अपने खेत से एक हजार करीष दान देने की बात ज्ञात होती^४ है। जीवक, अम्बपाली और अनाथपिण्डिक द्वारा बौद्ध संघों को बगीचों के दान के जो उल्लेख प्राप्त होते^५ हैं, वे भी व्यक्तिगत माध्यमों से खेतों, बगीचों, अथवा उद्यानों के क्रय-विक्रय और उनके स्वामित्व के हस्तांतरण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। दीघनिकाय^६ में धान के खेतों का बंटवारा और उनके बीच में सीमा रेखाओं के निर्माण का उल्लेख है। कोसल और मगध के राजाओं द्वारा विद्वान्, योग्य और यज्ञ कराने वाले वैदिक ब्राह्मणों को सम्पूर्ण सम्पत्तियों सहित गाँवों के दान दिये जाने के जो उल्लेख हैं, वे उनपर उनके पूर्ण स्वामित्व के बोधक हैं। पीछे हम ऐसे सभी प्रमुख, किन्तु दान में प्राप्त ब्राह्मण

१. इस सम्बन्ध में देखिए, जायसवाल, के० पी०, हिन्दू पॉलिटी, पृ० ७९, ८२-८३, १७३-१७४; यू० एन्० घोषाल, दि ऐग्रेरियन् सिस्टम् इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० ८१-१०३; बाशम, दि वण्डर दैट् वाज़ इण्डिया (१९५९), पृ० १९१; ए० एस्० अल्टेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, तृतीय संस्करण, पृ० २७२-२७७; ए० एन्० बोस, सोशल ऐण्ड रूरल् इकॉनॉमी ऑफ् नार्दर्न् इण्डिया, पृ० ४०।

२. ए० एन्० बोस कृत सोशल ऐण्ड रूरल् इकॉनॉमी ऑफ् नार्दर्न् इण्डिया, जिल्द १, पृ० ४० और थेरगाथा, ९५७।

३. फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० १५३; जि० ४, पृ० २६२ और आगे।

४. वहाँ, जि० ४, पृ० १८१।

५. देखिए, हार्डी, मैनुअल् ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० २१८; बरुआ, भरहुत, जि० २, पृ० ३१; तुलनीय चुल्लवग्ग, ४/९।

६. ए० एन्० बोस द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ४२, ४३।

गाँवों की चर्चा कर चुके हैं।^१ सुत्तनिपात में^२ कसि भारद्वाज द्वारा, पाँच सौ हलों और मजदूरी पाने वाले बहुसंख्यक मजदूरों द्वारा अपने बड़े-बड़े खेतों में कृषि कराने का उल्लेख है। सुवर्णकुवकट जातक^३ में कहा गया है कि बोधिसत्त्व ने अपने निजी गाँव सालिन्दिय के उत्तर-पूर्व में जाकर एक हजार करोष भूमि पर खेती प्रारम्भ की। इसी प्रकार बड़ी-बड़ी जमीन्दारियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वाराणसी की गणिका सुजाता ऐसी ही एक बड़ी भू-सम्पत्ति की मालिक थी। अस्सी कोटि विभव के स्वामी कुटुम्बिकों अथवा ब्राह्मण गृहपतियों की भी चर्चाएँ मिलती हैं।

बागवानी

खेती का ही एक दूसरा अंग था बागवानी। पालि निकाय विभिन्न प्रकार के पेड़ों वाले वनों और उद्यानों की चर्चा से भरे पड़े हैं। आम्रवन, जम्बूवन, सिसपावन, शालवन, वेणुवन, कदलीवन, मधूकवन जैसे अनेक नामों वाले उद्यानों और आरामों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ये उद्यान अथवा आराम बस्तियों के प्रायः सटे बाहर होते थे। इनकी रखवाली के लिए जो व्यक्ति नियुक्त होते थे, उन्हें अम्बपालक, जम्बूपालक, वनपालक एवं आरामपालक की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।^४ स्पष्ट है कि बाग-बगीचे की रखवाली पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। विभिन्न प्रकार के फलदार वृक्षों के अतिरिक्त किंसुक, पाटलि, कदम्ब, सिरिस, जयसुमन, कर्णिकार, ताल और केतक जैसे फूलदार वृक्षों को भी लगाया जाता था। इनके अतिरिक्त कुसुम्भर, लाख = लक्ख और कपूर की भी खेती होती थी। इन सब फूलों, गन्धों, गोंद तथा रंगों को बेचकर जीविका के साधनों को जुटाया जाता था।^५

पशुपालन

भारत में पशुपालन की परम्परा अति प्राचीन काल से ही प्रचलित थी। पुरापाषाणकाल का मानव अपनी भोजन और वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं

१. पीछे देखिए, द्वितीय अध्याय।

२. सुत्तनिपात सुत्त सं० १/४; संयुत्तनिकाय, पाटेसो, जि० १, पृ० १७१; जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० १८१।

३. जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० ३७०; जि० ५, पृ० ४६५।

४. नरेन्द्र वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३५; तुलनीय चुल्लवग्ग, ५/२/८।

५. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० १४९, ३१३; जि० २, पृ० १०५-१०६; जि० ३, पृ० १८३; जि० ४, पृ० ९२, २५६; जि० ५, पृ० ३७-३८; जि० ६, पृ० ५५, ५३०-५३९।

की पूर्ति हेतु पशुओं का शिकार करता था। परन्तु नवपाषाणकालीन मानव ने पशुओं को सिर्फ शिकार तक ही सीमित न रखकर उन्हें पालना भी शुरू कर दिया। सम्भवतः इन्हीं नवपाषाणकालीन मानवों ने सर्वप्रथम कृषि और पशुपालन को जीविका के साधन के रूप में अपनाया और पशुपालन के आर्थिक महत्त्व पर विचार किया^१।

सुत्तपिटक में पशुपालन जीविका के एक मुख्य स्रोत के रूप में आता है।^२ गोपक मोग्गलान और धनियग्वाला जैसे दो व्यक्तियों के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं, जो अपनी जीविका चलाने के लिए पशुपालन कर्म करते थे।^३ राजा अपनी कोष-वृद्धि के लिए पशुपालन और पशुओं के वैज्ञानिक प्रजनन पर बल देता^४ था। धूमकरी जातक (सं० ४१३) में एक ब्राह्मण द्वारा बकरी पाले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।^५ धम्मपद के चीनी संस्करण की सूचनानुसार गृद्धकूट पर्वत की ढलान पर स्थित सत्तर ब्राह्मणों का परिवार अपनी जीविका निर्वाह हेतु पशुपालन का कार्य करता था।^६ जातकों^७ से ज्ञात होता है कि सेट्ठि लोग व्यापार के अतिरिक्त अपने पास अच्छे पशुओं को भी एकत्र करके रखते थे।

पशुपालन वैश्यों का प्रधान कर्म माना जाता था, और सेट्ठियों के पास पशुओं की अच्छी संख्या रहती थी। सुत्तनिपात^८ के धनियसुत्त से यह प्रतीत होता है कि आजकल की तरह पशुपालन का कार्य मुख्य रूप से खाले लोग ही करते थे, जो अच्छी नस्ल के पशुओं को तैयार करने के लिए अच्छे साँड़ों को भी रखते थे। चरवाहों के दैनिक कार्यों का विवरण अंगुत्तरनिकाय^९ से प्राप्त

१. इण्डरसन् ए० एन्० इन्द्रोडकशन् टू ऐनिमल् हसबैण्ड्री, ऐग्रिकल्चर इन् ऐशियेट् इण्डिया में उद्धृत, पृ० ११७।

२. सुत्तनिपात, सुत्त सं० १/२; मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, ४८/२/४।

३. देखिए, मज्झिमनिकाय का गोपकमोग्गलानसुत्त, सं० ३/१/८ और सुत्तनिपात का धनियसुत्त सं० १/२; नरेन्द्र वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४-१५।

४. जातक, फाँसबॉल, जिल्द० १, पृ० २४०।

५. वही, जि० ३, पृ० ४०१।

६. चीनी धम्मपद (बील) और ऐग्रिकल्चर इन् ऐशियेट् इण्डिया में पृ० ११७ पर उद्धृत।

७. जातक, जिल्द० ४, पृ० ३३२।

८. धनियसुत्त, सं० १/२।

९. अंगुत्तरनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम ३/७/१०।

होता है। मज्झिमनिकाय^१ से भी चरवाहों के कार्यों के सम्बन्ध की कुछ बातें ज्ञात होती हैं। सयुत्तनिकाय^२ के अनुसार चरवाहे अपने स्वामियों की गायों को निकालकर चराने के लिए ले जाते थे। चरवाहों को गोपालक एवं पशुपालक कहा जाता था।^३ उनका कार्य पशुओं को चराना और उसकी रक्षा करना था।^४ एक चतुर गोपालक के ग्यारह गुणों के वर्णन हैं, जिनके द्वारा वह गोयूथ की रक्षा करने के योग्य होता है और जो मज्झिमनिकाय^५ के महागोपालकसुत्त में मिलता है। पशुओं में सर्वाधिक महत्त्व गाय का था, जिसका कारण यह था कि उससे प्राप्त गोरस-दूध, दही, मक्खन, घी आदि का भोजन में बहुत महत्त्व था। उससे भी अधिक महत्त्व उससे उत्पन्न होने वाले बछड़ों का खेती में था। सुत्तनिपात^६ में उसे माता, पिता, भाई और अन्य ज्ञातिओं की तरह परम मित्र बताया गया है, जिससे सभी औषधियाँ प्राप्त होती हैं। अन्य स्थलों पर भी गाय की प्रशंसाएँ की गयी हैं।^७ विनिमय के रूप में भी गौ की प्रधानता स्वीकार की जाती थी।^८

हाथी और घोड़े सम्भवतः राजकीय अधिकार के पशु थे।^९ इसका कारण यह था कि सेना में इनका अत्यधिक महत्त्व था। तथापि व्यक्तिगत रूप में शोभा के लिए या सवारी के लिए सम्भवतः ये रखे जाते थे।

आखेट या शिकार

आखेट जीविका के साधनों में सम्भवतः सबसे प्राचीन है। सुत्तपिटक में

१. मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १९/१/४ और १९/२/७।
२. नन्दो गोपालको सामिकानं गावो निययातेत्वा।
 संयुत्तनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, चतुर्थ, ३५/२४१-२६।
३. गोपालकं वा पशुपालकं वा। मज्झिमनिकाय, प्रथम, १२/६/१५।
४. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० ३८८; जि० ३, पृ० १४९, ४७९; अर्थ-शास्त्र २/२९।
५. पाटेसो०, ३३/१/१; अंगुत्तरनिकाय, जिल्द ४, कलकत्ता, हि० अनु०, पृ० ३६६ में भी एक चतुर ग्वाले के ग्यारह गुणों को गिनाया गया है।
६. यथा माता पिता भ्राता, अन्ने वापि च जातका, गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा। सुत्तनिपात, मूल पालि और हिन्दी अनुवाद, २/७/१३, पृ० ७४।
७. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २११।
८. ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ९३।
९. अस्सा नाम रजिभोगा, जातक फॉसबॉल, जि० ३, पृ० ३२२।

‘शिकार करने के तौर-तरीकों के विषय में यथेष्ट सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। शिकार समाज के बहुत से लोगों के जीवनयापन का एक महत्वपूर्ण साधन था। ‘मज्झिमनिकाय’ में कहा गया है कि शिकार की टोह में लोग वनों में जाकर जलाशय के तट पर आये मृग समूह के प्रत्येक निकास मार्ग को बन्द करके आखेट करते थे। मृगों को आकर्षित करने के लिए जंगल के भीतर शिकारी निवाप (मृगों के शिकार के लिए जंगल के भीतर बोया खेत) लगाता था तथा जब मृगदल निवाप में चरने में मग्न हो जाता था तब शिकारी उनका शिकार करते थे।^२

निकायों में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति ज्यादा थी और मांस शिकार द्वारा ही प्राप्त किया जाता^३ था। पेशेवर शिकारियों को लुब्धक अथवा लुद्दक और निषाद कहा जाता था। इन लुब्धकों के अपने पूरे-पूरे गाँव हुआ करते थे।^४ ये शिकार मारकर उनके मांस को स्वयं तो खाते ही थे, उनका विक्रय करके भी अपनी आजीविका चलाते थे।^५ शिकारी छड़ी, धनुष एवं जाल आदि की सहायता से शिकार करते थे।^६

शिकार से प्राप्त पशुओं से अनेक लाभ होते थे।^७ हाथी का शिकार करने वाले शिकारी उसका बहूमूल्य दाँत बेचकर गुजारा करते थे।^८ लुब्धकों द्वारा शिकार किये जाने वाले पशुओं में सिंह, व्याघ्र, चीतों और भालुओं की संख्या प्रमुख रहती थी।^९ मृग का शिकार करने वालों को मिगलुद्दक कहा जाता था।^{१०}

१. मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १९/४/११।

२. नेवापिको निवापं निवपति मिगजातानं हं मेनिवापमं निवत्तु मिगजाता परिमुञ्जन्ता दीघायुका वण्णवन्तो चिरं दीघमद्धानं यापेत्तु’ति। वहीं, २५। ११; और देखिए थेरगाथा, ७७४-७५ तथा ११६६।

३. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ४, पृ० ३७०; जिल्द ५, पृ० ४८९; गाथा, ४२४।

४. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १३८, पदसंकेत ४।

५. जातक, फॉसबॉल, जिल्द २, पृ० १८४; जिल्द ४, पृ० २५२, ३३४ आदि।

६. वहीं, जिल्द ४, पृ० ४१३-४२५; जिल्द ६, पृ० १७०, ५८२।

७. वहीं, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३८८, चम्मनरव दाठा चैव वसनं च।

८. जातक, फॉसबॉल जि० १, पृ० ३२१; जि० २, पृ० १९७; जि० ५, पृ० ४५-७८; जि० ६, पृ० ६१, गाथा २६९।

९. संदर्भ के लिए देखिए, महावग्ग, ६/१०/२२।

१०. थेरीगाथा, २९२।

पशुओं के शिकारियों के अतिरिक्त चिड़ीमार भी हुआ करते थे। इनका कार्य जालों में पक्षियों को फँसाकर पकड़ना था। यही इनकी जीविका का मुख्य स्रोत था।^१ इन चिड़ीमारों के भी अलग गाँव होने का संकेत मिलता है।^२ जाल एवं पिंजड़े की सहायता से ये पक्षियों को फँसाकर पकड़ते^३ थे। पक्षियों को उनके विक्रय के पूर्व मोटा बनाया जाता था, जिसके लिए उन्हें उत्तम खाद्यपदार्थ खिलाये जाते थे।^४ तोता, मैना, तीतर और कोयल जैसे पक्षियों की माँग तत्कालीन समाज में अधिक^५ थी।

मछलियों के पालने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। रतिलाल^६ मेहता के अनुसार शिकार और मत्स्य-पालन का राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान होता था। मछली मारने के प्रमुख स्थान नदी-तट, सरोवर एवं जल से भरे छोटे गड्ढे होते थे तथा तटीय निवासियों का प्रधान भोजन होने के कारण मछलियों की विक्री भी ज्यादा होती थी।^७ मछली मारने का काम केवट और निषाद जाति वाले लोग करते थे। ये जाल की सहायता से मछली पकड़ते^८ थे। मछलियों के अतिरिक्त सूंसी को भी जाल में बझाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

मज्झिमनिकाय^९ में जीविका चलाने के कुछ गृहित साधनों के उल्लेख हैं, जैसे सेंध लगाना, गाँव उजाड़कर ले जाना, एकागारिक अर्थात् एक घर में धुसकर

१. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९१-९२; जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० २०८, ४३४, ४७५; जि० २, पृ० १३२; जि० ३, पृ० ६४-९७; जि० ५, पृ० ३३७, ३३९।

२. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ १९२, पदसंकेत ३।

३. जातक, फॉसबॉल, जिल्द ३, पृ० ९७; जिल्द ४, पृ० २७८; जिल्द ५, पृ० २३६, ३४६, ३५८।

४. वही, जिल्द १, पृ० ४३४।

५. वही, जिल्द १, पृ० ४३४; जिल्द २, पृ० १३२; जिल्द ४, पृ० ३९२।

६. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९२।

७. जातक, जिल्द १, पृ० २११; जिल्द २, पृ० ३६२, ४३४; जिल्द ३, पृ० ४२९; जिल्द ४, पृ० ७२।

८. सेय्यथापि, भिक्खवे दक्खो केवटो वा केवट्टटन्तेवासी वा सुखुमच्छिकेन जालेन परित्तं उदकदहं धोत्थरेय्य' ।

दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १/७/१४६।

९. तेसं भोगान आरक्खधिकरणं दुक्खं दोमनस्सं पटिसंवेदेति—किन्ति मे भोगो नेव राजा नो हरेय्युं, न चोरा हरेय्युं, न अनिदहेय्य, न उदकं वहेय्य, न थप्पिया दायादा हरेय्युं' ति। नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १३/४/५।

चुराना, राहजनी (परिपन्थ) परस्त्रीगमन आदि । सुअर, भेड़ तथा मृग मारना मत्स्यघात, गोघात और बन्धनागारिक जैसे कर्म भी जीविका के बुरे साधन माने गये^१ हैं । मांस-विक्रय और मछली मारना बौद्ध साहित्य में अहिंसा भाव के कारण निकृष्ट माने गये^२ हैं । धन लेकर दूसरों की हत्या करना,^३ ऐन्द्रजाल अथवा मायाकारी,^४ जुए के सहारे से जादूगरी,^५ अक्ष अथवा पासा के माध्यम से धूर्तता करना,^६ शौण्डिक अथवा पानागारिक का कार्य अर्थात् शराब की दुकान चलाना,^७ अन्यान्य मादक पेयों की दुकान चलाना,^८ और गणिकावृत्ति^९ जैसे व्यवसाय हीन माने जाते थे ।

आजीविका के उपर्युक्त गृहित साधनों के अतिरिक्त अनेक अन्य ऐसे साधन भी थे, जो हीन माने जाते थे । इन्हें गृहित से थोड़ा अच्छा तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु समाज में इस प्रकार की आजीविका के साधनों को अपनाते वाले लोगों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था । ऐसे लोगों को ही हीन जाति की संज्ञा दी गयी है । पीछे पालि निकाय से ज्ञात समाज की चर्चा करते समय इनका हम उल्लेख कर चुके हैं । यहाँ संक्षेप में केवल उनकी गिनती मात्र पर्याप्त होगी । ऐसे लोगों में चंडाल सम्भवतः सर्वाधिक नीच माना जाता था । इसका कार्य मृतकों को हटाना और उन्हें जलाना (छवच्छन्दक-छवदाहक) था । अपराधियों को फाँसी लगाने का काम भी चण्डाल लोग ही करते थे । कभी-कभी ये शिकार भी करते थे ।^{१०} पूवकुस नामक हीन जाति पशुओं को मारने, बिलों से जानवरों को निकालने, तथा उन्हें खाने और बेचने से अपनी आजीविका चलाती थी । इसी कारण उन्हें हीन कहा गया । एक जातक और धम्मपद की टीका में उन्हें

१. वहीं, द्वितीय, १/४/८; अंगुत्तरनिकाय, तृतीय, ६/६/३; थेरगाथा, २३६, २४२ ।
२. नरेन्द्र वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५९ ।
३. ए० एन्० बोस०, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १६७ ।
४. थेरगाथा, १२०९ और आगे ।
५. जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० २८९ और आगे; जि० ६, पृ० २८० और आगे ।
६. दीघनिकाय, सत्रहवाँ, १-६/२९/३२; विशेष विवरणों के लिए देखिए, ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग २, पृ० १६९ ।
७. दीघनिकाय, सत्रहवाँ, १, ६/२९-३२; जातक, फाँसबॉल, जि० ५, पृ० १३ ।
८. ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १७१ ।
९. इस सम्बन्ध में देखिए, पीछे सामाजिक संगठन वाला अध्याय ।
१०. सीलबिमंस जातक, सं० ३३० ।

पुष्पछड़क अर्थात् फूलों को बुहारने वाला कहा गया है।^१ इनका कर्म भी हीन माना गया है। चर्मकार, विभिन्न प्रकार के चमड़ों से अनेक वस्तुओं का निर्माण करता था और उसके व्यवसाय को भी पालि साहित्य में हीन शिल्प की संज्ञा दी गयी है।

सेवाप्रधान अन्य व्यवसायों में नगर-द्वारों के बाहर बसने वाले रजक = धोबी, चित्तकार = चित्रकार; नहापति = हजाम; कप्पक = बाल काटने वाले; पेसकार; तन्तुवाय; देह दवाने वाले और शरीर का प्रसाधन करने वाले लोग आते थे।^२ यद्यपि उपर्युक्त व्यावसायिक लोग दूसरों की सेवा ही करते थे, तथापि उन्हें हीन कोटि में ही रखा गया है।

दूसरों की सेवाकर जीविका चलाने वालों में आलारिक^३ अर्थात् रसोइये का कार्य करने वाला भी था। राजा और सम्पन्न व्यक्ति ही रसोइया रखते थे।

संयुक्तनिकाय^४ में इनके लिए कहा गया है कि ये राजा की सेवा में रहते हुए वेतन, कपड़ा (अच्छादन) और उत्तम सेवा के लिए उपहार (अभिसार) प्राप्त करते थे।

नट (अभिनेता), नर्तक (नटक), रस्से पर नाचने वाला नट (लंगिहिक), जादू-गर (सोकज्जायिक), वाजा बजाने वाला (कूम्मथूनिक), स्त्री भविष्यवक्ता (इकसणिका), नगरवधू (गणिका), बेसी (जो तरह-तरह के वस्त्रों को पहनकर मनोरंजन करता है) और सोमनक (रंगमंच पर अनेक भाव-भंगिमाओं को दिखाने वाला) प्रभृति मुख्यतया मनोरंजन करने वाले होते थे।^५ नट-नर्तकों को समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था तथा इनके कार्यों को हीन समझा जाता था। ऐसे ही लोगों में साँप का खेल दिखाने वाले और साँप के विष को दूर करने वाले (अहिगुण्डक और अहिविज्जा सिप्पम्)^६ व्यक्तियों का व्यवसाय भी सम्मिलित है।

१. थेरगाथा ६२०; ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० १२६; जातक, फॉसबॉल जि० ५, पृ० ४०५, गाथा, ३३५; दि बुक् ऑफ दि डिसिप्लिन, द्वितीय खण्ड, पृ० १६५, पदसंकेत ६।

२. ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, भाग २, पृ० १४९।

३. सामञ्जसफलसुत्त, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १९।

४. पाटोसो०, जि० ५, पृ० १४९; वागले, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३६ और आगे।

५. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन प्रथम, १/२/१३।

६. जातक, फॉसबॉल, जि० २, पृ० २६७, ४३९; जि० ३, पृ० १९८, जि० ४, पृ० १०८।

दीघनिकाय^१ के ब्रह्मजालसुत्त में अंगविद्या, ज्योतिषविद्या, उत्पादविद्या, नक्षत्रविद्या, स्वप्नविद्या, मंत्र का अभ्यास करना, लक्षणविद्या, मूषिक विद्या, अग्निविद्या, क्षेत्रविद्या, वास्तुविद्या, भूतविद्या, सर्पविद्या, विच्छू के झाड़-फूँक की विद्या, हस्तिविद्या, अश्वविद्या, महिषविद्या, अजविद्या, वृषभविद्या, मेघविद्या, मुर्गाविद्या, वत्सविद्या, गोहविद्या, कर्णिकाविद्या, कच्छपविद्या और मृगलक्षण को नीच अथवा हीन कहा गया है। इन विद्याओं में या तो विष को दूर करने के झाड़-फूँक के उपाय, मंत्र-जाप तथा अनुमान का प्रयोग अथवा विभिन्न पशुओं-पक्षियों और जीवों को आपस में एक-दूसरे से लड़ाने अथवा उनके सम्बन्ध में लक्षणों आदि से जानकारी कराने में जो चपलता, चतुराई, तिलस्म और जादूगरी के पुट छिपे थे, उन्हीं के कारण इन्हें हीन विद्याओं की संज्ञा दी गयी।

हीन विद्याओं अथवा शिल्पों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी जीविका के साधन थे, जिन्हें उत्कृष्ट शिल्प कहा जाता था। हीन और उक्ठ अर्थात् हीन और उत्कृष्ट शिल्पों की सूची हमें विनयपिटक^२ में प्राप्त होती है। हीन शिल्पों में नलकार, कुम्भकार, पेसकार, चम्मकार और नहापति के शिल्प गिनाये गये हैं, और उत्कृष्ट शिल्पों में मुद्रा, गणना और लेखा की गिनती की गयी है। मज्झिम-निकाय^३ के अनुसार भी जीविका प्राप्ति के लिए मुद्रा, गणना (संख्यान) कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, अस्त्रधारण या राजकीय सेवा जैसे कार्य किये जाते थे। एक जातक^४ में अठारह शिल्पों और उनकी श्रेणियों का विवरण प्राप्त होता है।

अनेक ऐसे कलात्मक कार्य थे, जिनसे लोग अपनी जीविका निर्वाह करते थे। इन लोगों में नलकार, कुम्भकार, मानकार, सूचिकार, सुवर्णकार, धातुकार, कम्मार दन्तकार, मालाकार, कोसियकार, तथा लकड़ी और पत्थर का काम करने वाले लोग थे, जो स्वयं अपनी वस्तुएँ उत्पादित करते थे और उन्हें बेचकर जीविका चलाते थे। आगे इन सभी का संक्षिप्त विवेचन सुत्तपिटक के आधार पर किया जायगा।

टोकरी बनाने वाले कलाकारों को नलकार कहते थे। ये एक समूह बनाकर

१. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४-५।

२. पाचित्तिय, द्वितीय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ११।

३. यदि मुद्राया यदि गणनाय यदि सङ्खानेन यदि कसिया यदि वणिज्जाय यदि गोक्खेन यदि हस्सत्थेन यदि राजपोरिसेन। नालन्दा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १३/४/५।

४. जातक, फाँतबाँल, जिल्द २, पृ० २४५।

किसी वस्ती में रहते थे, जो सम्भवतः इनके व्यवसाय की दृष्टि से नगर-सीमा पर बसी होती थी। मज्झिमनिकाय^१ के अनुसार नलाकार अपनी वस्ती को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता था। दीघनिकाय^२ में कुम्भकार के कार्य को शिल्प की कोटि में माना गया है। कुम्भकार अपनी जीविका चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के वर्तनों का निर्माण करते थे, यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न नहीं होते थे। बुद्धकालीन वर्तन चाक पर बनते थे। मज्झिमनिकाय^३ से पता चलता है कि एक चतुर कुम्भकार किस तरह सिझायी मिट्टी से जो जो विशेष भाजन चाहता है उसी को बनाता है।

गाड़ी बनाने वाले को मुत्तपिट्ठक में यानकार की संज्ञा दी गयी है। अन्यत्र निकायों में इन्हें रथकार भी कहा गया^४ है। रीज्डेविड्स^५ के मत में ये रथकार अथवा यानकार ऐसी आदिवासी जातियाँ थीं, जो वंशानुगत रूप में रथ निर्माण का कार्य करती थीं।

लकड़ी का काम करने वाले बड़ई = बद्धकि कहलाते^६ थे। इनके कार्य भवन निर्माण और कलात्मक वस्तुएँ बनाने से लेकर, कृषि, वस्त्र, उद्योग से सम्बन्धित औजार, खिलौने आदि का निर्माण सभी कुछ थे। इनके अतिरिक्त वे रथ, बैल-गाड़ी आदि के अंग-प्रत्यंग का भी निर्माण करते थे।^७ लकड़ी के इन कार्य करने वालों को तच्छक या तच्छका^८ कहते थे। इन बड़इयों के अपने-अपने गाँव हुआ करते थे।^९

भवन निर्माण से सम्बन्धित पत्थर का काम करने वालों को पाषाणकोत्तका कहते थे। इसी तरह ईंटों का काम करने वाले इट्ठबड्ठक कहलाते थे। ये बड़े-

१. मज्झिमनिकाय, सारनाथ प्रकाशन, पृ० २०६; वागले पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३७ पर उद्धृत।
२. पुथुसिप्पायतिनानि, सेय्यथिदं.....कुम्भकारा। दी० नि०, प्रथम, २/३/१४।
३. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३१४।
४. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५३७।
५. डायलॉग्स ऑफ़ दि बुद्ध, जि० १, पृ० १००; और सन्दर्भों के लिए देखिए, ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३४-२३७।
६. जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० १५९, २०७।
७. ए० एन्० बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४८-२४९; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५३०।
८. दाहं नमन्ति तच्छका अत्तानं। धम्मपद, गाथा १४५।
९. अलिनचित्त जातक, सं० १५६।

बड़े स्तम्भों का निर्माण करते थे।^१ मज्झिमनिकाय^२ में पत्थर का काम करने वाले इन कलाकारों को पंचकांगथपति (स्थपति या थवई) कहा गया है। अट्ठकथा के अनुसार बसूला, कुल्हाड़ी, रुखानी, हथौड़ा और काले सूत की नली रखने के कारण इन्हें पंचकांग कहा जाता था।^३

धातुकारी का काम करने वाले कम्मर या कमरि कहलाते थे। मज्झिमनिकाय^४ में (कम्मरकुला) अर्थात् कम्मरों के कुलों का उल्लेख आता है, जो उत्तम चमकती हुई काँसे की थाली का निर्माण करते थे। इन कम्मरों के अपने गाँव होते थे^५ और ये एक से अधिक प्रकार की धातुओं के कार्य सम्पन्न करते थे।

मज्झिमनिकाय^६ के संखालघत्तिमुत्त में कमरि को सुवर्णकार कहा गया है। इनके लिए सोणकार और मणिकार शब्द भी प्रयुक्त होते थे। ये अधिकतर धनवान व्यक्ति ही होते थे। बुद्धकालीन समाज में आभूषण बनाने की कला बहुत विकसित अवस्था में थी और खूब पनपी थी। सुवर्णकार विभिन्न प्रकार के आभूषणों को बनाते थे^७ और उनका कार्य सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण था। धातु विभंगसुत्त^८ में इनके विषय में कहा गया है कि “एक चतुर सुवर्णकार पहले अपनी अंगीठी को बाँधता है, फिर उसे लिपता है, फिर सोने को सैंडासी से पकड़कर उसे अंगीठी में डालता है, समय-समय पर उसे धोंकता है, समय-समय पर पानी का छौंटा देता है तथा फिर समय-समय पर चुपचाप छोड़ देता है।” इस प्रकार सोना अथवा आभूषण तैयार होते थे।

कृषि कार्यों में प्रयुक्त होने वाले सभी औजार लोहे से ही बनते थे, जिन्हें बनाने वालों को लोहार या कम्मकार कहते थे। अच्छी सुइयाँ (सूची) बनायी जाती थीं,

१. वहीं, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ४७८।

२. पञ्चवङ्गोत्थपति। नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, ९/१/१।

३. मज्झिमनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३३९ का पदसंकेत १।

४. नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ५/३/२३।

५. दीघनिकाय, पाटेसो० जिल्द २ पृ० ८८; जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० ४२४।

६. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५०१।

७. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० २८३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० १६; जातक, हिन्दी अनुवाद, जि० १, पृ० २२१, जि० २, पृ० ३०५-३०७; जि० ३, पृ० ९३।

८. मज्झिमनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, धातुविभंगसुत्त, पृ० ५७६-७७।

जिनके हल्केपन और पैनेपन की प्रशंसा हमें सूचिजातक^१ से प्राप्त होती है। वीणा के तार (तन्ति) भी बड़ी कला और सूक्ष्मता के साथ बनाये जाते थे।^२ बाण बनाने वाले लोगों को चापकार या उसुकार कहते थे।^३ ये विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करने के बाद बाण बनाते थे।^४

हाथी दाँत का काम करने वालों को दन्तकार कहते थे। सुत्तापिटक से ज्ञात होता है कि बुद्धकाल में ये कुशल कारीगर माने जाते थे। मज्झिमनिकाय^५ में हाथीदाँत के कुशल कारीगरों की कला के बारे में उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि एक चतुर दन्तकार सिद्धाये दाँत से किसी भी वस्तु को बना सकता है।^६ दन्तकार जिस आरी से कार्य करता था उसे खरच्च कहते थे।

मालाकार फूलों की माला आदि बनाते थे। उनकी कला भी शिल्परूप में उल्लिखित है।^७ फूल, काशिक चंदन, अगरु, आदि सुगन्धित वस्तुओं को बँचने वाले गन्धिक कहलाते थे।^८

रोगनिदानवृत्ति

जीविका प्राप्ति के लिए प्रायः जितने भी साधन अपनाये जाते थे, उनमें वैद्यक व्यवसाय सबसे उत्तम माना जाता था। वैद्य अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग रोग से छुटकारा दिलाने के लिए करते थे और इससे प्राप्त आय से वे अपनी जीविका चलाते थे। इन्हें सुत्तापिटक में तिकिच्छका = चिकित्सक और वेज्जा = वैद्य कहा गया है। उस समय शल्यक्रिया भी की जाती थी। शल्य चिकित्सा करने वालों को सल्लकत्ता कहते थे। बाल रोग विशेषज्ञों को दारक-तिकिच्छका कहा जाता था। ब्राह्मण वैद्य अपनी पीठ पर औषधियों की झोली लटकाये यत्र-तत्र घूमा करते थे।^९ बुद्ध के समय का प्रसिद्ध वैद्य-

१. जातक सं० ३८७।

२. वहीं, फॉसबॉल, जि० २, पृ० २४९।

३. उसुकारा नमयन्ति तेजन्। धम्मपद, गाथा १४५।

४. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ६६।

५. सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, महासुकुलुदायिसुत्त, पृ० ३१४; दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, २/५/८९।

६. दीघनिकाय, प्रथम, २/३/१४।

७. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५३०।

८. तिरच्छान विज्जाय मिच्छाजीवेन जीवितं कप्पेन्ति, सेय्यथीदं...जमनं विरेचन उद्विरेचन अधोविरेचन...। नत्थकम्मं अञ्जनं पञ्चव्रजनं सालाकियु सल्ल-कत्तिय दारकतिकिच्छा नूलभेसज्जानं अनुप्पदानं ओसधीनं पटिमोक्खो...।

दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १/२/२७।

जीवक^१ था, जिसने तक्षशिला में शिक्षा ग्रहण की थी। कुछ चिकित्सक लोग चिकित्सा के नाम पर ठगी भी करते थे। सम्भवतः इसी कारण ब्रह्मजालसुत्ता^२ में इसे तिरिच्छानविज्जा अर्थात् गलत विद्या की संज्ञा दी गयी है।

जीविका का एक प्रमुख अंग राजकीय सेवाओं का था, जिनमें प्रमुख रूप से सैनिक कर्म आते थे। इनकी एक सामान्य संज्ञा थी योधाजीव और इसित्यन। मज्झिमनिकाय^३ में इनके लिए कहा गया है कि इनकी जीविका युद्ध करके ही चलती थी और इनका सम्पूर्ण जीवन युद्ध के लिए समर्पित था। योधाजीवों में हत्थारोहा = हस्ति सैनिक, अस्सारोहा = अश्व सैनिक, रथिका = रथ सैनिक, धनु-गहा = धनुर्धर, चेलका = पताका लेकर चलने वाले, चलका = पड़ाव स्थल के अधिकारी, पिण्डदायक = भोजन सामग्री पहुँचाने वाले, उग्गा = उग्र रूप से लड़ने वाले वीर सैनिक, महानाग = हाथी से युद्ध करने वाले सैनिक, और राजपुत्ता = साधारण राजकार्यों में लगे रहने वाले पुरुष मुख्य होते थे।^४ राजकीय सेवाओं से ही सम्बद्ध, रथिक = रथ हाँकने वाले, पेत्तनिक = प्रान्तीय राज्यपाल, धामति = कंचुकी, अस्सगमक = घोड़ों को सिखाने वाले, राजभर = पुलिस का काम करने वाले, भण्डागारिक = भण्डारों की देखरेख करने वाले, बंधनागारिक = जेलों और कैदियों की देखरेख करने वाले, गामणी = ग्रामिक अर्थात् गाँवों के प्रधान, चर = गुप्तचर, दूत = संदेश ले जाने वाले, आरामिक = बगीचों की देखरेख करने वाले, दारुगहाड़िक = लकड़ी भण्डारों की रक्षा करने वाले, और कम्मकर = साधारण श्रमिक के रूप में कार्य करने वाले आदि साधारण राजसेवकों की कोटि में थे। विशेष राजकीय सेवकों में महामत्त या महामच्च = महामंत्री या महामात्य, वोहारिक महामच्च = न्यायमंत्री^५, गणक महामच्च = कोषाध्यक्ष और सब्बायक महामच्च^६ = राज्य के सभी कार्यों की देखरेख करने वाले अधिकारी हुआ करते थे। अन्य विशिष्ट अधिकारियों में अमत्ता = अमात्य थे। राजकीय परिषद के विशेष सदस्य पार्षद् अर्थात् परिषद् के वरिष्ठ सदस्य कहलाते थे।^७

धनी और सम्पन्न परिवारों में दास-दासियों को रखने की प्रथा थी और दासता से जीविका-वृत्ति चलाने वाले लोगों का भी एक प्रमुख वर्ग था। इसी

१. महावग्ग, विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६६।
२. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५।
३. मज्झिमनिकाय, द्वितीय, ४८/२/४; सुत्तनिपात, सुत्त सं० ३/१/२४।
४. सामञ्जफलसुत्त, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९।
५. संदर्भ के लिए देखिए, पाचित्तिय, पृ० २९८-९९; चुल्लवग्ग, ६/२/१४।
६. महावग्ग, ६/२१/३८।
७. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, ५/२/२२।

प्रकार गणिका वृत्ति भी समाज में जीविका के एक साधन के रूप में प्रचलित थी। इन दोनों की विशद चर्चाएँ हम पीछे सामाजिक संस्थाओं वाले अध्याय में कर चुके हैं।

कुछ प्रमुख उद्योग

पालि निकायों को देखने से अनेक शिल्पों और विद्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे उद्योग भी ज्ञात होते हैं, जिनसे मनुष्य अपनी जीविका चलते थे। किन्तु व्यक्तिगत गुण, कौशल, परिश्रम, शरीर के अंगों अथवा बुद्धि की चतुराई का उतना विशेष स्थान नहीं था, जितना इनमें लगाये जाने वाले धन का। उस धन के द्वारा कच्चे माल को जुटाना, शास्त्रीय पद्धतियों द्वारा उन कच्चे मालों को विभिन्न प्रकार के उपायों से औद्योगिक वस्तुओं के रूप में परिवर्तित करना, तैयार माल को बेंचना तथा उससे मुनाफा कमाना आदि महत्वपूर्ण थे। संक्षेप में उद्योगों का व्यापार-विनिमय, मूल धन, श्रम, उत्पत्ति और विपणन आदि सभी तत्त्वों से सम्बन्ध था। ऐसे अनेक उद्योगों की चर्चाएँ **सुत्तपिटक** में आती हैं। यद्यपि अधिकांश उद्योग हाथ के श्रम द्वारा ही चलते थे, किन्तु उस श्रम के साथ हस्त कौशल की जो विशेषताएँ उनमें दिखायी देती हैं, वे उन उद्योगों में लगे हुए लोगों के पुस्त-दर पुस्त कौशल और विशेष योग्यता के कारण ही सम्भव थीं। **सुत्तपिटक** कालीन पूर्वोत्तर भारत के प्रमुख उद्योगों में खान उद्योग या धातु उद्योग, अलंकार निर्माण उद्योग, वस्त्र उद्योग, मृदभांड निर्माण उद्योग, चर्मकार का उद्योग, लकड़ी का काम करने वालों का उद्योग, हाथी दाँत का काम करने वालों का उद्योग, मालाकारी तथा सुगन्धित द्रव्यों के उत्पादन का उद्योग आदि सम्मिलित थे। अगले पृष्ठों में विभिन्न उद्योग-धन्धों का एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

खान उद्योग अथवा धातु उद्योग—लोहा

धातु उद्योग में अनेकानेक लोग लगे हुए थे, जिन्हें लोहार, स्वर्णकार और कसेरा कहा जाता था। इन सबमें प्रमुख लोहार होते थे, जो लोहे से सम्बन्धित कार्य करते थे। **सुत्तपिटक** से लोहा और उसके तकनीकी ज्ञान तथा उसे पिघला कर उससे विविध औजारों के बनाने की एक विकसित प्रणाली का आभास मिलता है। **सुत्तनिपात**^१ हल और उसमें लगे हुए फाल का उल्लेख करता है। डी० डी० कोसाम्बी^२ महोदय के विचार में यह फाल लोहे का ही था। उनका यह विचार

१. न खो पन मयं पस्साम मो तो गोतमस्स युगं वा नङ्गलं वा फालं वा पाचनं वा । कासिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात, सुत्त सं० १/४ ।

२. कोसाम्बी, डी० डी०, दि विगिनिग्स् ऑफ् आयरन् एज इन् ऐशियेंड इण्डिया, जर्नल ऑफ् दि इकॉनॉमिक् ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ् दि ओरियेंट, जिल्द ६, भाग ३, पृ० ३०९ और आगे ।

पूर्णतया ठीक प्रतीत लगता है, क्योंकि सूत्र की उपमा से यह स्पष्ट है कि फाल को दिन भर तपाकर पानी में डालते थे। यदि कांसे के साथ ऐसा किया जाय तो वह काफी कमजोर और व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि कांसा एक मुलायम धातु है। प्रत्युत् लोहा जिस कच्चे रूप में खान से निकाला जाता है, उसे किसी भी प्रकार क्यों न साफ किया जाय, वह लोहा बुलबुलेदार, स्पंज जैसा और एक पिण्ड के रूप में ही बना रहता है। बार-बार तपाकर और गरम अवस्था में जल्दी से जल्दी पानी में डुबोकर कड़ा करने के बाद ही उससे इस्तेमाल करने योग्य किसी भी प्रकार का औजार निर्मित किया जा सकता है।

भारतवर्ष में लौह युग का प्रारम्भ कब हुआ, यह विद्वानों के बीच समस्या का विषय है। प्रायः ईसवी पूर्व की पहली सहस्राब्दी के प्रारम्भ में इसकी शुरुआत मानी जाती है। परन्तु व्यापक रूप से इसके तकनीकी प्रयोग और उसके माध्यम से किसी प्रकार के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन में कई शताब्दियों का समय लगा होगा। जो भी हो इस विषय में कोसाम्बी महोदय का यह तर्क ठीक प्रतीत होता है कि “कांसभारद्वाजसुत के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मगध और उसके आसपास के क्षेत्रों में लगभग ५०० ईसवी पूर्व में खेती के लिए लोहे के फाल का प्रयोग प्रारम्भ होने लगा होगा।” इस सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुत्तपिटक कालीन मगध का क्षेत्र, जो वर्तमान समय का बिहार राज्य और मिर्जापुर का क्षेत्र है, आजकल भी कच्ची धातु के रूप में लोहे का प्राप्तिस्थल है।

लोहे का काम करने वालों को कम्मार कहा जाता था। परन्तु श्रीमती रीज्-डेविड्स^१ के मत में सभी धातुओं का काम करने वाले इसी वर्ग में थे और इसी नाम से सम्बोधित होते थे। लोहार लोग, लोहे के बड़े-बड़े पात्रों का निर्माण करते थे। इसी प्रकार निर्मित एक बड़े पात्र में तेल भरकर बुद्ध के पार्थिव शरीर को रखा गया था।^२ लोहे को साफ कर उसे मजबूत बनाकर उससे विविध औजारों का निर्माण किया

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जि० १, पृ १८३।

२. आयसाय तेल दोणिया पक्खिपित्वा जिज्स्सां आयसाय दोणिया पटिकुजित्वा। दीघनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, द्वितीय, ३/२४/१०३; बुद्धघोष ने ‘आयसाय’ शब्द को सोने के अर्थ में प्रयुक्त किया है। मूलतः अयस् शब्द का प्रयोग कांसे के लिए होता था, परन्तु बाद में यह लोहे के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। रीज्डेविड्स ने भी आयस् शब्द को लोहाबोधक ही माना है। देखिए, डायलॉग्स ऑफ़ हि बुद्ध, द्वितीय संस्करण, पृ० १५५, पदसंकेत ४।

जाता था ।^१ इन औजारों में युद्ध में प्रयुक्त होने वाले हथियार और सैनिकों के पहनने के कवच भी शामिल थे। सूचि जातक (सं० ३८७) के अनुसार लोहे की सुई इतनी महीन बनायी जाती थी कि वह लोहे, ताँबे और कांसों की फलकों में आसानी से छिद्र कर सकती थी। वाद्ययंत्रों के तार = तंत्री भी लोहे के ही बनते थे।^२ कम्मारों द्वारा लोहे से निर्मित अन्य वस्तुओं में फलक, कुल्हाड़ी, कुदाल, हथौड़े और बांस काटने के हथियार, हँसिया; तलवार, लोहध्वज, खूँटी और लोहे की तीन-मुंहीं आरी होती थी।^३ दीघ और मज्झिम निकायों की उपमाओं में अच्छे लोहे की क्या पहचान होती है, इसका वर्णन किया गया है।^४ जातकों^५ में लोहा गरम करने वाले स्थान को अंगारकप्पल कहा गया है।

लोहे के बाण भी बनाये जाते थे। बाण बनाने वालों को उमुकार या इसकार कहा जाता था। ये उमुकार बड़ी दक्षता से बाण^६ बनाते थे। धम्मपद^७ में एक उमुकार द्वारा बिल्कुल सीधा तीर बनाने की प्रशंसा की गयी है।

लोहारों का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक होता था। निकायों में पूरी तरह उनक आबादी से बसे हुए एक कम्मार गाँव का उल्लेख मिलता है। रतिलाल^८ मेहता के मत में अंगारिक समुदाय भी धातुकारों का ही एक वर्ग था। धम्मपद^९ में जंग लगकर लोहे के नष्ट होने का भी उल्लेख है।

१. जातक फॉसवॉल, जि० २, पृ० २४५।

२. वहीं, जिल्द २, पृ० २४९।

३. बासि फरसु कुदाल निखादन भुट्टिक वेलुगम्मच्छेदन सट्ठितिलायन असि लोहदण्ड खानुक अयसि मघाटक। जातक, फॉसवॉल, जि० ५, पृ० ४५।

४. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, १०/२/२९; मज्झिमनिकाय, तृतीय ५/२/१२; थेरगाथा, ७१४ में अच्छी तरह से तपाये गये (सुतत्त-अयोगुल) लोहे का उल्लेख है।

५. जातक, फॉसवॉल, जि० १, पृ० ६६।

६. सेय्यथापि भिक्खवे, उमुकारो तेजं द्वीसु अलातेसु आवापोति पारितापोति अनुं करोति कम्मनीयं। म० नि०, नालंदा पालि प्रकाशन, तृ० १/३/१२।

७. उजं करोति मेधावी उमुकारो व तेजणं। धम्मपद, श्लोक सं० ३३।

८. दीघनिकाय, पाटोसो, जिल्द २, पृ० ८८; जातक, फॉसवॉल, जिल्द ५, पृ० ४२४।

९. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९९।

१०. आयसा'व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तयेव खादति।

धम्मपद, श्लोक सं० २४०।

लोहे के अतिरिक्त कांसा, ताँबा और अन्य धातुओं के उल्लेख भी निकायों में प्राप्त होते हैं। सुत्तनिपात^१ में कांसे के बड़े पात्र का वर्णन मिलता है। मज्झिमनिकाय^२ में यह उल्लेख है कि कांसे के बर्तन (थाली) का किस प्रकार उपयोग किया जाता था। वहाँ एक नहापक (स्नान कराने वाले सेवक) का वर्णन है, जो स्नानचूर्ण को कांसे की थाली में सानकर रखता था।^३ कंसेरों को भी कम्मार मूल के प्रतिनिधियों के रूप में ही गिना गया है। कांसे की ही तरह ताँबे के भी बर्तन बनाये जाते थे। ताँबा साफ करने के लिए अम्ल का प्रयोग किया जाता था।^४ ताँबे और कांसे से बने बर्तन मूल्यवान् समझे जाते थे और मुख्यतया गृहस्थों द्वारा ही प्रयुक्त किए जाते थे।^५ इस प्रकार के बर्तनों का निर्माण करने वालों को केसपत्थरिका कहते थे।

बहुमूल्य धातुएँ और अलंकार निर्माण उद्योग

सुवर्ण = सुवर्ण, चांदी = रुपिय, मणि = बिल्लोर = वेलुर, फलिक = स्फटिक आदि धातुएँ मूल्यवान् समझी जाती थीं। इनका प्रयोग अलंकार और बहुमूल्य पात्रों के निर्माण में होता था। सुवर्णकार और मणिकार बहुमूल्य धातुओं का काम करते थे।^६ दक्ष सुवर्णकार और उनके अन्तेवासी शुद्ध और अच्छी तरह से साफ किए गये सोने से ही विभिन्न वस्तुओं का निर्माण कर अपनी योग्यता प्रदर्शित करते थे।^७ जम्बू नदी के कछार से प्राप्त सोने को गलाकर साफ करते हुए, तदुपरांत उसपर सुन्दर पालिश करते हुए, उसे एक कपड़े पर बिछाकर राजा के लिए एक बढ़िया आभूषण बनाते हुए, ऐसा आभूषण जिसकी चमक चारों ओर फैल जाती है, एक स्वर्णकार के पुत्र का मनोहारी वर्णन प्राप्त होता है।

२. महविद्या कंसपातिया पायासं बट्ठेत्वा भगवतो उपनामेसि।

सुत्तनिपात, सुत्त सं० १/४, पृ० २१।

१. मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम ५/१/४।

२. वहीं, द्वितीय, २७/३/१७।

३. अंबिलद होतं वियततम्बमलं। जान्क, फॉसबॉल, जि० ५, पृ० ९५।

४. थेरगाथा, ९७ और ८६२ में कांसे और सुवर्ण के पात्रों की चर्चा है।

५. जातक, जिल्द ४, पृष्ठ २२३, गाथा ५२; जिल्द ५, पृ० ४३८-४३९।

६. दक्खो सुवर्णकारो वा सुवर्णकारन्तेवासी वा सुपरिकम्मकतस्मि चदेव सुवर्ण विकर्ति आकड़ खेय्यं तं तदेव कोय्यं अभिनिष्कादेय्यं। म० नि०, नालंदा पालि प्रकाशन, द्वि०, २७/३/२०।

७. मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जि० ३, पृ० १०२; अंगुत्तरनिकाय, पाटेसो०, जि० १, पृ० १८१। मूल संदर्भ इस प्रकार है—नेक्खम् जम्बोदनम् दक्ख कम्मरपुत्ते उल्कामुखे संकुलसंभट्ठनं पंडुकंबले निवित्तं भासति च तपति च विरोचति च।

धम्मपद^१ की एक उपमा से ज्ञात होता है कि कम्मर = सुवर्णकार बारी-बारी से चाँदी के मँल को साफ करता था। यह सफाई सम्भवतः किसी अम्ल की सहायता से होती थी। **मज्झिमनिकाय**^२ में सोना साफ करने और पिघलाने की विधि का वर्णन किया गया है।

सोना नदी के तटों और खानों से निकालकर प्राप्त किया जाता था।^३ सोने की दुकानों को **सवहानिकिटणानि** कहा जाता था और स्वर्णकारों को मादक द्रव्यों के उपयोग से विरत रहने को कहा जाता था।^४ रतिलाल मेहता^५ महोदय के मत में शुद्ध सोने के बने आभूषणों के व्यापारिक महत्त्व के कारण ही अलंकार निर्माण की परम्परा शुरू हुई। निकायों^६ से हमें जनसाधारण में प्रचलित विभिन्न आभूषणों के नामोल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

वस्त्र उद्योग

उद्योगों में खान उद्योग के बाद कदाचित् सर्वप्रमुख स्थान वस्त्र उद्योग का था। वस्त्रों के विभिन्न प्रकार थे, जैसे क्षौम, कप्पासिक = सूतीवस्त्र, कोसेय = रेशमी वस्त्र, कंबल, साणम् और भग = घासों से बने वस्त्र।^७ कपास से बने हुए धुस्सा और कपास के सूत, क्षौमसूत अथवा क्षाणसूत के उल्लेख **दीघनिकाय**^८ में आते हैं। वस्त्र निर्माण के पूर्व सन, क्षौम और कपास की विधिवत् सफाई करके उनका सूत काता जाता था और तैयार सूत से वस्त्र बुना जाता था।^९

वस्त्रों को बुनने के बाद उनकी रंगाई भी की जाती थी। चतुर रंगरेज (रजक), नीला, पीला, लोहित (लाल) और मजीठ रंग में कपड़ा रंगता था।

१. कम्मरों रजवस्सेव निद्धमे मलमत्तनो। धम्मपद, श्लोक सं० २६२।
२. उत्कामुखं वा पनागम्म जातरूपं परिसुद्धं होति परियो दातं। म० नि०, नालंदा पालि प्रकाशन, प्र०, ७।३।७; तृ०, ४०।२।१७।
३. देखिए, २० चं० मज्झिमदार, क्लासिकल् एकाउन्ट्स ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३-४; ई० आर० वेवन, इण्डिया इन् अर्ली ग्रीक ऐण्ड लैटिन लिटरेचर; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जिल्द १, पृ० ३५६।
४. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० १७७, ३५१, ४७९; जि० २, पृ० ६।
५. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९८।
६. मज्झिमनिकाय, पाटेशो०, जि० ३, पृ० २४३; अंगुत्तरनिकाय, पाटेशो०, जि० ३, पृ० १६; जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३५१; जि० २, पृ० ६।
७. कस्सप-सीहनादमुत्त, दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ६३।
८. वहाँ, तृतीय, नालंदा पालि प्रकाशन, १०।२।३१।
९. विनयटेक्स्टस्, प्रथम संस्करण, पृ० २५।

खराब वस्त्रों की रंगाई कम की जाती थी, क्योंकि ऐसे वस्त्र रंगने के बाद भी अपने मूल रूप में अशुद्ध होने के कारण बदरंग ही रहते थे। परन्तु इसके विपरीत धवल वस्त्र रंगे जाने पर शुद्ध वर्ण का हो जाता था और उसकी चमक बढ़ जाती थी, क्योंकि वह मूल रूप में भी शुद्ध होता था।^१

सुत्तपिटक से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनेक प्रकार के उत्तम, विलासी और चित्रित वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।^२ तपस्वी श्रमणों और ब्राह्मणों के लिए सन के वस्त्र, धुस्से, चीथड़ों से तैयार किये गये वस्त्र (पंसकूलानि), किरिटी की बाल के बने वस्त्र, मृगछाल के बने वस्त्र (अजिन्), कुसचीर, वाकचीर (छाल), फलकचीर, केसकम्बल (मनुष्य के बाल से निर्मित वस्त्र), घोड़े की पूँछ के बाल से बने वस्त्र (बाल कम्बल) उल्लू के पंख से बने वस्त्र आदि थे।^३ स्वर्णजटित रेशमी वस्त्र भी बनाये जाते थे। इन रेशमी वस्त्रों को राजघरानों में बहुत सम्मान प्राप्त था, जबकि जनसाधारण सामान्य प्रकार के वस्त्रों का ही उपयोग करता था।^४ राजा लोगों की टोपी भी स्वर्णजटित होती^५ थी। साथ ही, उनकी सवारी के लिए जो हाथी होते थे, उन्हें भी स्वर्णजटित आभूषणों तथा वस्त्रों से सुसज्जित किया जाता था।^६ रेशम से सिर्फ वस्त्रों का

१. सेय्यथापि, भिक्खवे, वत्थं सड्कलिट्ठं कलगहिंवं, तमेनरजको यस्मिं यस्मिं रड-गजाते उपसंह। रेय्यं यदि नीलकाय, यदिपीतकाय, यदिलोहितकाय, यदिमज्जिट्ठकाय दुरस्ववण्णमेवस्से अपरिसुद्ध वण्णमेवस्स। सं किस्सहेतु। अपरिसुद्धता, भिक्खवे वेत्थस्स वत्थं परिसुद्धं परियोदांव, त मेनरजको यस्मिं यस्मिं रड गजाते उपसंहारेय्यं यदि नीलकायसुरत्तपण्ण मेवस्सपरिसुद्धपण्णमेवस्स। तं किस्सहेतु। परिशुद्धता भिक्खवे वत्थस्स। मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, ७।१।१। रंगाई के उपयुक्त रंगों और रंगने की अन्य विधियों की जानकारी हेतु देखिए, कृष्णकान्त त्रिवेदी का पूर्वनिर्दिष्ट शोध प्रबंध।
२. दीघनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १।२।१५; मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १।२।६।१४।
३. दीघनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १/२/१५; मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १२/६/१४; अंगुत्तरनिकाय, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २४८ और ३०४।
४. जातक, फॉसबॉल, जि० ३, पृ० ३८६; जि० ६, पृ० ४१।
५. वहीं, जि० १, पृ० ३२२, गाथा ११९ (कञ्चनपट्ट)।
६. वहीं, जि० ६, पृ० ४०४, गाथा ६० (नागे हेमकप्पमवासे)।

ही निर्माण नहीं किया जाता था, बल्कि उससे बहुमूल्य और मुलायम धागों को निर्मित कर उनसे कम्बल, आस्तरण और कालीन आदि भी तैयार किये जाते थे।^१

कभी-कभी समाज के समृद्ध वर्गों के उपयोग हेतु रेशमी वस्त्रों को पशु आदि के चित्रों द्वारा चित्रित भी किया जाता था।^२ रेशम के कच्चे धागे से लेकर उनके वस्त्र बनाने तक की तकनीक की एक अच्छी जानकारी बुद्धकालीन बुनकरों को थी। यद्यपि सूत कातने के यन्त्र चरखा का किसी भी प्रकार का उल्लेख मुत्तपिटक में नहीं आता, इस बात में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि इसका अस्तित्व बुद्धकाल में अवश्य रहा^३ होगा। सूत कातना एक प्रकार का घरेलू उद्योग था तथा स्त्रियाँ मुख्य रूप से इस कार्य को करती थीं। उनका यह गृहकार्य^४ था। एक जातक कथा में स्त्रियों के इस कार्य को “इत्थिनकप्पास पोत्थनधानुका” कहा गया है। जातकों^५ की सूचनानुसार बुनकर अपने कार्य से सन्तुष्ट रहते थे। वस्त्र व्यावसायियों को^६ दुस्सिक कहते थे।

बुद्धकाल में काशी के बने वस्त्र बहुत प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बानसुत्त और संगीतिपरियायसुत्त में काशी के दोनों तरफ से नीले रंग से रंगे वस्त्रों का उल्लेख आया है।^७ काशी के बने वस्त्रों में कासी क्षौम, कासिय कौसेय, कासीय-कुत्तम् आदि ज्यादा प्रसिद्ध थे। यहाँ के बने कीमती और कोमल वस्त्रों की कीमत दस हजार सिक्कों (कहापण) के रूप में आँकी जाती^८ थी। उत्तम वस्त्रों का निर्माण

१. वहीं, जि० १, पृ० १९०, ३०४; जिल्द० २, पृ० ६८, २७४; जिल्द ६, पृ० १८६, १९१, २८० (वरपोत्थकत्थरणं)।

२. दीघनिकाय, प्रथम, नालन्दा पालि प्रकाशन, १/२/१८।

३. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९५, पदसंकेत ८।

४. तथापि तन्ते वितते, यं यं देव युप वियति। अपकम्मं होतिवेतब्बं। जातक, फॉसबॉल, जि० ६, पृ० २६, गाथा १०५; और देखिए, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १९०; तुलनीय रामगोपाल, इण्डिया ऑफ़ दि वेदिक कल्पसूत्रज्ञ, पृ० १३७। कल्पसूत्र से चरखे से काते सूत और उससे बने वस्त्र की सूचना प्राप्त होती है।

५. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३५६ (तन्तवायलामककम्म)।

६. वहीं, जि० ६, पृ० २७६, गाथा ११९७।

७. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, सूक्तसंख्याएँ क्रमशः २/३ और ३/१०।

८. सिंह मदनमोहन, लाइफ़ इन् नार्थ ईस्टर्न इण्डिया इन् प्री मोर्यन् टाइम्स, पृ० २०९।

काशी के अतिरिक्त श्रावस्ती, कोशाम्बी, राजगृह, चम्पा, वैशाली, मिथिला, कुसिनारा आदि नगरों में भी होता था, जहाँ घरेलू उपयोग और विदेशी बाजारों के लिए उपयुक्त वस्त्रों का निर्माण एक बड़ी मात्रा में किया जाता था।^१

मृद्भांड-निर्माण उद्योग

धातु और वस्त्र उद्योगों के बाद **मुत्तपिटक** कालीन पूर्वोत्तर भारत के लोगों का प्रमुख उद्योग मृद्भाण्ड निर्माण उद्योग था। तत्कालीन समाज में यह उद्योग अपने चरमोत्कर्ष रूप में व्यवस्थित था। **मज्झिमनिकाय**^२ में एक जगह कहा गया है कि कुम्भकार और उसका अन्तेवासी अच्छी तरह से घोट्टी हुई मिट्टी (सुपरि-कम्मकत्तायमत्तिकाम्) से आवश्यकतानुरूप बर्तन निर्मित करते थे, जो कई प्रकार की श्रेणियों में विभक्त होते थे तथा जिनका उपयोग राजा से लेकर जनसाधारण तक करता था।^३ कुम्भकार कटोरों, सुराही, घड़ों और अन्य छोटे अथवा बड़े आकार वाले बर्तनों को बनाते थे। इनका कार्यस्थल गाँव के बाहर होता था जहाँ पर उन्हें अच्छी प्रकार की कच्ची मिट्टी बहुतायत से प्राप्त होती थी। साथ ही वे ऐसी जगहों में अपने उद्योगों का विस्तार भी कर सकते थे। सम्भवतः इसी कारण मृद्भांड का विक्रय करने वाले व्यापारियों की भी बस्तियाँ नगर के बाहरी क्षेत्रों में विकसित और स्थापित हुईं।^४ जातकों में कुम्भकारों द्वारा अपने उत्पादित सामान बाजारों में ले जाकर बेचने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^५

कुम्भकारों की बर्तन बनाने की तकनीक का उल्लेख हमें जातकों^६ में प्राप्त होता है। गीले बर्तनों को धूप में सुखाकर (सूखापेत्वा) और आँवे में पकाकर ग्राहकों को बेचा जाता था। कुछ कुम्भकार कलाकार या चित्रकार भी होते थे, जो बर्तनों पर विभिन्न प्रकार की चित्रकारी कर अपनी कला का परिचय देते

१. कासीकं चमुद्वत्थम्, जातक, फॉसबॉल, जि० २, पृ० ४४३, गाथा १४१; सतसहस्सगह्निकम्। वहीं, जि० ३, पृ० १०।
२. सेय्यथापि, उदायि, दवल्लो कुम्भकारान्तेवासी वा सुपरिकम्मकत्ताय मत्तिकाय यं यदेव भाजनविकर्त्ति आकडखेय्य तं तदेव करेय्य अभिनिष्कादेय्य। मज्झिम-निकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, द्वितीय, २७/३/२०।
३. जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० २०५; जि० २, पृ० ८९; जि० ३, पृ० ३६८, ३७८, ३८५, ५०८; जि० ५, पृ० २९१; जि० ६, पृ० ५२०।
४. वहीं, जि० २, पृ० ८०; जि० ३, पृ० ३७६।
५. वहीं, जि० ६, पृ० ५२०।
६. वहीं, जि० २, पृ० ८०; जि० ३, पृ० ३८५, ५०८; जि० ५, पृ० २९१।

थे।^१ रतिलाल मेहता^२ के मत में कुम्भकारी की कला भारत की एक प्रतिष्ठित कला थी।

बच्चों के मनोरंजन हेतु कुम्भकार खिलौनों का भी निर्माण करते थे। मज्जिम-निकाय^३ में बंकक=पंखा, घटिक=घड़ियाँ, मोक्खचिक=मुँह का लट्ट, चिंगुलक=चिंगुलिया, पात्र आढक=खिलौने वाला तराजू, रथक=रथ के समान छोटी गाड़ी और धनुक=धनुही जैसे खिलौनों का उल्लेख आता है। वहीं पर इन खिलौनों के रंगे जाने का भी उल्लेख है। कुम्भकारों द्वारा ये खिलौने बाजारों में बेचे जाते थे।^४

मुत्तपिटक कालीन कुम्भारों द्वारा निर्मित बर्तनों की तुलना उत्खनन से प्राप्त उन बहुचर्चित और प्रसिद्ध नार्दन, ब्लैक पॉलिशड^५ वेयर से की जा सकती है, जो श्रावस्ती, कौशाम्बी, राजघाट और वैशाली की खुदाइयों से बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि एन्० बी० पी० वेयर और मुत्तपिटक कालीन बर्तनों को एक ही मानने के लिए हमारे पास किसी भी प्रकार के साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण तो नहीं है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि एन्० बी० पी० वेयर का, जो सुन्दर, मजबूत, पालिशदार और टिकाऊ होते थे और जिनका रख-रखाव बहुत अच्छी तरह से होता^६ था, बुद्धकालीन विभिन्न पात्रों से थोड़ा सामञ्जस्य हो सकता है। किन्तु बिना किसी स्पष्ट प्रमाण के निश्चित रूप से कुछ कहना असंभव ही है।

१. जातक, फॉसबॉल, जि० ५, पृ० २९१।

२. प्रो बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २००, पदसंकेत ९।

३. कुमारो बुद्धि मन्याय.....यानि तानि कुमारकानं कीलापन कानि तेहि कीलति, सेय्यथीदं—वङ्ककं, घटिकं मोक्खच्चिकं चिङ्गुलकं पत्ता लहकं रथकं धनुकं—। मज्जिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, ३८/३/१३; अंगुत्तरनिकाय, जिल्द ४, कलकत्ता, हिन्दी अनुवाद, पृ० २४८।

४. मज्जिम निकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, ६।०।२०।

५. एन्० बी० पी० वेयर के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए; नारायण, ए० के०, एक्स्क्वेडन्स् ऐट राजघाट, जिल्द २, पृ० २५ और आगे।

६. राय, सीताराम का शोधपत्र, नार्दन, ब्लैक पॉलिशड वेयर इन् बिहार पॉटरी इन् ऐंथियेंट इण्डिया, सम्पादित, सिन्हा, बी० पी०, पृ० १७१।

सुत्तपिटक कालीन पूर्वोत्तर भारत के प्रचलित अन्य उद्योगों में काष्ठ उद्योग का भी प्रमुख स्थान था। काष्ठ से बनने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण काष्ठकार या बढ़ई लोग करते थे, जिनके लिए सुत्तपिटक में वड्डकिया दारु-कम्मिक शब्द का प्रयोग हुआ है। ये लकड़ी के छोटे से छोटे सामान से लेकर बड़े से बड़े वाहनों तक का निर्माण करते थे, जो उनकी कला-कुशलता के परिचायक होते थे। मज्झिमनिकाय^१ में इनके कार्य की प्रशंसा में कहा गया है कि ये छोटे-छोटे टुकड़ों की विभिन्न वस्तुएँ बनाकर कुशलतापूर्वक उनकी रँगाई करने में दक्ष होते थे।

समुद्वणज जातक^२ में बढ़इयों द्वारा एक बड़े समुद्री जहाज के बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अलीनचित्त जातक^३ से वाराणसी के समीप एक बड्डकि-गाम होने का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ पर वड्डकि लोग सामूहिक रूप से निवास करते थे। अंगुत्तरनिकाय^४ के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन बढ़इयों के नाम के साथ कभी-कभी “गहपति” शब्द भी प्रयुक्त होता था, जो उनकी सम्पन्नता का बोध कराता है। रथ के पहिये का निर्माण करने वाले बढ़ई को यानकार की संज्ञा दी जाती थी।^५ धम्मपद^६ में लकड़ी के खुरदुरे भाग को खराद-कर चिकना बनाने वाले को “तच्छका” कहा गया है।

इन बढ़इयों के प्रमुख कार्यों में साधारण और बड़े-बड़े स्तंभों से युक्त भवनों का निर्माण सम्मिलित था।^७ ये खूंटियों की सहायता से केवल लकड़ी से ही निर्मित प्रासाद या महलों की रचना करते थे,^८ तथा दरवाजों में प्रयुक्त होने वाली कीलों के लिए लकड़ी को छीलकर आकार देते थे^९। इनके अन्य कार्यों में जनसाधारण व सम्भ्रान्त लोगों की विभिन्न प्रकार की पादुकाएँ तैयार करना, विभिन्न प्रकार के

१. सेय्यथापि, भिक्खवे, दक्खे ममकारी, वा ममकारन्तेवासी वा दीघं वा अञ्छन्ती, दीघं अञ्छामी’ति पजानाति रस्सं वा अञ्छन्ती रस्सं अञ्छामी’ति पजानति। मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, १०/२/४।

२. जिल्द ४, सं० ४६६।

३. जातक, फॉसबॉल, जि० २, पृ० १८।

४. अंगुत्तरनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, तृतीय, ६/६/५।

५. मज्झिमनिकाय, नालंदा पालि प्रकाशन, प्रथम, ५/४/२५।

६. दारुमन्तिच्छका। धम्मपद, श्लोक ८०; और देखिए, थेरगाथा, १९।

७. मज्झिमनिकाय, प्रथम, २८/२/१३।

८. वही, १२/६/१४; जातक फॉसबॉल, जि० ४, पृ० १५९; जि० ५, पृ० ४२७।

९. तच्छन्तो थाणिया आणि...। थेरगाथा, ७४४।

पलंग आदि का निर्माण, जिनमें चाँदी, सोना, स्फटिक आदि जड़ा जाता था,^१ और मञ्च, कुर्सी, आसन = पीठ आदि बनाना सम्मिलित थे। ये कई प्रकार के रथों^२ और विभिन्न यंत्रों^३ का भी निर्माण करते थे।

लुब्धकों और विभिन्न प्रकार के शिकारियों द्वारा जो पशु शिकार में मारे जाते थे, उनके चमड़ों से चर्मकार का उद्योग चलता था। चर्म उद्योग को बौद्ध साहित्य में हीन कोटि में रखा गया है। चर्मकार मृत पशुओं के बाल और पंखों आदि की सफाई करके उनके चमड़ों की सहायता से बढ़िया जूते और जाड़े के वस्त्रों का निर्माण करते थे। चर्मकारों द्वारा निर्मित जूते बहुत कलापूर्ण बनते थे और इनके लिए सिंह, व्याघ्र, चीता और लकड़बग्घा, मृग, उदबिलाव, बिल्ली तथा अन्य थलचर जंतुओं की खालों का उपयोग किया जाता था।^४ खाल से निर्मित इन जूतों का उपयोग गृहस्थों द्वारा ही किया जाता था। जूतों के अतिरिक्त चर्मकार, चमड़े के थैले (चम्ममस्त), सैकड़ों तह वाली ढाल, चमड़े का छाता आदि भी बनाते थे।^५ तलवार की म्यान, जाल बनाने की रस्सी व फंदा आदि बनाना चर्मकारों का उत्कृष्ट कार्य समझा जाता था।^६

अन्य प्रमुख एवं कलात्मक उद्योगों में हाथीदांत का उद्योग बहुत महत्वपूर्ण था। दीघनिकाय^७ में कुशल दंतकार और उसके अन्तेवासी द्वारा शुद्ध दांत से इच्छित वस्तु बनाने की सूचना मिलती है। हाथीदांत का उपयोग मूल्यवान् चित्रकारी करने, गहने बनाने, दर्पण की मुँठ और रथों आदि को सजाने के लिए होता था।^८ दातों की प्राप्ति के लिए हाथियों का शिकार किया जाता था और अच्छा दाँत प्राप्त करने के लिए हाथियों को जीवित ही पकड़ा जाता था।

-
१. संयुक्तनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, तृतीय, २२/९६/१०६।
 २. जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० २०७।
 ३. वहीं, जि० ५, पृ० २४२।
 ४. महावग्ग, ५/५/११।
 ५. जातक, फॉसबॉल, जि० ५, पृ० ४५; जि० ६, पृ० ४५४।
 ६. वहीं, जि० १, पृ० १७५; जि० २, पृ० १५३; जि० ३, पृ० ११६; जि० ४, पृ० १७२, जि० ५, पृ० ४७; १०६, ३७५।
 ७. दीघनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, २/५/९०।
 ८. जातक, फॉसबॉल, जि० ५, पृ० ३०२; गाथा ३७; जि० ६, पृ० २२३; गाथा ९६४।

सम्भवतः जीवित हाथी का दाँत मृत हाथी के दाँत से अच्छा होता था ।^१ काशी हाथी दाँत के व्यापारियों का एक प्रमुख केन्द्र थी । वहाँ पर इनकी एक विशेष बस्ती बनी थी, जिसे दंतकार-वीथि कहते थे ।^२

विभिन्न प्रकार की सुगन्धों और इत्रों के निर्माण का ज्ञान पालि निकायों के कई स्थलों से होता है । इन सबमें सर्वप्रमुख था चंदन का इत्र बनाना । चंदन की लकड़ी को पीसकर उससे तेल निकाला जाता था और उसे अकलू में मिलाकर सम्पन्न लोगों के लिए स्नान के बाद लगाया जाने वाला लेप बनाया जाता था ।^३ थेरोगाथा^४ से यह ज्ञात होता है कि काशी में बनने वाले चंदनचूर्ण की बड़ी प्रसिद्धि थी ।

दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय और धम्मपद से मालाकारों और उनके उद्योग की सूचनाएँ मिलती^५ हैं । ये मालाकार विभिन्न प्रकार के पुष्पों की मालायें बनाकर बेचते थे, जो उत्सव-विशेषों पर अधिकता से प्रयोग में लायी जाती थीं । मालाकारों का उद्योग बहुत विस्तृत था और बहुत से लोग इससे अपनी जीविकाएँ चलाते थे ।

प्रमुख पथ और आवागमन के केन्द्र स्थान

पूर्वोत्तर भारत में कोशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली चम्पा, श्रावस्ती, साकेत, कपिलवस्तु, पावा, कुसिनारा, अनुपिया और अयोध्या जैसे अनेकानेक नगरों का एक दूसरे से आपस में व्यापारिक और साधारण पथों द्वारा एक जुड़ा हुआ ऐसा स्वरूप था, जो उनकी सुख-समृद्धि का कारण बना । यद्यपि इन विभिन्न नगरों से उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला; उत्तर में कन्नौज; पश्चिम में मथुरा, भगुकच्छ और कल्याण; दक्षिण में उज्जैन और प्रतिष्ठान और दक्षिणपूर्व में उड़ीसा और ताम्रलिप्ति जैसे स्थान भी स्थलीय मार्गों द्वारा जुड़े

१. वहीं, जि० १, पृ० ३२; जिल्द २, पृ० १९४; जि० ५, पृ० ४५-४९; जि० ६, पृ० ६१, गाथा २६१ ।

२. वही, जि० १, पृ० ३२०; जि० २, पृ० १९७ ।

३. वहीं, जि० २, पृ० १८१; जि० ३, पृ० १६०, ५५२; जि० ५, पृ० १५६, ३०२; जि० ६, पृ० १४४-३३५ ।

४. हरिचंदन लिप्तङ्ग कासिकुत्तमधारिणि ।

तं मं रूपवति सन्ति कस्स मोह्माय गच्छसि ॥ थेरगाथा, २९९ ।

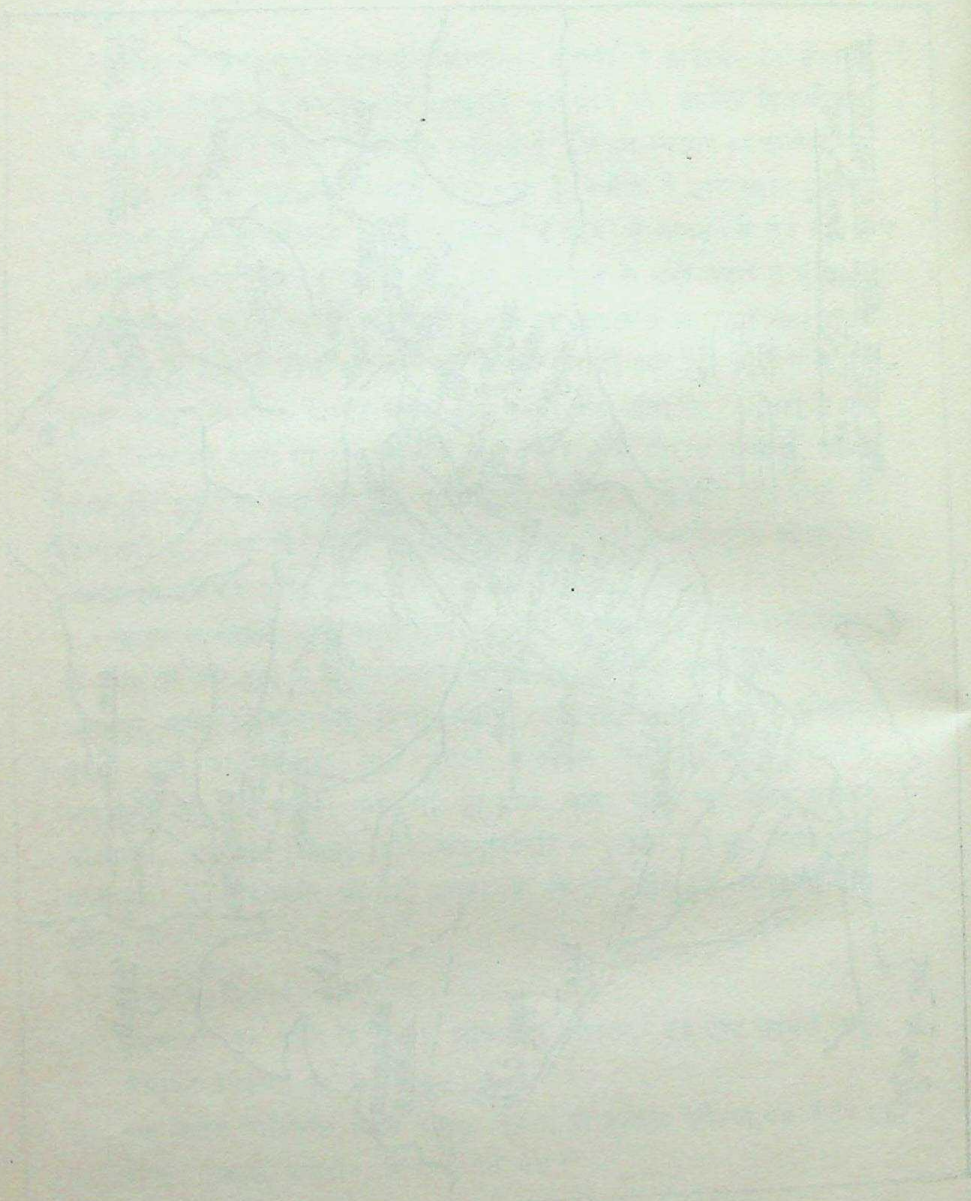
५. मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, ६/०/२२; दीघनिकाय, प्रथम, २/३/१४; धम्मपद, पुष्पवग्ग, श्लोक, सं० ५३ ।

हुए थे। यहाँ पर हम इन बाहर जाने वाले मार्गों का विवरण न देकर केवल उन्हीं पथों तक अपने को सीमित रखेंगे, जो पूर्वोत्तर भारतवर्ष की सीमा क्षेत्र में पड़ते थे।

रेवत नामक भिक्षु के सोरेय्य (आधुनिक सोरों) से प्रारम्भ कर संकाश्य, कान्यकुब्ज, उदुम्बर, अगगपुर और सहजाति तक जाने का उल्लेख विनयपिटक^१ में ज्ञात होता है। विद्वानों^२ का यह अनुमान है कि इन स्थानों का उल्लेख वहाँ पर रेवत भिक्षु के यात्राक्रम से नहीं दिया गया है, क्योंकि ये सारे स्थान पूर्वोत्तर भारतवर्ष के उत्तरो-पश्चिमी छोर पर स्थित थे और वे आपस में जुड़े होने के अतिरिक्त श्रावस्ती और वाराणसी होते हुए उत्तर-पूर्व के सभी नगरों से बँधे थे। साकल से एक मार्ग सम्भवतः हस्तिनापुर होते हुए कुशावती अर्थात् कुसिनारा तक जाता था,^३ जिसके बीच की दूरी सौ योजन बतायी गयी है। साकल से एक दूसरा रास्ता यमुना के किनारे होता हुआ मथुरा तक जाता था। मथुरा से एक मार्ग वेरंजा को जाता था।^४ एक बार बुद्ध ने वेरंजा से सोरेय्य, संकाश्य, कान्य-कुब्ज होते हुए तथा गंगा नदी को प्रयाग और प्रतिष्ठान के बीच पार करते हुए वाराणसी की यात्रा की^५ थी। धम्मपदटीका^६ से बुद्धकाल में सोरेय्य के व्यापारिक महत्त्व का परिचय प्राप्त होता है।

प्रयाग से वैशाली जाने वाला मार्ग भी बड़ा प्रसिद्ध था। गंगा और यमुना के संगम पर बसे होने के कारण प्रयाग जलीय मार्ग का एक प्रमुख केन्द्र था और श्रावस्ती, सहजाति, कौशाम्बी, वेरंजा, सोरेय्य, संकाश्य, कान्यकुब्ज और हस्तिना-पुर से आने वाले विभिन्न मार्ग प्रयाग में आपस में मिलते^७ थे। प्रयाग से वाराणसी को जाने वाला मार्ग या तो सीधे चला जाता था अथवा धूमकर कौशाम्बी, सहजाति (भीटा) और संसुमारगिरि = चुनार होते हुए जाता था। कौशाम्बी से वाराणसी की दूरी यमुना के किनारे होते हुए सम्भवतः तीस योजन थी।^८

१. पाटोसो, जि० २, पृ० २९९।
२. बुद्धचर्या, पृ० ५५९ से ५६१; श्रीवास्तव बलराम, ट्रेड ऐण्ड कामर्स, इन् ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० ६८।
३. कुश जातक, फॉसबॉल, जिल्द ५, पृ० २७८; प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ३८३।
४. अंगुत्तर निकाय, पाटोसो, जि० २, पृ० २७।
५. डिपापाने, जि० २, पृ० ३९०।
६. वहीं, जि० २, पृ० १३११।
७. विनयपिटक, पाटोसो, जि० ३, पृ० ११।
८. डिपापाने, जि० १, पृ० ६४२।



कौशाम्बी से कोसल होते हुए वैशाली और राजगृह के लिए रास्ते जाते थे । उज्जयिनी से चलकर राजगृह को जाते हुए जीवक कौमारभृत्य ने कौशाम्बी में अपना पड़ाव डाला था ।^१ आनन्द ने भी इस मार्ग का एक बार प्रयोग किया था ।^२ मलालशेखर^३ के अनुसार यह मार्ग अनूपिया होते हुए कौशाम्बी को जाता था । अनूपिया कपिलवस्तु के पूर्व में स्थित मल्लों का एक नगर था ।

बुद्धकाल के प्रधान श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक का नगर श्रावस्ती उस समय वाराणसी के बाद सम्भवतः दूसरा प्रमुख व्यापारिक नगर था । श्रावस्ती से कौशाम्बी होते हुए एक अन्य मार्ग दक्षिणापथ में गोदावरी के किनारे अश्मकों के क्षेत्र तक जाता था । सुत्तनिपात^४ के अनुसार बावारि के सोलह शिष्यों ने गोदावरी के किनारे आड़क से प्रारम्भ करके प्रतिष्ठान = पैठन, माहिष्मती, उज्जैन, गोनर्द्ध, विदिशा, वनसह्वय, कौशाम्बी और साकेत होते हुए श्रावस्ती की यात्रा की थी । श्रावस्ती के पूर्व में राजगृह तक भी एक रास्ता जाता था, जिसपर सेतव्या, कपिलवस्तु, कुसिनारा और पावा तथा वैशाली पड़ते थे ।^५

साकेत, राजगृह, कौशाम्बी, वाराणसी, आलवी संकाश्य, तक्षशिला, भृगुकच्छ, सुप्पारक, मच्छिकासण्ड, कुक्कुटावती और उगपुर जैसे अनेक नगर श्रावस्ती से सीधे जुड़े थे ।^६ जातकों^७ में प्रसिद्ध सेठ अनाथपिण्डिक के माल से लदे हुए भारी साथों के राजगृह और उसके भी आगे देश की सीमा तक उत्तर-पूर्व में जाने और वहाँ से लौटने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । अपनी व्यापारिक वस्तुओं को लादकर बाहर से ले आने वाले व्यापारी सम्भवतः जेतवन विहार और श्रावस्ती नगर के द्वार के बीच में ठहरते थे ।^८ धम्मपदटीका^९ से ज्ञात होता है कि उत्तर, दक्षिण और पूर्व में नगर के बीच तीन द्वार थे । उत्तरी मार्ग से निकलने वाला द्वार कपिलवस्तु और वैशाली होते हुए राजगृह जाता था । इस द्वार के किनारे अचिरावती नदी बहती थी, जिसे एक नौकापुल (उलुम्प) द्वारा पारकर नगर में प्रवेश

१. विनयपिटक, पाटेसो०, जि० १, पृ० २६७-२७८ ।

२. वहीं, जि० २, पृ० २९० ।

३. डिपापाने०, जि० १, पृ० ९२ ।

४. मूल और हिन्दी अनुवाद, पृ० २६१ ।

५. वहीं, श्लोक १०१२-१०१३; बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ६४ ।

६. डिपापाने, जि० २, पृ० ११२६; मज्झिमनिकाय, पाटेसो०, जि० १, पृ० २ ।

७. फॉसबॉल, जि० १, पृ० ९२, ३७७ और आगे ।

८. डिपापाने०, भाग २, पृ० ११२६ ।

९. हारवर्ड ओरियण्टल् सीरीज, जि० २८, भाग १, पृ० १८४ ।

किया जाता था । राहुलसांकृत्यायन के मत में इस द्वार को केवट्ट द्वार कहते थे, जहाँ मल्लाहों के पाँच सौ घरों की बस्ती थी और जहाँ का यातायात नदी द्वारा ही होता था ।^१ श्रावस्ती और कपिलवस्तु के बीच सेतव्या नगर पड़ता था जो चुल्लवग्ग, मज्झिमकाल और महाकाल नामक तीन व्यापारियों का निवास-स्थान था ।^२

यद्यपि बुद्ध का समय आते-आते काशी की राजनैतिक प्रतिष्ठा तो घट गयी थी और वह कोसलराज्य का एक अंग हो गया था, किन्तु उसकी राजधानी वाराणसी की आर्थिक प्रतिष्ठा उस समय के नगरों में सर्वाधिक थी । वह भारत-वर्ष की तत्कालीन महानगरियों में एक थी ।^३ निकायों में वाराणसी की आर्थिक सम्पन्नता के बार-बार उल्लेख आते हैं । वाराणसी के आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्ध केवल मध्यदेश तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि पश्चिम में तक्षशिला और गांधार; उत्तर में श्रावस्ती और साकेत; पूर्व में राजगृह और चम्पा और दक्षिण में भृगुकच्छ तक थे ।^४ यहाँ से श्रावस्ती जाने वाला मार्ग कीटागिरि होकर गुजरता था ।^५ वाराणसी के गंगानदी के तट पर बसे होने के कारण पूर्व में चम्पा, राजगृह और मिथिला जैसे नगरों से उसका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था ।^६

पूर्वोत्तर भारत के तीन सर्वाधिक प्रमुख नगर थे वैशाली, राजगृह और चम्पा ।^७ पश्चिम और उत्तर से इनको जोड़ने वाली तीन प्रमुख नदियाँ थीं— गंगा, सरयू और गंडक । आनन्द ने गंगा नदी द्वारा वैशाली से राजगृह और फिर कोशाम्बी की यात्रा की^८ थी । राजगृह से वैशाली जाने के लिए बुद्ध ने जिस मार्ग को अपनाया था, बिम्बिसार द्वारा उस मार्ग की मरम्मत कराये जाने का उल्लेख मिलता^९ है । यही मार्ग वैशाली से उक्काचेल होते हुए नालंदा तक चला

१. राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्वनिबंधावली, पृ० ३८ ।

२. वहीं, पृ० ३३; विमानवत्थु, द्वितीय २; उदान टीका, तृतीय, ३ ।

३. दीघनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १५२ ।

४. श्रीवास्तव, बलराम, ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० ७२ ।

५. वहीं, पृ० ७३ ।

६. वहीं; प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २२६ ।

७. वहीं; ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० ७४ ।

८. वहीं ।

९. धम्मपदटीका, हारवर्ड, ओरियण्टल् सीरीज़, जिल्द ३८, भाग ३, पृ० ४३९-४० ।

जाता^१ था। राजगृह से गया और उरुवेला को अलग-अलग मार्ग जाते थे। सम्भवतः गया से बनारस तक एक सीधा रास्ता भी जाता था, जिसे बुद्ध ने अपनी सम्बोधि के बाद इषिपत्तन मगदाव जाते हुए अपनाया था।^२ कपिलवस्तु से अनोमा नदी को पार करते हुए एक रास्ता राजगृह को जाता था। अनोमा से राजगृह की दूरी तीस योजन^३ थी। इसी रास्ते पर मल्लों के कुसिनारा और पावा नामक नगर पड़ते थे।^४ पावा से वैशाली के बीच में पड़ने वाले स्थान थे भोगनगर, जम्बूग्राम, हत्थिग्राम और अम्बग्राम।^५

विदेह राज्य का उत्तर-पश्चिम में गांधार से व्यापार होता था। यह मार्ग वैशाली होकर गांधार तक जाता था।^६ बीच में प्रयाग और काम्पिल्य पड़ते थे। पश्चिम में एक मार्ग सिंधु-सौवीर तक चला जाता था।

वैशाली से जो मार्ग राजगृह को जाता था उस पर पड़ने वाला सबसे प्रसिद्ध स्थान था पाटलिपुत्र। किन्तु उसके अतिरिक्त उसी मार्ग पर नादिका, कोटिग्राम, नालंदा और अम्बलट्टिका भी पड़ते थे।^७ गंगा को यह मार्ग पाटलिपुत्र में काटता था। बुद्ध ने राजगृह से वैशाली जाते समय इसी रास्ते का अवलम्बन किया था।^८ गंगा से राजगृह की दूरी पाँच योजन और नालंदा से राजगृह की दूरी एक योजन बतायी गयी है।^९ गंगा पर जो व्यापारिक नौकाओं का आवागमन था, उसका खर्च मगधराज और वैशाली के लिच्छवि वहन करते थे।^{१०}

राजगृह के पूर्व में भद्रिय, चम्पा और ताम्रलिप्ति नामक तीन व्यापारिक कस्बे थे। भद्रिय अंग राज्य में स्थित था तथा श्रावस्ती और कोशाम्बी से उसके

१. ज्याग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३११।
२. देखिए, राहुल सांस्कृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० २० का मानचित्र।
३. डिपापाने०, जि० १, पृ० १०२; जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ६६।
४. दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १२६; डिपापाने०, भाग २, पृ० ११२६; हिस्टॉरिकल् ज्याग्रफी ऑफ ऐशियेट् इण्डिया, पृ० १०३, ११६।
५. दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १२३, ६०९; अंगुत्तरनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृ० १-१२।
६. जातक, फॉसबॉल, जि० ३, पृष्ठ २६५; प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २२६।
७. दीघनिकाय, पाटोसो०, जि० २, पृष्ठ ६०९।
८. श्रीवास्तव, बलराम, ट्रेड ऐण्ड कामर्स् इन् ऐशियेट् इण्डिया, पृ० ७८।
९. डिपापाने०, भाग २, पृ० ७२३।
१०. वहीं; दिव्यावदान, पृ० ५५।

सम्बन्ध थे।^१ अंग का एक अन्य नगर आपण नामक कस्बा था, जहाँ के बाजारों की संख्या बीस हजार बतायी गयी है।^२ चम्पा अंग का सर्वप्रमुख नगर और उसकी राजधानी थी तथा तत्कालीन भारत की छह प्रमुख महानगरियों में एक थी।^३

जातकों से मिथिला और चम्पा के धनिष्ठ सम्बन्धों के बारे में पता चलता है और यह भी पता लगता है कि वहाँ के सार्थ वाराणसी, कोशाम्बी और मथुरा होते हुए, पश्चिमी भारत में सिन्धु-सौवीर तक जाते थे।^४

चम्पा से गंगा नदी के द्वार कजंगल होते हुए एक मार्ग दक्षिण-पूर्व में ताम्रलिप्ति बन्दरगाह तक जाता था।^५ वहाँ से सिंहल अर्थात् लंका के लिए भी रास्ते जाते थे, जिसके लिए प्रारम्भ में गंगा नदी का अवलम्बन किया जाता था और ताम्रलिप्ति से समुद्र के मार्ग द्वारा जाया जाता था।^६

व्यापार

कृषि और पशुपालन की ही तरह जीविका के साधनों में व्यापार का उल्लेख मिलता है।^७ सुत्तनिपात^८ में वाणिज्य शब्द के पर्याय रूप में बोहार = व्यवहार = व्यापार का उल्लेख आता है और वहाँ पर इस कार्य में संलग्न व्यक्ति को वणिजी या व्यापारिक की संज्ञा दी गयी है। व्यापार को कयविक्रय = खरीद और बिक्री के रूप में मान्यता प्राप्त थी और व्यापार करने वाले लोग लाभ की आशा करके ही व्यापार करते थे।^९ व्यापारी वर्ग बाहर जाकर विभिन्न वस्तुओं को खरीदता था। साथ ही वह इस बात का भी ध्यान रखता था कि उसे खरीदे

१. धम्मपद, अट्ठकथा, हार्वर्ड ओरियण्टल् सीरीज, जिल्द २८, भाग १, पृ० १९६।

२. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३५७।

३. दीघनिकाय, सारनाथ हिन्दी अनुवाद, पृ० १५४।

४. विमानवत्थु अट्ठकथा, पाटेसो, पृ० ३३२।

५. डिपापाने, जि० १, पृ० ४८२।

६. महाजनक जातक, फॉसबॉल जि० ६, पृ० ३२-३५।

७. यदि कसिया यदि वणिज्जाय यदि गोरक्खेन।

मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, प्रथम, १३/४/५।

८. सुत्तनिपात, मूल और हिन्दी अनुवाद, पृ० २६१।

९. कयविक्रयेन तिट्ठेय्य, लाभ कम्पा जन्तं न लापयेय्य।

सुत्तनिपात, सुत्त सं० ४।१४।१५।

हुए माल पर कितना लाभ हो सकता है।^१ अंगुत्तरनिकाय^२ में लाभ के आधार पर किए जाने वाले चार प्रकार के व्यापारों का उल्लेख मिलता है। व्यापार मुख्यतया वैश्य या गृहपति लोग करते थे। वे अपने को अन्य कार्यों के अलावा व्यापारिक गतिविधियों से संलग्न रखते थे।^३ रतिलाल मेहता^४ महोदय के मत में सुत्तपिटक कालीन व्यापार में पूँजी-नियोजन की व्यापकता कम दिखायी देती है, क्योंकि उस समय उत्पादन अधिक न होने के कारण वर्तमान काल की तरह सहकारिता आन्दोलन का प्रचार नहीं हुआ था। सम्पन्न व्यापारियों को सेट्ठि कहा जाता था। ब्राह्मण भी सम्पन्न होते थे और कभी-कभी तो इनके पास अस्सी करोड़ तक की धन-सम्पत्ति का विवरण प्राप्त होता है।^५

व्यापारिक संगठन

विभिन्न प्रकार के व्यापारों और उद्योगों में लगे लोग, व्यापारिक नियन्त्रण, सुरक्षा, संगठन और अन्याय नियमों के पालन की दृष्टि से प्रायः अपने संगठन बना लिया करते थे। इन संगठनों को श्रेणी (सेणियों) अथवा पूग^६ (पुगा) कहा जाता था। एक जातक^७ कथा के अनुसार अठारह प्रकार के शिल्पकारों के संघ बुद्धकाल में विद्यमान थे। किन्तु वहाँ पर स्पष्ट उल्लेख केवल बढकिसेणि, कम्मकारसेणि, चम्मकारसेणि और चित्तकारसेणि अर्थात् बढई, लोहार, चर्मकार और चित्रकार नामक केवल चार उद्योगों की श्रेणियों का ही है।^८ किन्तु रोज़-डेविड्स^९ के मत में प्रत्येक व्यवसाय या उद्योग श्रेणीबद्ध होता था। नौका द्वारा

१. मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, तृतीय, २/१/५; दीघनिकाय का ब्रह्मजालसुत्त।
२. अंगुत्तरनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, चतुर्थ, ४/८/९।
३. सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ् बुद्ध, पृ० १५६।
४. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २११।
५. असित्ति कोटिविभवो, जातक, फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३३९; ४६६, ४७८; जि० ३, पृ० १२८, ३००, ४४४; जि० ४, पृ० १, ७, २८, २३७, २५५; जि० ५, पृ० ३८२।
६. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि प्रकाशन, कलकत्ता, भाग १ पृ० १२९।
७. फॉसबॉल संस्करण, जि० ६, पृ० २२, ४२७।
८. वही, जि० १, पृ० २६७, ३१४; जि० ३, पृ० २८१; जि० ४, पृ० ४११; जि० ६, पृ० २२।
९. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ५७-६०।

व्यापार करने वाले लोगों के प्रधान जेट्ठक = जेष्ठक = अध्यक्ष^१ तथा डाकुओं, चोरों, हिम्नपशुओं और ऐसी अन्य विपत्तियों से रक्षा के लिए तथा व्यापार के मार्गों में अन्य अनेक प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए सत्थवाहा = सार्थवाह के अधीन व्यापारिक संगठनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

जेट्ठकों को प्रमुख अर्थात् प्रमुख भी कहा जाता था। श्रावस्ती और काशी में व्यापारियों के आपस में झगड़ा करने या लड़ने के सन्दर्भों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन अधिकारियों का प्रभाव अपने सदस्यों पर बहुत नहीं होता था।^२ इस विषय में श्रीमती रीज्डेविड्स का कथन तो यहाँ तक है कि प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों से इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि किसी हंसालोग अथवा वणिकों के श्रेणी जैसे किसी संघबद्ध समुदाय का विकास हुआ था।^३ चुल्लसेट्ठ जातक में जिन एक सौ के आसपास वणिकों का उल्लेख है, वे एक जहाज के आने पर एक दूसरे से आगे निकलकर उसका माल खरीदने में प्रतियोगिता करते हुए दिखाये गये हैं। उपर्युक्त मत में जेट्ठक अवस्था प्रमुख, श्रेणियों के भाण्डागारिक के रूप में काम करते थे, किन्तु इनके अपने संघ के सदस्यों के ऊपर किसी भी प्रकार के अधिकारों के कहीं भी उल्लेख नहीं प्राप्त होते हैं। तथापि सामुद्रिक व्यापारियों, मालाकारों, सार्थवाहों, यहाँ तक कि चोरों और डाकुओं के भी, जेट्ठकों के उदाहरण प्राप्त होते हैं।^४

जेट्ठक, प्रमुख या श्रेणिमुख्य के अतिरिक्त श्रेष्ठि या सेट्ठि अथवा महासेट्ठि शब्द भी पालि निकायों के अनेक स्थलों पर आता है। श्रावस्ती का प्रसिद्ध सेट्ठि अनाथपिण्डिक पाँच सौ अन्य सेट्ठियों के साथ बुद्ध को जेतवन की भेंट देते हुए बताया गया है। रिचर्डफिल्ड महोदय^५ के मत में श्रेष्ठि लोग अत्यन्त धनिक और व्यापारी वर्ग के होते थे, जो उन वर्गों का राजदरबार में प्रतिनिधित्व करते थे। सेट्ठि लोगों को राजा के सम्मुख उपस्थित (राजपट्टानंगतो) अथवा (राजपट्टानं

१. जातक, फॉसवॉल, जिज्द २, पृ० १२८; जि० ४, पृ० १३८; जि० ५, पृ० ९५; जि० ६, पृ० ३४।
२. देखिए, श्रीमती रीज्डेविड्स का लेख, इकॉनॉमिक् कन्डिशनस् एकाडिग् टु अल्लो बुद्धिष्ट लिटरेचर, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० २०६।
३. वही।
४. जातक, फॉसवॉल, जि० ३, पृ० ४०५; जि० ४, पृ० १३७।
५. सोशल आर्गनाइजेशन इन् नार्थईष्ट इण्डिया इन् बुद्ध'ज् टाइम, पृ० १६७ और आगे। इस सम्बन्ध में और देखिए, जातक, फॉसवॉल, जिल्द १, पृ० १२० और आगे; जिल्द ३, पृ० ४४८, जिल्द ५, पृ० ३८२।

कत्वा) होते हुए दिखाया गया है। स्पष्ट है कि सेट्टि लोग, सेनापतियों अथवा अमात्यों की तरह, राजकीय अधिकारी नहीं होते थे, अपितु धनिक और व्यापारिक वर्गों और राजदरबार के बीच बिचौलियों के समान थे और उनका पद प्रायः पतृक होता था।^१ किन्तु प्रभाव और धन से विशेषता प्राप्त होने पर राजा द्वारा वे श्रेष्ठि के रूप में चुने जाते थे।^२ श्रेष्ठि लोगों के कार्यों का कहीं भी स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता, किन्तु यह सम्भव है कि वे राजा को उसकी आर्थिक नीति के निर्धारण में उचित परामर्श देते हों और व्यापारियों से कर वसूल करने में उसके सहायक रहे हों। नरेन्द्र वागले^३ के मत में सेट्टि लोगों का कार्य सक्रिय व्यापारियों को आर्थिक सहायता देकर व्यापार के लिए प्रोत्साहित करना था। सेट्टि का पद एक प्रभावशाली व्यवसायी के रूप में प्रशासक के पद से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। सेट्टि की मदद के लिए कभी-कभी अनु-सेट्टि भी नियुक्त हुआ करता था।^४ मुत्तपिटक कालीन प्रमुख सेट्टियों में अनाथ-पिण्डक, चम्पा का सोणकोटविंश, साकेत का धनञ्जय सेठ और मृगार श्रेष्ठि (विशाखा के स्वगुर) के नाम आते हैं। काशी के दो निःसंतान सेठों की कई करोड़ों की सम्पत्ति की चर्चाएँ प्राप्त होती हैं।^५

व्यापार में स्थायी अथवा अस्थायी भागीदारी के भी उल्लेख कूटवणिज्जातक (सं० २१८) और महावणिज्जातक (सं० ४९३) में प्राप्त होते हैं। सेरिवणिज्जातक (सं० ३) और पायासमुत्त^६ से भी इसका समर्थन प्राप्त होता है। श्रावस्ती के व्यापारी अनाथपिण्डक के नेतृत्व में श्रावस्ती से राजगृह जाते और वहाँ से श्रावस्ती वापस लौटते थे।^७ गुत्तिल जातक (सं० २४३) से वाराणसी के व्यापारियों के आपसी सहयोग का ज्ञान प्राप्त होता है।

१. सेट्ठानुसेट्ठिनमुक्कलानमुप्पत्ता । महावग्ग, १/९/१ ।
२. जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० १२०-१२२ ।
३. सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ् बुद्ध, पृ० १४९ ।
४. प्रो बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २१९ ।
५. जातक, फाँसबॉल, जि० ५, पृ० ३८४ ।
६. संयुत्तनिकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ८०-८२; जातक, हिन्दी अनुवाद, जि० १, पृ० ११९, १२१; सारत्थघकासिनी, पाटेसो०, जि० १, पृ० १३; विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० १९९, २०४ ।
७. दीघनिकाय, पाटेसो०, जि० २, पृ० ३४२ ।
८. जातक, फाँसबॉल, जि० १, पृ० ५४१ ।

व्यापारिक यातायात

पीछे उन प्रमुख व्यापारिक पथों और आवागमन के केन्द्रस्थानों का उल्लेख करते समय अनेक राजपथों, स्थलमार्गों अथवा जलमार्गों की चर्चा हम कर चुके हैं, जिनसे होकर पूर्वोत्तर भारत का व्यापार एक छोर से दूसरे छोर तक होता था। स्थलीय व्यापार के अलावा जातकों से समुद्री व्यापार के भी विवरण प्राप्त होते हैं। इसमें आयात और निर्यात दोनों प्रकार के व्यापार हुआ करते थे और काशी, धावस्ती, चम्पा जैसे अनेक नगरों से व्यापारी दूर-दूर तक, यहाँ तक कि देश की सीमाओं के छोरों—पश्चिम में भृगुकच्छ और दक्षिण-पूर्व में ताम्रलिप्ति तक अपने व्यापार की वस्तुओं का विक्रय करने तथा बाहर से आने वाली वस्तुओं को खरीदने के लिए आया-जाया करते थे। उन दिनों जब लम्बी दूरी वाले मार्गों को तय करने में, और कभी-कभी जंगली रास्तों को पार करने में, हिंस्र पशुओं, डाकुओं और अन्य समाज विरोधी तत्वों का प्रायः सामना करना पड़ता था, व्यापारी लोग प्रायः झुण्ड में चलते थे। ऐसे बड़े झुण्डों को सार्थ कहते थे और इनके नेताओं को सार्थबाह। कभी-कभी तो कई-कई सार्थ भी आपस में मिल जाते थे। स्थल और जलमार्ग से व्यापार करने वालों के लिए थल पत्यकम्मिक और जल-पत्यकम्मिक शब्दों का उल्लेख सुत्तपिटक में आता है।^१ सार्थ अपने माल को गाड़ियों में लादते थे, जिन्हें शकट कहा जाता था।^२ इन शकटों की संख्या भिन्न-भिन्न रूप में पाँच सौ से लेकर एक हजार तक बतायी गयी है। सार्थों के पड़ाव आदि का प्रबन्ध करने के लिए एक अधिकारी होता था। उसे स्थलनियामक कहा जाता था और वह उनकी रक्षा की चिन्ता करने के साथ ही रात्रि में तारों आदि को देखकर उनके मार्ग का निर्धारण भी करता था।^३ इसी प्रकार जलयात्रा करने वाले व्यापारियों के लिए जलनियामक नामक अधिकारी होता था।^४

विनिमय के माध्यम

निकायों को देखने से यह प्रतीत होता है कि विनिमय के अनेक माध्यम प्रचलित थे। अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही विनिमय की माध्यम थी वस्तुओं की अदला-बदली और बुद्ध के काल में भी यह थोड़ी बहुत मात्रा में प्रचलित थी। चूँकि बौद्ध भिक्षु अर्थसंग्रह अथवा उसका स्पर्श नहीं करते थे, विनिमय के इस

१. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५४५।

२. देखिए, कृष्णकांत त्रिवेदी का अप्रकाशित शोधप्रबंध, प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन, १९७९, पृ० ४४५-४७।

३. सार्थबाह, पृ० ५८; वण्णुपथ जातक, सं० २।

४. सार्थबाह, पृ० ६१।

माध्यम को ही वे ज्यादातर अपनाते थे। जातकों के काल तक चावल का एक परिमाण वस्तुओं के विनिमय के रूप में प्रचलित था।^१ किन्तु बुद्धकाल में सिक्कों के प्रचलन का पक्का प्रमाण मिलता है और कई अवसरों पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिक्कों के रूप में अनेक वस्तुओं के मूल्य निश्चित हुआ करते थे।^२ इन सिक्कों को निष्क = निष्क, कहापण = कार्षापण, सुवण = सुवर्ण,^३ कंस, पाद, मास = मासक^४ और काकणिक^५ कहा जाता था। निष्क एक सोने का सिक्का था, जो प्रारम्भ में एक आभूषण के रूप में प्रयुक्त होता था। सुवर्ण के नाम से ही स्पष्ट है कि वह सोने का सिक्का था। सम्भवतः इसे ही हिरण्य भी कहते थे। पेतवत्थु^६ में हिरण्य की चर्चा मिलती है। यद्यपि प्रसेनजित, बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय के ठपेदार सिक्के प्राप्त होते हैं, परन्तु अभी तक हमें सुत्तपिटक में चर्चित इन राजाओं के सोने के सिक्कों का ज्ञान नहीं है। किन्तु पाणिनि^७ (५५० ईसापूर्व) ने कार्षापण और शतमान जैसे सोने के सिक्कों का उल्लेख किया है, जिस आधार पर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में भारतवर्ष में सिक्कों का प्रयोग प्रारंभ हो चुका था^८। इन सिक्कों का पारस्परिक मूल्यमान क्या था, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। विनयपिटक के आधार पर अजातशत्रु अथवा बिम्बिसार के समय राजगृह में पाँच मासे का एक पाद होता था और पाँच सुवर्णों के बराबर एक निष्क होता था।^९

बुद्ध के समय का सर्वाधिक प्रचलित सिक्का कार्षापण अथवा कहापण कहलाता था। किन्तु उसका मूल्यमान क्या था, यह आज तक निश्चित नहीं हो

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० २१७।
२. उदाहरण के लिए देखिए, ए० एन्० बोस०, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १५ और आगे।
३. जातक सं० ५४०।
४. जातक सं० २८८।
५. जातक सं० ४।
६. "न हि तत्थ कसी अत्थिगोरक्ख एत्तं न विज्जति, वणिज्जा तादिसी नत्थि हिरण्णेन कय-विक्कयं।" पेतवत्थु, पृ० ३, राहुल सांकृत्यायन, आनंद कोसल्यायन, जगदीश कश्यप द्वारा देवनागरी में सम्पादित।
७. अष्टाध्यायी, ५/१/३४।
८. लेक्चर्स ऑन इण्डियन न्यूमिस्मैटिक्स, पृ० ६१, १०९।
९. श्रीमती रीज् डेविड्स, देखिए, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० २१८।

सका है। विनयपिटक का जो उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है, उसकी अट्ठकथा के अनुसार एक कहापण बीस मासे का होता था।^१ किन्तु बुद्धघोष की यह टीका बुद्ध के समय से लगभग एक हजार वर्षों बाद गुप्तकाल में लिखी गयी थी और इस कारण हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। बुद्धघोष^२ का यह कथन है कि कहापण चाँदी का सिक्का होता था। जातकों से यह प्रतीत होता है कि कहापणों में प्रायः अनेक वस्तुओं की कीमतें तय होती थीं। उदाहरण के लिए चौबीस कहापणों में एक जोड़ी बैल, आठ कहापणों में एक गधा, एक मासक में एक गट्ठर का बोझ, एक हजार से छह हजार कहापणों में अच्छी जाति का एक घोड़ा, एक लाख कहापण में काशी के बहुमूल्य वस्त्र तथा एक मासक अथवा अर्ध-मासक एक दैनिक मजदूर की मजदूरी होती थी।^३

ताँबे, लोहे और चाँदी के सिक्कों के अतिरिक्त सोने की भी मुद्राएँ थीं, जो हिरण्य कहलाती थीं। अनाथपिण्डिक ने इन्हीं हिरण्यों से पाटकर जेतवन बगीचे को खरीदा था।^४

अनाज मापने के लिए नालि,^५ प्रस्थ, द्रोणी अथवा अम्मण नामक मापक हुआ करते थे। ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर^६ ने नालि के माप को लगभग पचास औंस का माना है। प्रस्थ या पृथ्य नामक माप हाथ की भरी हुई एक अंजुलि के बराबर होता था, जिले आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में “पसर भर” अथवा “पृथ्य भर” अर्थात् एक प्रस्थ के बराबर कहते हैं। इसी तरह द्रोण देवरिया और गोरखपुर जिलों के पश्चिमी भागों में आज भी प्रचलित हैं, जिसके नाप की वहाँ अनाज के रूप में मजदूरी दी जाती है। संयुक्तनिकाय^७ के एक सुत्त में प्रसेनजित के बारे में उल्लेख आता है कि वह द्रोण भर भात खाकर लम्बी लम्बी सांसें लिया करता था। किन्तु बुद्ध का उपदेश सुनने के बाद केवल नालि

१. समन्तपासादिका, पाटोसो, जि० २, पृ० २०७।

२. रजत वुच्चति कहापणो। वहीं, पृ० २५६।

३. विभिन्न संदर्भों के लिए देखिए, भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५५१, पदसंकेत १-६।

४. विनयपिटक, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४६१-४६२।

५. वहीं, पृ० २०; जातक, फॉसबॉल, जि० ४, पृ० ६७; जि० ६, पृ० ३६०।

६. कन्साइज्ड पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १६८।

७. सारथान, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० ७६।

भर मात्र खाने लगा। द्रोण से बड़ा माप अम्मण कहलाता था। किन्तु इन मापों को आजकल के तौलों में निश्चित करना बहुत कठिन काम है। विद्वानों^१ में इन प्रश्न पर मतैक्य नहीं है।

१. इस संबंध में देखिए, ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर, कन्साइज पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३०, ११३, १२३; बुद्धचर्या, पृ० ९; बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २३७ इत्यादि।

ग्रन्थ सूची

१—मूलस्रोत

- अंगुत्तरनिकाय : रोमक अक्षरों में रिचर्ड्, मॉरिस् और ई० हार्डी द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लन्दन, ५ जिलों में, १८८५-१९००; अंग्रेजी अनुवाद, एफ्० एल्० बुडवर्ड्, तथा इ० एम्० हेयर, पाटेसो०, लण्डन; हिन्दी अनुवाद, महाबोधि सभा, कलकत्ता, ४ जिल्दों में १९५७ से १९६९ तक ।
- अट्ठकथा : अंग्रेजी अनुवाद, डी० एम्० स्ट्राङ्ग, लण्डन, १९०२ ।
- अट्ठसालिनी : सं० पी०, ह्वी० बापट और आर्० डी० वाडेकर, पूना, १९४२; रोमक अक्षरों में, पाटेसो०, लण्डन, १८९७ ।
- अर्थशास्त्र : मूल और अंग्रेजी अनुवाद तथा एक अध्ययन, तीन भागों में, आर्० पी० कांग्ले, बम्बई विश्वविद्यालय, १९६०-१९६५; मूल और हिन्दी अनुवाद, उदयवीर शास्त्री, लाहौर, १९२५; मूल और हिन्दी अनुवाद, रामतेजशास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, काशी ।
- इतिवृत्तक : रोमक अक्षरों में, अर्नेष्ट विण्डिश् द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, १८८९; मूल पालि (देवनागरी), राहुल सांकृत्यायन भदन्त आनन्द कौसल्यायन, भिक्षु जगदीश कश्यप, १९३७; हिन्दी अनुवाद, भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधिसभा, सारनाथ, १९६९ ।
- उत्तराध्ययनसूत्र : अंग्रेजी अनुवाद (जैन सूत्रज्ञ), भाग २, हर्मन् जैकोबी, सैक्रेड् बुक्स् ऑफ् दि ईष्ट सोरिज्, जिल्द ४५ ।
- उदान : सम्पादित, पी० स्टाइनथल्, पाटेसो०, लण्डन, १८८५; देवनागरी संस्करण, नालन्दा, १९५९ ।
- खुदकपाठ : मूल पालि और हिन्दी अनुवाद, भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४५ ।
- चुल्ल निद्देस : रोमक अक्षरों में, सम्पादित, विलियम् स्टीड, पाटेसो०, लण्डन, १९१८ ।
- चरियापिटक : देवनागरी अक्षरों में, राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और जगदीश कश्यप, १९३७ ।

- जातक : सम्पादित, हवी, फॉसवॉल, रोमक अक्षरों में, ६ जिल्दों में तथा इण्डेक्स, पाटेसो०, लण्डन, १८७७-१८८७; अंग्रेजी अनुवाद, ई० बी० काँवेल, ६ जिल्दों में और इण्डेक्स, कैम्ब्रिज, १८९५-१९०७; हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यान, ६ जिल्दों में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० संवत् २०१३ ।
- थेरगाथा : सम्पादित एन्० के० भागवत, बम्बई विश्वविद्यालय, १९३९; देवनागरी संस्करण, नालन्दा, १९५९ ।
- थेर और थेरीगाथा : पाटेसो०, १८८३, रोमक अक्षरों में; हरमन् ओल्डेनबर्ग और आर् पियेल् द्वारा सम्पादित; अंग्रेजी अनुवाद, साम्स् ऑफ दि बुद्धिष्ट्स्, सी० ए० एफ्० रोज़डेविड्स्, लण्डन, २ जिल्दों में, १९०९-१९१३; देवनागरी संस्करण, नालन्दा, १९५९ ।
- दिव्यावदान : सम्पादित, ई० बी० काँवेल और आर्० ए० नील, कैम्ब्रिज, १८८६; मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा, १९५९ ।
- दीधनिकाय : रोमक अक्षरों में, सम्पादित टी० डब्ल्यू रोज़डेविड्स्; जे० इ० कार्पेन्टियर द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, ३ जिल्दों में, १८००-१९११; अंग्रेजी अनुवाद, डॉयलॉग्स् ऑफ दि बुद्ध, टी० डब्ल्यू और सी० ए० एफ्० रोज़डेविड्स्; सै० वु० वु०, लण्डन, १८९९-१९२१; देवनागरी (मूल), बम्बई विश्व-विद्यालय, २ भागों में १९३६, १९४२; देवनागरी (मूल), पालि इन्स्टीट्यूट, नालन्दा, १९६१; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यान और जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६ ।
- दीपवंस : सम्पादित, ओल्डेनबर्ग ।
- धम्मपद : रोमक अक्षरों में, ह्वी फॉसवॉल द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, १६८५; ओरियण्टल् बुक एजेन्सी, पूना, १९२३; मास्टर खेलाड़ी लाल ऐण्ड सन्स, वाराणसी, १९५९; सम्पादित एवं अनूदित, भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, १९७० ।
- धम्मपद बुद्धघोष, सम्पादित एच्० सी० नार्मन् और एल्०, एस्०
- अट्टकथा : तैलंग, ५ जिल्दों में पाटेसो०, लण्डन, १९०६-१९१५; अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिष्ट लीजेण्ड्स्, ई० डब्ल्यू बर्लिंगेम, कैम्ब्रिज, १९२१ ।

- पपञ्चसूदनी : मज्झिमनिकाय टीका, बुद्धघोष, जे० एच्० बुड्स, डी. कोशाम्बी और आई० बी० हार्नर द्वारा सम्पादित, ५ जिल्दों में पाटेसो०, लण्डन, १९२२-१९३८; अलुविहार ग्रन्थावली, कोलम्बो, १९२६ ।
- परमत्थज्जोतिका : सुत्तनिपात टीका, बुद्धघोष, एच्० स्मिथ द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, ३ जिल्दों में, लण्डन, १९१६-१९१८ ।
- पेतवत्थु : रोमक अक्षरों में, मिनयेफ् द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, १८८८; मूलपालि (देवनागरी), राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आ० कौसल्यायन, जगदीश कश्यप, १९३७ ।
- बुद्धचरित : अश्वघोष, मूल और हिन्दी अनुवाद, सूर्यनारायण चौधुरी, २ जिल्दों में, वाराणसी, १९४२ ।
- बुद्धवंश : देवनागरी (पालि), राहुल सांकृत्यायन, भदन्त, आनन्द कौसल्यायन और जगदीश कश्यप, १९३७ ।
- भविष्यपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वि० सं० १२६७ ।
- मत्स्यपुराण : सम्पादित, पञ्चानन तर्करत्न, कलकत्ता, शक सं० १८१२; आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, सं० ५४, पूना, १९०७; गुरु-मण्डल सीरिज, कलकत्ता, सं० १३, १९५४ ।
- मनुस्मृति : मूल गुरुमण्डल ग्रन्थमाला ५, क्लाइव रोड कलकत्ता, १९५४; शास्त्री हरगोविन्दकृत हिन्दी व्याख्या सहित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला (चौथम्बा), १९७० ।
- मज्झिमनिकाय : रोमक अक्षरों में, वी० ट्रेन्कनर द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, ३ जिल्दों में, १८८८-१८९९; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३ ।
- महानिन्देस : रोमक अक्षरों में, लुइ डेलावेली पूसें तथा तथा ई० जे० थॉमस्, पाटेसो०, लण्डन, १९१६-१७ ।
- महाभारत : ६ जिल्दों में, नीलकण्ठ की टीका के साथ, चित्रशाला प्रेस, १९२९, पूना ।
- महावंश : सम्पादित डब्ल्यू० गायगर, पाटेसो० लण्डन, १९०८; अंग्रेजी अनुवाद, डब्ल्यू० गायगर तथा एम्० एच्० बोस, लण्डन, १९१२ ।
- महावस्तु : सम्पादित एस्० सेनार्ट, ३ जिल्दों में, पेरिस, १८८२-१८९७ ।
- मार्कण्डेय पुराण : सम्पादित, के० एम्० बनर्जी, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८६२ ।

- मुण्डकोपनिषद् : उपनिषद् भाष्य, खण्ड १, गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० १९९२ ।
- युगपुराण : सम्पादक, डी० आर० मनकद, चारुत्तर प्रकाशन, बल्लभ-
विद्या नगर, १९५१ ।
- रामायण : मूल और हिन्दी अनुवाद, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी,
(वाल्मीकि) १९५१ ।
- ललितविस्तर : सम्पादित, एस्० लेफमान्० हाले, १९०२; अंग्रेजी अनुवाद,
आर्० एल्० मित्रा, बिन्लियोधिका इण्डिका, १८७७ ।
- वायुपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज्, पूना, १९०५ ।
- विमानवत्सु : रोमक अक्षरों में, एडमण्ड् रोलैण्ड्, पाटेसो०, लण्डन, १८८६;
मूलपालि (देवनागरी), राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आ०
कौसल्यायन और जगदीश कश्यप, १९३४ ।
- विनयपिटक : रोमक अक्षरों में, पाटेसो०, ५ जिल्दों में, लण्डन, १८७७-
१८८३; अंग्रेजी अनुवाद, टी० डब्ल्यू० रीज् डेविड्स, सैक्रेड्
बुक्स ऑफ् दि ईष्ट सीरिज्, जि० १३, १७ और २०; हिन्दी
अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५ ।
- विष्णुपुराण : सं०, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८२; गीताप्रेस
गोरखपुर, वि० सं० २००९ ।
- शिवपुराण : मूल और हिन्दी अनुवाद, श्यामलाल हीरालाल, मथुरा, वि०
सं० १९५७ ।
- समन्तपासादिका : विनयपिटक की टीका, बुद्धघोष, जे० ताकाकुसु और एस्०
नागी द्वारा सम्पादित, पाटेसो०, लण्डन, ७ जिल्दों में,
१९२४-१९४७ ।
- संयुक्तनिकाय : रोमक अक्षरों में सम्पादित, लियोन् फियर और श्रीमती रीज्-
डेविड्स, पाटेसो०, लण्डन, ६ जिल्दों में १८८४-१९०४; हिन्दी
अनुवाद, धर्मरक्षित और जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा,
सारनाथ, १९५१ ।
- सुत्तनिपात : रोमक अक्षरों में, डी० एन्डरसन् और एस्० स्मिथ द्वारा सम्पा-
दित, पाटेसो०, लण्डन, १८८५; अं० अनु०, व्ही० फॉसबॉल्,
सै० बु० ई०, खण्ड १०, लण्डन, १८९८; मूल और हिन्दी अनु-
वाद, भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१; मूल
और हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, १९७७ ।

- सुमंगल : दीघनिकाय की टीका, बुद्धघोष, टी० डब्ल्यू रीज्जेविड्स, जे०
 विलासिनी : इ० कार्पेण्टियर और डब्ल्यू स्टीड द्वारा सम्पादित, तीन खण्डों
 में, पाटेसो०, लण्डन, १८८६-१९३२ ।
 सूत्रकृतांगसूत्र : अंग्रेजी अनुवाद (जैनसूत्रज्ञ) भाग २, सैक्रेड् बुक्स ऑफ् दि
 ईष्ट सीरिज्, जिल्द ४५ ।

२—आधुनिक ग्रन्थ

- अग्निहोत्री, : पतञ्जलिकालीन भारत ।
 प्रभुदयाल
 अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, मोतीलाल बनारसीदास, वि० सं०
 वासुदेवशारण २०१० ।
 अल्तेकर अनन्त : पोर्जीशन् ऑफ् बीमेन् इन् हिन्दू सिविलाइजेशन, वाराणसी,
 सदाशिव १९५६; हिन्दी अनुवाद भी; स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐशियेण्ट्
 इण्डिया, तृतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, १९६८;
 प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, १९५५ ।
 आप्टे, वी०एम० : सोशल ऐण्ड रेलिजस् लाइफ इन् दि गृह्यसूत्रज्, बम्बई, १९५४ ।
 इण्डरसन्, : इण्ट्रोडक्शन् टू ऐनिमल् हस्बैण्डरी, लेख अग्रीकल्चर इन् ऐशि-
 ए०एल्० येंट् इण्डिया, सम्पादित एस०पी० चौधुरी, नयी दिल्ली, १९६४ ।
 उपाध्याय : पालि पाहित्य का इतिहास, प्रयाग, १९७२; बुद्धकालीन भार-
 भरतसिंह तीय भूगोल, प्रयाग, वि० सं० २०१८ ।
 उपासक, : डिक्शनरी ऑफ् अर्ली बुद्धिष्ट मोनास्टिक् टर्म्स्, वाराणसी,
 सी०एस० १९७५ ।
 ओमप्रकाश : फूड ऐण्ड ड्रिन्क्स इन् ऐशियेंट् इण्डिया, दिल्ली, १९६७ ।
 ओल्डेनबर्ग हर्मन् : बुद्ध, हिज् लाइफ, हिज् डॉक्ट्रिन, हिज् आर्डर (अंग्रेजी अनु-
 वाद), एच० होय०, कलकत्ता, १९२३ ।
 कर्निघम्, ए० : ऐशियेंट् ज्याग्रफी ऑफ् इण्डिया, लण्डन, १८७१, पुनर्मुद्रित
 इण्डोलॉजिकल् बुक हाउस, वाराणसी, १९६३ ।
 की एफ० ई० : इण्डियन् एजुकेशन इन् ऐशियेंट् ऐण्ड लेटर टाइम्स्, आक्सफोर्ड,
 १९४२ ।
 कर्न : मैनुयल ऑफ् इण्डियन् बुद्धिज्म ।
 कुमारस्वामी, : दि यक्षज्, वार्शिगटन, १९२८-१९३१ ।
 ए० के०
 कोशाम्बी, : कल्चर ऐण्ड सिविलाइजेशन ऑफ् ऐशियेण्ट् इण्डिया इन्
 डी० डी० हिस्टोरिकल् आउटलाइन, भारतीय संस्करण, दिल्ली, १९७५ ।

- गायगर विल्हेल्म : पालि लिटरेचर ऐण्ड लेंग्वेज, कलकत्ता, १९५६ ।
- गुण्डेवेल्ल अलबर्ट : बुद्धिष्ट आर्ट इन् इण्डिया, लन्दन, १९०१ ।
- घोष, अमलानंद : दि सिटी इन् अर्ली हिस्टॉरिकल् इण्डिया, शिमला, १९७३ ।
- घोष, नागेन्द्रनाथ : ऐन् अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कोशाम्बी, इलाहाबाद १९३५ ।
- घोषाल, : स्टडीज् इन् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, ओरियेण्ट् लागमैन्स्,
यू० एन्० १९५७; एग्रेरियन् सिस्टम इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, कलकत्ता,
१९३० ।
- चानना, देवराज : स्लेवरी इन् ऐशियेण्ट् इण्डिया, नयी दिल्ली, १९५७ ।
- चौधुरी, : पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् ऐशियेण्ट् इण्डिया, कलकत्ता, १९५६ ।
- हेमचन्द्र राय
- चौधुरी, एस्० : सम्पादित, ऐग्रीकल्चर इन् ऐशियेण्ट् इण्डिया, नयी दिल्ली,
पी० आदि १९६४ ।
- जायसवाल : हिन्दू पॉलिटी, बंगलोर, १९४२; हिन्दी अनुवाद (हिन्दू राज-
के० पी० तंत्र), रामचन्द्र वर्मा, काशी ।
- जैन कैलाशचन्द्र : जैनधर्म, मथुरा, १९६६ ।
- जैन, कोमलचन्द्र : बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, १९६७ ।
- जैन, जगदीशचन्द्र : इण्डिया ऐज् डेपिक्टेड् इन् जैन कैनन्स्, बम्बई, १९४७; हिन्दी
अनुवाद (जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज), वाराणसी,
१९६५ ।
- जैन, पी० सी० : लेबर इन् ऐशियेण्ट् इण्डिया, नयी दिल्ली ।
- जैन, भागचन्द्र : बौद्ध संस्कृति का इतिहास, नागपुर, १९७२ ।
- जोशी, नील- : प्राचीन भारत में क्रीड़ा एवं मनोरंजन, लेख नागरी प्रचारिणी
कण्ठपुरुषोत्तम पत्रिका, काशी, वि० सं० २०१८ ।
- डे, गोकुलदास : सिग्निफिकैन्स् ऐण्ड इंपार्टेन्स् ऑफ् दि जातकस्, कलकत्ता, १९५१ ।
- डे, नन्दलाल : दि ज्याग्रफिकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐशियेण्ट् ऐण्ड मेडिवल
इण्डिया, लण्डन, १९२७ ।
- त्रिवेदी, कृष्ण- : प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन, अप्र-
कान्त काशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७७ ।
- तिवारी, जग- : डिस्पोजल् ऑफ् दि डेड् इन् दि महाभारत, वाराणसी,
दीश नारायण १९७९ ।
- थॉमस्, एडवर्ड : दि हिस्ट्री ऑफ् दि बुद्धिष्ट थॉट, लण्डन, १९५३; दि लाइफ
जे० ऑफ् बुद्ध ऐज् लीजेण्ड ऐण्ड हिस्ट्री, लण्डन, १९३१ ।
- दत्त, एन्० : अर्ली बुद्धिष्ट मोनाशीज्म्, लण्डन, १९२४ ।

- दत्त, एन्० : अली हिस्ट्री ऑफ़ दि स्प्रेड ऑफ़ बुद्धिज्म ऐण्ड बुद्धिष्ट स्कूल्स्, लण्डन, १९२५ ।
- दत्त, नलिनाक्ष : उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, लखनऊ, १९५६ ।
- और बाजपेयी,
कृष्णदत्त
- दत्त, एन्० के० : ओरिजिन् ऐण्ड ग्रोथ ऑफ़ कास्ट इन् इण्डिया, भाग १, कलकत्ता, १९६८ ।
- दत्त, सुकुमार : दि बुद्ध ऐण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज् ।
- दास, एस्० के० : दि इकॉनॉमिक् हिस्ट्री ऑफ़ ऐशियेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२५ ।
- दिवाकर आर्० : बिहार थू दि ऐजेज्, १९५८ ।
- आर्०, सम्पादित
- धर्मरक्षित मिश्र : कुशीनगर का इतिहास, विक्रम सं० २००६ ।
- नारायण, ए०के० : एक्सक्वेसन्स् ऐट राजघाट, भाग १, वाराणसी, १९७६ ।
- पाठक, के०बी० : दि आजीविकाज्, ए सेक्ट ऑफ़ बुद्धिष्ट भिक्खुज्, लेख, इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, वाल्यूम, ४१, १९१२ ।
- पाठक, विशुद्धा-
नन्द : हिस्ट्री ऑफ़ कोशल अप्टू दि राइज् ऑफ़ दि मौर्यज्, मोतीलाल बनारसीदास, १९६४ ।
- पार्जिटर,
एफ्० ई० : दि पुराण टेक्स्ट् ऑफ़ दि डाइनेस्टीज् ऑफ़ दि कलि एज्, आक्सफोर्ड, १९१३, १९४६ ।
- पाण्डेय,
राजबली : गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, गोरखपुर, १९४६ ।
- पाण्डेय,
गोविन्दचन्द्र : स्टडीज् इट् दि ओरिजिन्स् ऑफ़ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७;
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, द्वितीय, संस्करण, लखनऊ, १९७६ ।
- पिगाँट, स्टुअर्ट : प्री हिस्टारिक् इण्डिया, हार्मण्ड्सवर्थ, १९६१ ।
- फ्राउवालनर, ई० : दि आर्लियेष्ट विनय ऐण्ड दि बिगिनिंग्स् ऑफ़ बुद्धिष्ट लिटरेचर, रोम, १९५६ ।
- फिक्, रिचार्ड : दि सोशल आर्गनाइजेशन् इन् नार्थ ईष्ट इण्डिया इन् बुद्ध'ज् टाइम (अंग्रेजी अनुवाद), कलकत्ता, १९२० ।
- फिशर,
आई० बी० : दि प्राब्लम् ऑफ़ दि सेटिठ इन् बुद्धिष्ट जातक, लेख, आर्कवि ओरियण्टलानी, प्राग, १९५४ ।

- बसुआ, प्री बुद्धिष्ट इण्डियन् फिलॉसॉफी, कलकत्ता, १९२१ ।
- बी० एम्०
- बसुआ और सिंह : भरहुत इन्श्रिप्शन्स्, कलकत्ता, १९२६ ।
- बन्देपाध्याय, : इकॉनॉमिक् लाइफ ऐण्ड प्रोग्रेस इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, भाग
एन्० सी० १, कलकत्ता, १९४५ ।
- बापट, पी० : ट्वेन्टीफाइव हण्ड्रेड् इयर्स् ऑफ् बुद्धिज्म, दिल्ली, १९५४ ।
- ह्वी (सं०)
- बाशम, ए० : हिस्ट्री ऐण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ् दि आजीविकज्, लण्डन, १९५१;
एल्० दि वण्डर दैट वाज् इण्डिया, लण्डन, १९५४ पुनर्मुद्रित, १९५९ ।
- बील, सैम्युअल् : प्री बुद्धिष्ट रेकार्ड्स् ऑफ् दि वेस्टर्न् वर्ल्ड, लण्डन, १८८४,
पुनर्मुद्रित, सुशील गुप्त, कलकत्ता, १९६३ ।
- बुद्धदत्तमहाथेर, : कन्साइज् पालि-इंग्लिश डिक्शनरी ।
- ए० पी०
- बोस, अतीन्द्रनाथ : सोशल ऐण्ड रूरल् इकॉनॉमी ऑफ् नार्दर्न इण्डिया, दो भागों में,
द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९५७ ।
- भट्ट, जनार्दन : अशोक के धर्मलेख, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, वि० सं०
१९८० ।
- भण्डारकर, : कामाईकेल् लेक्चर्स, कलकत्ता, १९१८; लेक्चर्स ऑन् ऐशियेण्ट
इण्डियन् न्यूमिस्मैटिक्स्, कलकत्ता, १९११; अशोक, कलकत्ता
विश्वविद्यालय, १९५५; आजीविकज्, लेख, इण्डियन् ऐंटीक्वेरी,
वाल्थूम ४१, १९१२ ।
- मजुमदार, : सम्पादित, हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ् दि इण्डियन् पीपुल्, जिल्द
आर० सी० और १ और २ क्रमशः दि वेदिक एज; दि एज ऑफ् इम्पीरियल्
पुसालकर, ए०डी० यूनिटी, बम्बई, १९५१ ।
- मजुमदार,
रमेशचन्द्र : कॉरपोरेट लाइफ इन् ऐशियेण्ट इण्डिया; कलकत्ता, १९२२;
हिन्दी अनुवाद (प्राचीन भारत में संघठित जीवन), मोतीलाल
बनारसीदास, १९६६; क्लासिकल् एकाउन्टस् ऑफ् इण्डिया ।
- मलालशेखर, : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स्, २ जिल्दों में, पाटेसो०,
जी० पी० लण्डन, १९३७ और १९६० (पुनर्मुद्रित) ।
- मिश्र, : दि एज ऑफ् दि विनय, नयी दिल्ली, १९७२ ।
- जी० एस् पी०
- मिश्र सुदामा : जनपद स्टेट इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९७३ ।

- मूर्ति, : सेण्ट्रल फिलासॉफी ऑफ बुद्धिज्म, ए स्टडी ऑफ दि माध्यमिक
टी० आर० ह्वी० सिस्टम, लण्डन, १९६० ।
- मेहता, एन्० : प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, बम्बई, १९३९ ।
- रतिलाल
मैकडॉनेल, ए० : वेदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स् ऐण्ड सब्जेक्स, पुर्नमुद्रित, मोलीलाल
ए० और कीथ, बनारसीदास, १९५९ ।
- ए० बी०
मोतीचन्द्र : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, १९५०; सार्थवाह, पटना,
१९५३; काशी का इतिहास, १९६२ ।
- मिक्रिण्डल्, : ऐंशियेण्ट इण्डिया ऐज् डेस्क्राइव् इन् मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन्,
जे० डब्ल्यू० कलकत्ता, १८७७, पुर्नमुद्रित, १९७२ ।
- रॉकहिल् : लाइफ ऑफ दि बुद्ध, ट्रान्स् ऐण्ड कम्पनी, लण्डन, १८८४ ।
- रीज्डेविड्स्, : बुद्धिष्ट इण्डिया, पुर्नमुद्रित, सुशील गुप्त, कलकत्ता, १९५०;
टी० डब्ल्यू० ओरिजिन् ऐण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन् रेलिजिन्स् (बुद्धिज्म), हिब्वर्ट
लेक्चर्स, लण्डन, १९०६; दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिष्ट्स्,
लेख, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (सं० रैप्सन), जिल्द १
लण्डन, १९२२ ।
- रीज्डेविड्स्, : पालि-इंगलिश डिक्शनरी, पाटेसो०, लण्डन, १९६० ।
- टी० डब्ल्यू० और
स्टीड, विलियम्
रीज्डेविड्स् : इकॉनॉमिक् कण्डिशनस् एकाडिग टु अर्ली बुद्धिष्ट लिटरैचर, लेख
सी० ए० एफ्० कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १ कैम्ब्रिज, १९२२;
(श्रीमती) सम्पादित रैप्सन, लण्डन ।
- रैप्सन्, इ० जे० : (सम्पादित), दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १,
कैम्ब्रिज, १९२२ ।
- लाहा,
बिमलाचरण : सम क्षत्रिय ट्राइव्स् इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२३;
हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरैचर, दो भाग, लण्डन, १९३३;
बुद्धिष्टिक स्टडीज्, कलकत्ता, १९३१; ज्यांग्फो ऑफ अर्ली
बुद्धिज्म, १९३२; पुर्नमुद्रित, वाराणसी, १९७३; महावीर,
हिज् लाइफ ऐण्ड टीचिंग्स्, लण्डन, १९३७, ज्यांग्फिल्
एसेज्, प्रथम भाग, १९३८; इण्डिया ऐज् डेस्क्राइव् इन् अर्ली
टेक्स्ट्स् ऑफ बुद्धिज्म ऐण्ड जैनिज्म, लण्डन, १९४१; ए मैन्यु-
अल् ऑफ बुद्धिष्ट हिस्टॉरिकल् ट्रेडिशनस्, कलकत्ता, १९४१;

ट्राइव्स इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, पूना, १९४३; हिस्टॉरिकल् ज्यॉग्रफी ऑफ् ऐशियेण्ट इण्डिया, पेरिस, १९५४; हिन्दी अनुवाद (प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल) रामकृष्ण द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७०; वीमेन् इन बुद्धिष्ट लिटरेचर ।

वागले, नरेन्द्र : सोसायटी ऐट दि टाइम ऑफ् बुद्ध, बम्बई, १९६६ ।

वार्डर, ए०के० : इण्डियन् बुद्धिज्म, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०; ऑन् दि रिलेशन्शिप् बिटविन् अली बुद्धिज्म ऐण्ड अदर कण्टेम्पोरेरी सिस्टम्स् (लेख), बुलेटिन् ऑफ् ओरियन्टल् ऐण्ड अफ्रिकन् स्टडीज्, लण्डन, १९५६ ।

वाटर्स, टॉमस् : ऑन् यूवान च्वाङ्ग्'स्, ट्रैव्वेल्स् इन् इण्डिया, ए० डी० ६२९-६४५, सम्पापितं टी० डब्ल्यू० रीज्डेविड्स् और एस्० डब्ल्यू० बुशेल्, २ जिल्दों में, लण्डन, १९४५; पुर्नमुद्रित भारतीय संस्करण, एक खण्ड में, दिल्ली, १९६१ ।

विन्टरनिट्ज्, : हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिटरेचर (अंग्रेजी अनुवाद), जिल्द २, मॉरिस् कलकत्ता १९२७, १९३३ ।

वियोगी, मोहन- : जातककालीन भारतीय संस्कृति, पटना, १९५८ ।
लाल महतो

वेवन, इ०आर० : इण्डिया इन् अली ग्रीक ऐण्ड लैटिन् लिटरेचर, लेख, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया (सं० रैप्सन), जिल्द १, १९२२ ।

वेबर, अल्ब्रेख्त : दि हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिटरेचर, हिन्दी अनुवादक, उमेश-चन्द्र पाण्डेय, इलाहाबाद, १९६८ ।

वोगेल, : इण्डियन् सर्पेण्ट लोर, दिल्ली, १९७६ ।

जे० पी० एच्०

शर्मा, जी०आर० : एक्स्क्वेशन्स् ऐट कोशाम्बी, १९५७-५९, इलाहाबाद, १९६० ।

शाह, सी० जे० : जैनिज्म इन् नार्दन् इण्डिया, लण्डन, १९३२ ।

श्रीवास्तव, के०एम्० : कपिलवस्तु इन् बस्ती डिस्ट्रिक्ट ऑफ् यू०पी०, नागपुर, १९७८ ।

श्रीवास्तव, बलराम : ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन् ऐशियेण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९६८ ।

शुक्ल, : प्राचीन भारत में दान की संकल्पना और व्यवहार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, १९७८ ।

सुशीलकुमार : बुद्धचर्या, सारनाथ, १९५२; पालि साहित्य का इतिहास,

सांक्रत्यायन, : लखनऊ, १९६३ ।
राहुल

स्मिथ, विण्सेण्ट : अली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, एस्०एम्, एडवर्डस् द्वारा संशोधित,
आर्थर लण्डन, १९२४ ।

सिन्हा, के०के० : एक्सक्वेशन्स् ऐट श्रावस्ती, वाराणसी, १९५६ ।

सिन्हा, बी०पी० : (संपादित), पाटरीज् इन् ऐंशियेण्ट् इण्डिया, पटना ।

सिन्हा, बी०पी० : वैशाली एक्सक्वेशन्स्, १९५८-६२, पटना, १९६९ ।

ऐण्ड सोतारामराय

सिंह मदनमोहन : लाइफ इन् नार्थ-ईष्टर्न् इण्डिया इन् प्रीमैरियन् टाइम्स्, पटना,
१९५७; बुद्धकालीन समाज एवं धर्म, पटना, १९७२ ।

सेन, बी० सी० : स्टडीज् इन दि जातक्स् (लेख), जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेण्ट
ऑफ् लेटर्स्, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

हार्डी : ए मैनुअल् ऑफ् बुद्धिज्म, १९६० ।

हालदार, : अली बुद्धिष्ट माइथॉलोजी, नयी दिल्ली, १९७७ ।

जे० आर०

हार्नर, आई०बी० : बीमेन् इन् प्रिमिटिव् बुद्धिज्म, लण्डन, १९३० ।

हार्नले, ए० : आजीविकज्, लेख, इंसाक्लोपीडिया ऑफ् रेलिजन् ऐण्ड

एफ० आर० इथिक्स्, वाल्यूम १ ।

शोध पत्रिकाएँ और प्रतिवेदन

आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, ऐन्युअल् रिपोर्ट्स्, दिल्ली ।

आर्कवि ओरियण्टलानी, प्राग ।

इण्डियन् ऐंटीक्वेरी, बम्बई ।

इण्डियन् कल्चर, कलकत्ता ।

इण्डियन् हिस्टॉरिकल् क्वार्टर्ली, कलकत्ता ।

इण्डियन् हिस्ट्री कॉंग्रेस प्रोसीडिंग्स् ।

इंसाइक्लोपीडिया ऑफ् रेलिजन् ऐण्ड इथिक्स्, न्यूयार्क ।

एपिग्राफिया इण्डिका, कलकत्ता, ओटकमण्ड ।

ऐनल्स् ऑफ् भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।

जर्नल् ऑफ् बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी, पटना ।

जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, मद्रास, त्रिवान्द्रुम ।

जर्नल् ऑफ् दि अमेरिकन् ओरियण्टल् सोसायटी, येल ।

जर्नल् ऐण्ड प्रोसीडिंग्स् ऑफ् दि एशियाटिक् सोसायटी ऑफ् बेंगाल, कलकत्ता ।

जर्नल् ऑफ् दि बाम्बे ब्रांच ऑफ् रॉयल् एशियाटिक् सोसायटी, बम्बई ।

जर्नल् ऑफ् दि डिपार्टमेण्ट ऑफ् लेटर्स्, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

जर्नल् ऑफ् दि इकॉनॉमिक् एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ् दि ओरियेण्ट् ।

जर्नल् ऑफ् दि रॉयल् एशियाटिक् सोसायटी ऑफ् ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड ।

घर्मदूत, वाराणसी ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी ।

बुलेटिन् ऑफ् दि स्कूल ऑफ् ओरियण्टल् एण्ड अफ्रिकन् स्टडीज्, लण्डन विश्व-
विद्यालय, लण्डन ।

प्रोसीडिंग्स् ऑफ् ऑल इण्डिया ओरियण्टल् कान्फरेन्स ।

शब्दानुक्रमणिका

अ		अनूपिया	३१, ४१, ५७, ६१, ७३, ७४, १४०, ३०१, ३०३
अग्गपुर	३०२	अम्बगाम	६५, ८४, १३८, ३०५
अग्गिक भारद्वाज	२६४	अम्बपाली	४१, ७२, १५३, २०३- २०५, २३०, २३३, २४६, २७७
अग्निदत्त	१२६	अम्बलट्टिका	५४, ८२, १३८, ३०५
अंग	२, ३, ४, २२, २८-३०, ३२, ३३, ४८, ५२, ५३, ९७, १००, १०६, १०८, १०९, २५५, ३०६	अम्बवन	७२
अंगुत्तराप	७५	अम्बसण्ड	४७, ८५
अंगुलिमाल	१८५	अमित्ततापना	१९३
अचिरावती (एरावती)	२४, ३०-३२, ३६, ५०, ५९, ६६, ८१, ९१, ३०३,	अम्बष्ठ	८६, १३६, १६९ (ऋषि), २६७
अजातशत्रु	१२, १७, ४१, ५३, ६५, १००-१०२, १०७-११५, १२०, १२३, १३५, १४१, १४२, १५१, १५३-१५६, १५७, १७६, २३८, २४६, ३११	अयोध्या (अयोज्ञा)	१२, १३, ३३, ३६, ४९, ६८, ७३, ९६, ९७, ११६, ११७, १३९, ३०१
अजित केसकम्बली	२६३,	अरिन्दम	१७३
अञ्जनवन	३६, ४०, ४५	अल्लकप्प	७४, १२९, १४२, १४९
अन्धकविन्द	३६, ५४, ८५	अवन्ति	४, ११७, ३०४,
अन्धवन	४०	अश्मक	४, ७
अनाथपिण्डिक	८, ३१, ४२, ४३, ६७, १२६, १२७, १७६, २७७, ३०३, ३०८, ३०९, ३१२,	अश्वघोष	८८, ९३, १६६
अनुपमा	२१४	अशोक	१, ७-८, १७, १०३, १४७, १४९, १७२, १७७
अनोतट (झील)	४०	अस्सपुर	५३, ७४
अनोतत्त्व	३२	अस्सलायन	१९४, (आश्वलायन) २२९
अनोमा	३१, ६४, ७३, ७७, ३०५,	असिकबन्धपुत्र	२५६
		आ	
		आड़वी	७५, (आलवी) ३०३
		आनन्द	७४, ९०, ११३, १३८, १४२, १४५, १५३, १५५, १८४, १८५

३२८

प्राचीन पूर्वोत्तर भारत

आपण	५३, ७५, ३०६
आम्रग्राम	१४०
आभ्रवन	४१, १४२,
आलार-कालाम	७९, १४९, २४५

इ

इच्छानंगल	४२, ५२, ८६
इन्द्रप्रस्थ	९०
इन्दसाल (गुहा)	४७
इसिगिल	४६
इसिपत्तन (ऋषिपत्तन)	४५, ४९, ७०, ७५, ९३, २४५, ३०५,
इक्ष्वाकु	१३०, १३७, १३८, १४४

उ

उकट्टा (ब्राह्मणग्राम)	५२, ८२, ८३, ८६, १०३
उक्काचेल	५६, ७६, ३०४
उम्गापुर	३०३
उज्जयिनी	१३, ४९, ५४, ६५, ६७, ३०१, ३०३
उदयन	६०, ११७-१२०, १५०, १५१, १९२, १९७, २००, २०३
उदायिभद्र	९०
उद्रक (रुद्रक) रामपुत्र	२४४, २६५
उदुम्बर	३०२
उपतिष्य	८९
उपालि	७४, २५६
उरुवेलकप्प	५७, १४०
उरुवेला	३५, ४६, ७५, ७६, ७९, २४२, २४६, ३०५
उसीरध्वज	३

ए

एकनाला (ग्राम)	५४, ८६, १०९
एकसाला (ग्राम)	५२

ओ

ओवकाक	१९०
ओपसाद	८५, ८६, १०३, २११

क

कक्करपत	८७
ककुत्था (ककुट्टा)	३४, ८०, १४०, १४२
ककोद (आराम)	११६
कजंगल	३, २२
कन्थक	३१
कंस	१०९
कनिष्क	१७
कपिल (ऋषि)	१३०
कपिलवस्तु (कपिलपुर)	२, २२, ३१, ३५, ३८, ४०, ४३, ५०, ५७, ६७, ९७, १००, १२९, १३०, १३२, १३५, १३६, १४२, १४७, १४८, १६०, २०३, २४२, २४६, २५६, ३०१, ३०३, ३०४, ३०५
कम्बोज	४
कश्यप (आचार्य)	५, (बन्धु) २४६
कसि भारद्वाज	८६, १६८, १७१, २११, २७२, २७८
कान्यकुब्ज	१३, ९०, ३०२
काम्पित्य	३०५
कालसेन	७३
कालाम	७९, ११९, १४९
कालाशोक	५, ९०
काली (गणिका)	२०६
काशी	२, २५, २८, २९, ३३, ४८, ५३, ५६, ६१, ६८, ८७, ९१,

९६-९८, १००, १०२, १०४,	११९, १२८, १२९, १३१,
१०७, १११, ११४, ११८,	१३७, १४१, १४२, १४३,
१२४, १२६, १९०, २०३,	१४४, १४५, १४६, १४७,
२०५, २३०, २३१, २३७,	१९०, २७५
२९६, २९७, ३०१, ३०३,	कोशाम्बी ७, १३, २२, ३३, ३८,
३०४, ३०८, ३०९, ३१०,	४०, ४४, ४९, ५२, ५४, ६०,
३१२	६१, ६५, ६७, ६९-७१, ९२,
किम्बिला ३३, ७४	१३८, १५०, २०३, २९७,
किस संकिच्च २५८	३०१, ३०२, ३०३, ३०४,
कीटागिरि ४९, ६७, ७५, ८७	३०५, ३०६
कुकुर १५२	कोसल २, ११, २२, २९-३०, ३२,
कुकुरपथ १५५	३३, ३७, ४४, ४८-५०, ५२,
कुक्कुटाराम ९०	५३, ५५, ५६, ५८, ६१, ६६,
कुक्कुटावती ३०३	६८, ६९, ७३, ८६, ८९, ९१,
कुण्डकग्राम १५१, २५५	९३, ९४, ९६, ९७, ९८, १००,
कुणिक १०८	१०४-१०७, ११९, १२०, १२४,
कुरु ४, ५४, १५२	१३५, १३७, १४९, १६८,
कुसिनारा (कुशावती) २, २२, ३४,	१७६, १८७, २५५, २७७,
४१, ५६, ५७, ५९, ६५, ६७,	३०३, ३०४
७८, ८०, ८३, ८८, ९९, १००,	कोसिकी (कोसी) ३४
११५, ११९, १२९, १३७,	कौटिल्य १२, ११४, १३६, १४१,
१३८, १३९, १४०, १४२,	१५०, १५२
१४७, १४८, १५२, २०३,	ख
२०८, २०९, २३४, २४६,	खज्जुवरा (दासी) २०२
२९७, ३०१, ३०२, ३०३,	खानुमत (ब्राह्मण ग्राम) ५४, ८८,
३०५	१०९, २११
कूटदन्त ८८, १६८, १७१, २११	खेयम्बिवन ४१
कूटागारशाला ४०	खोमदुस्स (गाँव) १३२, २२८
कैसपुत्त ७९, ११९, १४९	ग
कोटिग्राम ५६, ६५, ८७, १३८, ३०५	गंगरा (पुष्करिणी) ३८, ६२
कोलिय २५, २९, ३५, ३९, ५६,	गंगा ३३, ३४, ५२, ५३, ७०, १०७,
५८, ५९, ८१, ९४, १००,	११२, ११३, १५४, १५५,
	३०४, ३०५, ३०६

गया (बोध गया) २, ७९, २०३,

३०५

गयाशीर्ष-गयासीस (पहाड़ी) ४६, ७९

गिञ्जकावसथ ५६

गृद्धकूट (गिद्धकूट पहाड़ी) ३६, ४६

४७, ८५, २७२

गोपक मोग्गलान २७९

गोनर्ध ६५, ६७, ३०३

गोसाल (मंखलिपुत्त) १०३, २५९,

२६०, २६१

घ

घोषित ११६

घोषिताराम ११६, ११७, ११९

च

चंकि (ब्राह्मण) ८५, १०३, १६८, २११

चण्डप्रद्योत ११४, ११७, ११८

चण्डालकप्प ५२

चन्द्रगुप्त १७, १४७, १४९, १९७

चम्पा (चम्पापुर) १३, २२, ३२, ३८,

४९, ५२, ५३, ६१, ६३, १०८,

११०, १५१, १७६, १७७, २०३,

२९७, ३०१, ३०५, ३०६, ३१०

चाणक्य १४७

चातुमा (गाँव) ८८, १३२

चिञ्चा (गणिका) २६५

चुन्दकम्मार ८०, १४२, २१९

चेटक १०९, ११२, ११५, १२०, १५२,

१५४

चेदि ४

छ

छदन्त ३९

छन्दक ३१

छन्दकूट ४५

छलना ११०, १२०, १४४

ज

जनक १३७

जम्बूग्राम ६५, ३०५

जरासंध १२३

जातियवन ३९, ४२, ४३, ८२

जातुमा (आतुमा) ८८

जानुसोणि (ब्राह्मण) ६७, ८६, १६८,

२११:

जीवक ४१, ६६, ११०, १७७, २००,

२०४, २०५ (कौमारभृत्य) २३१,

२४६, २७७, २८९, ३०३-

जुजुक १९३

जैत (राजकुमार) ४२:

जैतवन ३, ८, ३०, ३८, ४२, ४५, ६७,

९७, १०३, १०४, १२६, १२७,

३०३, ३०८

त

तक्षशिला १३, ४९, ६१, ६५, ६७, ६९,

७०, ९९, ११६, १३७, २१३, ३०१,

३०३, ३०४

तपोदा ६५

ताम्रलिप्ति १३, ९०, ३०१, ३०३, ३०५,

३०६, ३१०

तारुख (ब्राह्मण) ८६, १६८, १७१,

२११:

तोदेय्य (ब्राह्मण) ८६, १६८, १७१, २११:

तोरणवत्थु ५२, ६९, ९५

थ

थूण (ग्राम) ३, १४०

द	पतञ्जलि	६९
दण्डकप्प	५२, ९५	५२
दिवाकर	९७	पञ्चाल (पाञ्चाल) ४, ५०, ५४, १५२
दीर्घाकारायण ९१, ११२, १२४, १४०	१०६	परन्तप ११७
दीर्घायु	१०६	प्रजापति (गीतमी अथवा महाप्रजापति) १५३, २४३
दीर्घीति	७४, १०१	प्रद्योत ११०, १२२
देवदत्त	३८, ४२, ७९, ९२, १३२, १४५	प्रतिष्ठान १३, ४९, ६५, ६७, ६९, ७६, ९०, ३०१
द्रोण (ब्राह्मण)	१४३	प्रसेनजित १७, ३०, ५६, ६७, ७०, ७१, ७९, ९०, ९१, ९७-१०४, १०७, ११०, १११, ११२, ११९, १२०, १२२, १२४-१२६, १३१, १३३, १३४, १३७, १४०, १४९, १५४, १७३, १८१, १८६, १८९-१९१, १९७, १९८, २०१, २११, २२५, २३६, २४६, २६०, २६४, २६५, ३११, ३१२
द्रौपदी (कृष्णा)	१९२	पाटलिपुत्र ५, ३३, ४७, ५४ (पाटलिग्राम) ५५, ६५, ८२, ८९, १०२, १०७, (पाटलि) ११३, ११४, ११८, १३८, १५४, २०३, ३०१, ३०५, १२३
ध	धनञ्जय ६९, ९५, १७६, ३०९	पादञ्जलि ८२, ८३, १२०
धनपालगाम	४९	पायासि ४४
धनियम्बाला	२७९	पावा २, ५६-५७, ५२, ६५, ७८, ८०, ८३, ८४, ११९, १२९, १३७, १३८, १३९, १४२, १४८, २०३, २४६, २५६, ३०१, ३०३, ३०५,
धम्मपालगाम	८८	पावारिक ४१, पावारिकाम्बवन-८२
धनुगगतिस्स	१०१, १११	पावारिय ११६, पावारियाराम-११६
न	नकुल १९५	पाशर्वनाथ १०५, २५५
नगरविन्द	५२	
नलकपान (नालकपान)	५२, ८९	
नलकारग्राम	८९	
नादिका	५६, ८७, १३८, ३०५	
नालकग्राम	५४, ८९, १०९	
नालन्दा २५, ४१, ५२, ५४, ६५, ८२, ९२, १३८, ३०३, ३०४, ३०५	९४, १०३	
निगण्ठ वातपुत्त	११७	
निचक्षु	३५, ३७, ७६	
नेरंजरा (नेरंजना)	प	
पकल	५४	
पकुध कञ्चायन १०३, २६२		

३३२

प्राचीन पूर्वोत्तर भारत

पिपरहवा ५७, १३२, २४३

पिप्पलिवन ५८, ५९, ७७, ८१, १००,

११९, १२९, १४३, १४८-१४९

२००

पुण्ड्रपुर ३१

पुराण कस्सक १०३, २६१-२६२

पौस्करसाति (ब्राह्मण) ८६, १०३, १६८

१७०, १७१, १७३, २११

फ

फल्गु ३५, ३७

ब

बन्धुल ९९, १२५, १३७, १५२, १५४

ब्रह्मदत्त ४५, ४९, १०५, १०६, १२७

बावारि ६२, ६९, ७७, ८३

बाहुका (बाहुलिका) ३२

बाहुमती ३२

बिम्बिसार १२, १७, ५३-५४, ६३-

६५, ८८, १००, १०१, १०३,

१०७-१११, ११४, ११५, ११९,

१२०, १२४, १२७, १५४, २११,

२३१, २४६, २६४, ३०४, ३११

बुद्ध (गौतम सिद्धार्थ) १-६, ११, १७,

२३, ३१, ४०-४६, ४८, ५३, ५५,

५९, ६०, ६३, ६५-६७, ६९, ७०,

७२, ७६, ९१, १०२, १०५, १०६-

११३, ११५-११८, १२२, १२९,

१३१, १३२, १३३, १३४, १३५,

१३६, १३७, १३८, १३९, १४२,

१४६, १४८-१५०, १५२, १५४,

१५५, १६४-१६६, १७५, १७७,

१८१-१८६, १८९, २०१-२०५,

२०८, २१२, २१४, २२२, २२४,

२२५, २२९, २३०, २३२, २३७,

२४०-२४२, २४६-२५३, २५६,

२५८, २५९, २६१, २६५, २९१,

३०४, ३०५, ३१०, ३११,

बुद्धद्योष ७, ३७, ४०, ५०, ६०, ६१, ६७,

८७, ९३, ९४, ९७, ९९, १५३,

२३०, २३१, २५९, ३१२

बुलिय ७४, १२९, १४२, १४९

बेदुद्वीप १४९

बेलुवग्राम (बेणुवग्राम) ९२

बेलुद्वार ९२

बोधि १५०

भ

भार्य (भग्न) ५९, ६०, ८३, ११८, ११९,

१२९, १४८, १४९, १५०

भद्र ९०

भदिय ५३, ७४, ८२, (भदियनगर) ८७

१३०, १३२, ३०५

भण्डिग्राम ५६, ८४, १३८

भरहुत ४, १२७

भेसकलावन ८३

भोगग्राम ५६, १३८

भोगनगर ५७, ६५, ६७, ८३, ८४, १४०,

२४६, ३०५

भृगु (ऋषि) २६७

भृगुकच्छ १३, ४९, ३०१, ३०३, ३१०

म

मक्खलिपुत्त (गोसाल) २५८, (मस्क-

रित्) २५९, २६२, २६५

मगध २, ११, २२, २८, ३०, ३२, ३३,

४८, ४९, ५२-५५, ६१, ९७, ९८,

१००, १०५-१०९, ११४, १४२,

१५४, १५६, १६८, २५५, २७७	महावन	४०, ४३, ७७
मचलग्राम ९१	महावीर	४, ११, ५७, ८०, १०५, ११०, ११४, १३९, १५१, १५२, १५४, २५३-२५५, २५६, २५७-२५९, २६०, २६५
मच्छिकासण्ड ४३, ९१, ९२, ३०३	महासुदस्सन	५७, ७८, १३८
मत्स्य ४, ५४	मातंग (चण्डाल)	१८०
मथुरा १३, ३८, ९०, ३०१, ३०२, ३०६	माहिष्मती	६५
मद्र ४ (मद्रदेश) ९, १५२	मिगारमाता (विशाखा)	८२, १७६, १८४, २००
मध्यदेश ३, २२, ३०४	मिथिला	४९, ५५, ६३, ६४, १५०, १५१, २९७, ३०६
मनसाकट (ब्राह्मण ग्राम) ३०, २११	मेतलुम्प (मेदलुम्प, उलुम्प)	९०, १०३, ११२, १३२, ३०३
मनोज १०६	मोगलिपुत्तत्तिस्स	७
मल्ल २, ३, १०, १७, २९, ४१, ४४, ४८, ५५-५७, ७८, ८०, १००, १०७, ११३, ११४, ११९, १२०, १२४, १२९, १३६, १३७, १३९, १४०, १४१-१४३, १४७, १४८, १५२, १५४, २०८, २०९, २४६, २७२	मोरिय	५९, ८१, १००, ११९, १२९, १३७, १४१, १४२, १४६, १४८, १४९
मल्लिका १०४, १३१, १४०, १९१, १९७, २३६, २६४	य	
मृगधर १२४	यष्टिवन	४४
मृगार (सेठ) १७६, २५६, ३०९	यमुना	३२, ३८, ६१, ६९
मंतिदत्त १०१, ११०, १२४	र	
महाकश्यप ६५	राजगृह	२, ६, १३, ३६, ३९, ४१-४४, ४७, ४९, ५२, ६१, ६४, ६५, ६७, ६८, ७५, ७६, ८२, ८३, ८५, ८६, ८९, ९०, ११०, ११३, ११६, ११९, १३८, १४५, १४६, १४७, १४८, २०३, २०५, २२२, २४६, २९७, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०९, ३११
महाकोसल ९७, ९८, १०१, १०७, १०९, २२६	राजिकाराम	१०३
महाकोसला ९८, १०१, १०२, १०७, १०९, १११, २३५		
महागोविन्द ६२, ६३, १५०, १९५, २११		
महानाम १३१, १३३, १३४, १३५, १९०, १९८, २२५		
महाप्रजापति १५३		
महामाया १५३ (माया) २४३		
महामौद्गल्यायन ४२, (मोगलान) ८७		
महालि ९७, १३७		

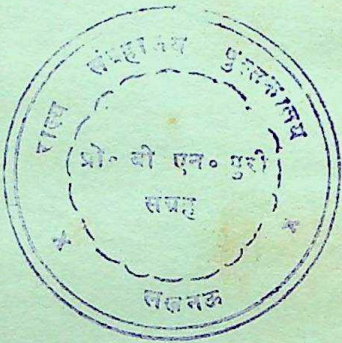
रामग्राम २२, ३६, ५८, ८१, १००, ११९, १२९, १३१, १४१, १४२, १४३	वामदेव (ऋषि) २६७
रेवत ३०२	वाणिज्यग्राम १५०
रोहिणी २५, ३५, ५८, ५९, ८०, १४६, २७५	वाराणसी २, १३, ३३, ४८, ५०, ५२, ५५, ६१, ६७, ७०, ७१, ७२, ७९, ८२, ९०, १०४, १०५, ११६, १२३, १३८, १४४, २०३, २०५, २१३, २३०, २३१, २४५, २४६, २७८, ३०२, ३०४, ३०६, ३०९
ल	
लव ९७	वासभक्तिया ९९, १००, १३२, १३४, १९०, १९८, २२५
लट्टिवन ४२	वासभगाम ४९
लिच्छवि १७, २९, ३०, ५२, ५३, ५५, १००, ११२, ११३, ११४, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १४१, १४२, १४६, १५०, १५२, १५३-१५७, १९०, १९२, २३०, २५५, ३०५	वासुलदत्ता (वासवदत्ता) ११७, १९२, १९७
लुम्बिनी २, ३८, ४३, ५८, ९२	विदिशा ५४, ६५, ६७, ३०३
लोहिच्च (ब्राह्मण) ९३, १०३, २११	विडूडभ २४, ९१, ९७-९९, १००, १०२, १०४, ११२, १३३, १३४, १३५, १३६, १४६, १४७, १४८, १६०, १८७
व	
वज्जि २, ३३, ४४, ४८, ५५-५७, ७६, ९०, ९२, १२४, १३६, १३७, १४७, १५०, १५२, १५६	विदेह २२, २८, २९, ३०, ३७, ५०, ५२, ५३, ५५, ६३, ९६, ९७, १०५, १०६, ११७, १२०, १५०
वत्स २२, २९, ४८, ४९, (वंस) ५४, ५५, ५९, ९६, १०५, १०६, ११४, ११७, १२०, १५०	विहल ११२
वशिष्ठ (ऋषि) २६७	विश्वामित्र (ऋषि) २६७
वनसह्य ६५, ६७, ३०३	विशाखा ८२, १७६, (मिगारमाता) १८४, २००
वरुणा १०४	
वस्सकार ११३, ११४, १२४, १५५	वेणुवन ४५
वंकाहार = वंगाहार (जनपद) ५३, ६०	वेतरणी ३७
वंग ३, ४	वेनागपुर ५२
वाजिरा १०२, १११	वेभार (पर्वत) ४७
वामक (ऋषि) २६७	वेरञ्जा २२, ९०

वेलुद्वार	५२	३०३, ३०४, ३०५, ३०८,	
वेलुवग्राम	५६	३०९, ३१०	
वैपुल्ल (पर्वत)	४७	शिवि	१९०
वैशाली २, ७, २२, २५, ४०, ४१,		शीतवन	४३
४३, ४९, ५६, ६०, ६१, ६३,		श्रीवर्द्ध (सिरिवर्द्ध)	१२४
६५, ६७, ७०, ७२, ७३, ७६,		शुद्धोदन	१३०, १३२, १३५, १५३
८३, ८४, ८७, ९३, ११०,		शुभा	४१, २१४
११६, १२९, १३१, १३७,		शूरसेन	४, ५४
१३८, १४१, १४२, १५७,		श्रेणिय (श्रेणिक)	१०८
१८९, २४६, २९७, ३०३,		स	
३०४, ३०५,		सक्कर	१३२
श		सरवण (गोसाल का जन्मस्थान)	२६०
शतानीक	११७	सच्चक	२५६
शाक्य २, १७, २५, २९, ३१, ३६,		सदानोरा	२८, ३७, ५०, ५५, ५७
५०, ५७-५९, ७९, ९७, १००,		सप्तपर्णी (गुहा)	४७
११९, १२९, १३०, १३२,		सप्पिणी ६५, (सप्पिणी)	८५
१३३, १३४, १३५, १३६,		सरभू (सरयू) २४, ३२, ३३, ३६,	
१३७, १४२, १४३, १४४,		७३, ३०४	
१४६, १४७, १४८, १६०,		सल्लवती	२२
१६४, १६५, १७४, १८७,		सहजाति	६१, ११६, ३०२
१८९, १९०, १९८, २४६,		संकाश्य ७, १३, ३३, ३०२, ३०३	
२७५,		संजय वेलट्ठिपुत्त	२६३
शालवन ४४ (शाकवन) १३०, १३१,		संसुमारगिरि २२, ४५, ५४, ५९, ६०,	
श्रावस्त	६६	८३, ११८, ११९, १२०, १२९,	
श्रावस्ती २, ३, १३, २२, ३०, ३१,		१४८-१५०, ३०२	
४१, ४२, ४५, ४९, ५०, ५२,		साकल	३०२
५५, ६०, ६१, ६२, ६६-७०;		साकेत ७, १३, ३३, ४२, ४५, ४९,	
७२, ७३, ७५, ८२, ८४, ८७-		५२, ५५, ६१, ६५, ६७,	
९०, ९२, ९७, ९८, ११६,		६८, ६९, ७३, ९६, १७६,	
११९, १२६, १३८, १५०,		२०२, ३०१. ३०३, ३०९	
१७७, २०३, २२५, २४२,		सामग्राम	९४, १३२
२४३, २४६, २५६, २६०,		सारनाथ	२, ७६
२६४, २९७, ३०१, ३०२,		सारिपुत्र	३८

३३६

प्राचीन पूर्वोत्तर भारत

सालवती (गणिका)	२०४	सेल (ब्राह्मण)	१६७
सालवतिका	५२, ९३, १०३, १३२	सोरेय्य	३०२
साला ५२, (शाला)	९४	सोणदण्ड (ब्राह्मण)	१६८, १७१, २११
सालिन्दिय	२४, ९३, २७८	सोणकोटिविश	६३, १७६, ३०९
सिद्धार्थ (ज्ञात्रिक गणमुख्य)	१५२	ह	
सिसपावन	४३	हल	११६
सिहल	८, ३०६	हत्थिग्राम	४४, ५६, ८४, १३८, ३०५
सीह सेनापति	२५६	हर्यकवंश	१०८, ११०
सुजाता	२६९, २७८	हस्तिनापुर	११७
मुप्पारक	६७, ३०३	हलिद्वसन (हरिद्वसन)	९४, १४५
सुमागधा	३९	हिमवा (हिमवन्त)	४६
सुन्दरिका (स्यन्दिका)	३७, ५२	हिरण्यपर्वत	१०७
सुन्दरिक भारद्वाज	३७, २६८	हिरण्यनाभ	९७
सुन्दरी (गणिका)	२६५	हिरण्यवती (अजितवती)	३३, ४४, ७८, १४२
सुनीघ	११३, १२४, १५५	क्ष	
मुनेत (ब्राह्मण)	१६७	क्षेमा	१०९
सुवर्णभूमि	६२, ९०	त्र	
सेतकण्ठिक	३	त्रिशला	१५२
सेतव्या ४४, ५२, ६७, ८२, ८३,	३०३, ३०४	ज्ञ	
सेनानिगाम (निगम)	५४, ९३, १०९, २४५	ज्ञात्रिक	५५, १३७, १५०, १५१



“पुस्तक की पूरी स्रोतसामग्री के उपयोग में लेखिका ने अत्यन्त परिश्रम और पूरी सावधानी के साथ बराबर एक समालोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है और अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया है। सुत्तपिटक में वर्णित पूर्वोत्तर भारत के लोगों के जीवन पर यह रचना बहुत कुछ नया प्रकाश डालती है।”

चन्द्रिकासिंह, उपासक, भूतपूर्व
निदेशक, नवनालंदा महाविहार,
नालंदा

“प्रस्तुत कृति एक सीमित क्षेत्र (मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा प्रायः संपूर्ण बिहार) का एक गहन अध्ययन उपस्थित करती है। संबद्ध स्रोत सुत्त-पिटक का काल ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० के बीच रखा जा सकता है। जीवन के विविध पक्षों पर इस स्रोत सामग्री का विवेकपूर्ण विवेचन उपस्थित करते हुए लेखिका ने अपने अध्ययन को सभी प्रकार की पूर्णता प्रदान करने में सफलता पायी है। उसने पूर्व के विद्वानों के मतों को स्पष्टतापूर्वक उपस्थित करते हुए अनेक पहलुओं पर एक निजी दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है / अपनी समीक्षा और विद्वत्तापूर्ण निष्कर्षों की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ समादरणीय है।”

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर

